यापनीय और उनका साहित्य

श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन

ग्रन्थमाला सम्पादक व नियामक
डॉ दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य
सेवा-निवृत्त रीडर जैन-बौद्धदर्शन प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान सकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी–५

●

यापनीय और उनका साहित्य

●

लेखिका
श्रीमती डॉ कुसुम पटोरिया

●

ट्रस्ट-संस्थापक
आचार्य जुगल किशोर मुख्तार युगवीर

●

प्रकाशक
मत्री वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट
प्राप्ति-स्थान
व्यवस्थापक
वीर-सेवा मन्दिर-ट्रस्ट
बी ३२/१३ बी नरिया
का हि वि वाराणसी ५

●

प्रथम संस्करण ५
१९८८

●

मूल्य चालीस रुपए

●

मुद्रक
बाबलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलपुर वाराणसी

प्रकाशकीय

यापनीय और उनका साहित्य कृतिका प्रकाशन करते हुए हमें हर्ष है। कई वर्ष पूर्व इसके प्रकाशनकी चर्चा आयी थी। पर हमने इसे न देखा था और न पढ़ा था। जब मेरे पास यह ग्रन्थ आया तब हम बहुत व्यस्त थे तथा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था। अत हम इसे आद्योपान्त पढ़ नही सके और लेखिकाको लौटा दिया। यह पाँच-छह वर्ष पहलेकी बात है। इसके बाद पुन चर्चा आयी तो हमने उसे मँगाकर मनोयोगपूर्वक आद्योपान्त पढ़ा और लगा कि इसका प्रकाशन अवश्य होना चाहिए। इसके प्रकाशनसे इस विलुप्त परम्पराके जो डेढ़ हजार वर्ष तक विद्यमान रही सम्बन्धमे विद्वानोंको प्रचुर जानकारियाँ मिलेंगी। तथा अनुसंधान करने वालोंके लिए विपुल सामग्री उपलब्ध होगी। वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट और उसके सस्थापक स्व आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारको ऐसे शोध-खोजके कार्योंके प्रति सदा रुचि रही और जीवनभर उसीमें वे डूबे रहे। आज वे होते तो वे इसकी लेखिका श्रीमती डॉ कुसुम पटोरियाको अवश्य प्रोत्साहित करते हुए आशीर्वाद देते।

नि सन्देह डॉ पटोरियाने इसमें बडा परिश्रम किया है और कहाँ-कहाँसे उन्होने सामग्री एकत्रित की है। इसके लिए उन्हें यात्राए करना पडी हैं। यापनीयोंके मुख्य उद्भव स्थान कर्नाटक भी जाना पडा है। यह भी सच है कि स्व पं नाथूराम प्रेमी और डा ए एन उपाध्येने इनके मार्गको प्रशस्त किया है। श्रीमती पटोरियाने जो तथ्य और निष्कर्ष निकाले हैं व यद्यपि उत्तेजक एव समीक्षा-योग्य हो सकते हैं। किन्तु वे विद्वानोंके लिए विचारणीय अवश्य हैं। और हम कहेंगे कि विद्वानोंको उन पर अवश्य विचार करना चाहिए। यह तथ्य तो सभीको स्वीकार्य होगा कि दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो जन धाराओको जोडनेवाली यह धारा रही है जिसे यापनीय कहा जाता था जिसके अन्दर भी काष्ठा माथुर आदि कई छोटी छोटी धाराए अपने अपने क्षेत्रम बह निकली हैं। यापनीय कठोर तपस्वी जिनधर्म प्रभावनामें तत्पर और साहित्य-सजक रहे हैं। जब उनके कई विचारो तथा आचारोंका दिगम्बरो और श्वेताम्बरो द्वारा विरोध होने लगा तो उन्ह इन दोनोंम खासकर दिगम्बरोम मिल जाना पडा। उनका साहित्य मूर्तियाँ मन्दिर आदि भी उन्हीम समाहित हो गये। आ कुन्दकुन्दके नामपर बने मूल सघसे उन्हें सम्भवत सामना करना पडा। मूल संघका निर्माण उनके बढ़ते हुए शिथिलाचारको रोकनेके लिए आवश्यक था। बौद्धोंमें जब शिथिला चारकी पराकाष्ठा हो गयी तो उसे जन्म स्थान छोडकर बाहर जाना पडा। शायद यही स्थिति यापनीयोंकी रही होगी। पर उनके सगठन और प्रभावको भुलाया नही जा सकता

इस दिशामें श्रीमती डॉ कुसुम पटोरियाका प्रयास निश्चय ही श्लाघ्य है। हमें खुशी है कि वे नागपुर विश्वविद्यालयमें संस्कृत विभागमें व्याख्याता होती हुई भी संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश हिन्दी और मराठी भाषाओंकी विशेषज्ञ हैं तथा साहित्य सृजनमें संलग्न हैं। हम उन्हें इस महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान-कृति यापनीय और उनका साहित्य को प्रस्तुत करनेके लिए हार्दिक बधाई एवं धन्यवाद देते हैं।

ट्रस्टके सभी सदस्यगण भी धन्यवादार्ह हैं जिनका सहयोग हमें सदा मिलता रहता है। इस अवसरपर हम अपने अनन्यमित्र स्व श्री मौजीलालजीके सुयोग्य पुत्र प्रिय जयप्रकाश एव उनके परिवारको नही भूल सकते जिन्होने हमारे वाराणसी प्रवासमे हमें सभी सुविधाए प्रदान की और इस ग्रन्थके प्रकाशनमें सक्षम हो सके।

प्रिय बाबूलालजी फागुल्ल मालिक महावीर प्रसको हमारा हृदयसे धन्यवाद है जिन्होने बडी तत्परताम एक-सवामाहमें इस ग्रन्थको छापकर दे दिया। प्रिय श्रीलालजी जैन व्यवस्थापक वीर सेवामन्दिर ट्रस्टने प्रूफ सशोधन आदिमें लगनके साथ सहयोग किया उसके लिए उन्हें धन्यवाद है।

४ भोगावीर कालौनी
लका वाराणसी ५
१८ १२ १९८८

डॉ० दरबारीलाल कोठिया
मानद मंत्री

निवेदन

यापनीय संघ जो कि जैन परम्पराकी तीसरी मध्यमार्गी धारा थी। उसका आज अस्तित्व लुप्त हो चुका है। उसका नाम भी जन समाजके स्मृतिपटलसे मिट चुका था। ऐसी स्थितिमें इस सम्प्रदायके परिचयको पुन प्रकाशमें लानेका श्रेय दो मूर्धन्य विद्वानों स्व पं नाथूराम प्रेमी व स्व डॉ आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येको है। इस विषयमें इन दोनों विद्वानोंके कतिपय महत्त्वपूर्ण शोध निबन्ध प्रकाशमें आये हैं जिनसे प्रेरणा पाकर मेरे मनमें यापनीयोंके सम्बन्धमे अधिक जाननेकी उत्सुकता व इस विषय पर कार्य करनेकी इच्छा जागृत हुई। श्रद्धेय डॉ भागचन्द्र जैन (विभागाध्यक्ष पालि-प्राकृत विभाग ना वि वि नागपुर) ने इसके लिए प्रोत्साहित किया। तदर्थ मैं उनकी हृदयसे ऋणी हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशामें प्रयासकी परिणति है।

विषयकी गहनताके कारण प्रबन्ध-लेखनकी अवधिमें अनेक बार निराशा ही हाथ लगी। इस निराशाजनक स्थितिसे उबारा स्नेहमूर्ति डॉ द बारीलाल कोठियाने। वार्द्धक्य और अस्वस्थताके उपरान्त भी जिस तत्परतासे वे मेरा मार्गदर्शन करते रहे, उसके लिए कृतज्ञता और आभार प्रदर्शनके लिए मेरे शब्द असमर्थ हैं। वैसे आजीवन उनकी ऋणी रहना ही मेरे लिए सुखद भी है। उन्होंने ग्रन्थको अपने आशीर्वचनोंसे अलंकृत करनेकी कृपा की है।

प्रस्तुत प्रबन्ध छह परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें भ पार्श्वनाथकी परम्परासे लेकर भद्रबाहुस्वामी तककी परिस्थितियोंका विश्लेषण करते हुए यापनीयों के प्रादुर्भावकी पृष्ठभूमिपर विचार किया है। द्वितीय परिच्छेदमें अन्य दिगम्बर संघोंका विवरण देते हुए यापनीयोसे उनके सम्बन्ध तथा यापनीयोकी उन संघोंमें विलीनीकरणकी प्रक्रियापर विचार किया गया है। तृतीय परिच्छेदमें परम्पराकी दृष्टिसे विवादास्पद ग्रन्थोंकी परम्पराको निर्धारित करनेका प्रयास है।

यापनीय ग्रन्थकार उदारचेता व साम्प्रदायिक अभिनिवेशसे रहित रहे हैं इसलिए इन्होंने प्रत्यक्ष रूपमें ऐसे कोई संकेत नही छोडे हैं जिनसे कि किसी निष्कर्ष पर आसानीसे पहुँचा जा सके। ये ग्रन्थकार प्राय अपने सम्प्रदायके उल्लेखसे भी दूर रहे हैं। प्रतिकूल विचारधाराके खण्डनमें भी इन्होंने रुचि नहीं ली है। यही कारण है कि इनका साहित्य सरलतासे दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें अन्तर्भुक्त हो सका है। साथ ही दूसरी परम्परामें अन्तर्भुक्त होने पर इस साहित्यने अनेक प्रक्षेपणोंको सहा है इसके प्रमाण हैं। प कैलाशचन्द्र शास्त्रीने वर्तमान भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीकामें अनेक अन्तरोंका उल्लेख किया है।

यापनीयोंकी तटस्थवृत्तिके अतिरिक्त दिगम्बर-श्वेताम्बरोंकी उपेक्षा भी इनके साहित्यके कालकवलित होनेका कारण है। यापनीयतन्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथकी अनुपलब्धि इसका प्रमाण है जो कि यापनीयोंके सिद्धान्तोंको समझने में प्रामाणिक साधन हो सकता था। आचार्य हरिभद्रसूरिकी कृपासे इस ग्रन्थका नाम सुरक्षित रह गया है।

उपर्युक्त कारणोंसे तथ्योंकी उपलब्धि कष्टप्रद सिद्ध हुई है। यापनीयोंसे सम्बद्ध शिलालेख भी इनके सम्बन्धम विशेष जानकारी देनेम सहायक सिद्ध नही हुए हैं। फिर भी हमने चार वर्षोंके अथक प्रयत्नसे यापनीयोके सम्बन्धमें अधिकाधिक ज्ञातव्य सामग्री एकत्रित करनका भरसक प्रयास किया है। तथ्योकी विवेचनामें अनाग्रही निष्पक्ष दृष्टि रखनेका प्रयत्न किया है।

तृतीय परिच्छेदमे निर्धारित यापनीय साहित्यके आधार पर चतुर्थ परिच्छेदमें यापनीयोंके सिद्धान्त तथा पचम परिच्छदम उनकी आचार-सहिताका उल्लेख किया है। अन्तिम छठे परिच्छेदमें उनके प्रदेयका विचार है।

यापनीयोंकी कार्यस्थली कर्नाटक रही ह इसलिए हमने लब्धप्रतिष्ठ कन्नड विद्वानोंसे परामर्श किया। मडबिद्री और जनबिद्री (श्रवणवेलगोल) की यात्रा कर पण्डिताचार्यवर्य चारुकीर्ति भट्टारकद्वय प शिशुपाल शास्त्री स्व पं के भुजबली शास्त्री आदिसे प्रत्यक्ष चर्चा की और जानना चाहा कि जैन कन्नड साहित्य अथवा कन्नड लिपिमें लिखित सस्कृत प्राकृत साहित्यम सम्भवत यापनीयोके विषयमें दुर्लभ जानकारियाँ संग्रहीत हो। मूडबिद्रीम श्रीमती प्रेमवती जैनने कुछ जन कन्नड ग्रथोकी भमिका व प्रशस्तियोके हिन्दी अनवा भी मेरे लिये किय परन्तु अपेक्षित सफलता हाथ नही लगी। कन्नडभाषी सस्कृत प्राकृतके विद्वान यदि इस दिशामे प्रयत्न करें तो शायद कुछ नये तथ्य प्राप्त हो सकें। इन सभी विद्वानोकी सहज आत्मीयताके लिए मैं उनकी आभारी हूँ जिन्होंने मेरे प्रवासके दौरान मेरे अध्ययनमे हर सम्भव सहायता की।

स्व डॉ आ न उपाध्ये स्व नाथूराम प्रेमी स्व प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री स्व डॉ हीरालाल जन प फूलचन्द्रजी शास्त्री डॉ हरीन्द्रभूषण जैन आदि विद्वानोको मं हृदयसे आभारी हूँ जिन्होने अपने ग्रन्थों ग्रन्थोकी भूमिकाओ पत्राचार अथवा सम्मुखचर्चाके रूपसे परोक्ष-अपरोक्ष रूपसे मेरी सहायता की है। इनके अतिरिक्त उन सब अनेक विद्वानो और ग्रन्थपालोकी मैं कृतज्ञ हूँ जो मेरे प्रबन्ध-लेखनमे सहयोगी हुए हैं।

प्रबन्धकी पूर्तिका अधिकांश श्रेय मेरे उन आत्मीयजनोको है जो इसको शीघ्रा

शीघ्र पूर्ण होकर पुस्तक रूपमें देखनेके लिए मुझसे भी अधिक लालायित थे उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मात्र औपचारिकता होगी परन्तु उनका अनुल्लेख अनुचित होगा। अम्माँ (श्रीमती मंजरी देवी जैन) जिन्होंने न केवल पढ़ने-लिखनेके संस्कार दिये अपितु जीवनमें खूब पढ़नेका ढेर-सा आशीष दिया बाबूजी (श्री नमीचन्द्र जैन) जिन्होंने संस्कृत प्राकृत तथा जैन दर्शनके अध्ययनके प्रति अभिरुचि जगाई जिसके फलस्वरूप मैंने पहला शोध प्रबन्ध प्राकृत कथाकाव्यों पर लिखा। पतिदेव श्री राजेन्द्र पटोरिया जिन्होंने अध्ययनकी रुचिको न केवल जागृत रखा अपितु निरन्तर प्रोत्साहित किया। इस दूसरे प्रबन्धकी कल्पनाका श्रेय उन्हींको है। उनके हार्दिक सहयोगके बिना प्रबन्धका न आरम्भ सम्भव था और न अन्त। उनके सहयोगके बिना अध्ययन-यात्राएं भी सम्भव नहीं थी। परिजनोंकी इस कड़ीमें मातृस्वरूपा सासजी श्रीमती ताराबाई पटोरियाका उल्लेख आवश्यक है जिन्होंने अनेक कष्ट उठाकर अनकूल वातावरण प्रदान किया।

वीर-सेवा-मंदिर ट्रस्ट बनारसको मैं अत्यंत आभारी हूँ जिसने मेरे श्रमको पुस्तकाकार देकर सफल बनाया। इसे पुस्तकका रूप देनेके लिय श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल सञ्चालक महावीर प्रेस भेलपुर वाराणसी धन्यवादके पात्र हैं।

हमारा प्रयास तथा परिश्रम कहाँ तक सफल हुआ इसके परीक्षक सुधी पाठक ही हैं। उनकी प्रतिक्रियाओंकी प्रतीक्षा रहेगी। अन्तमें पउमचरिउकारके शब्दोंमें मेरा नम्र निवेदन है—

ऊणं अइरित्त वा जं एत्थ कय पमायदोसेण।
तं मे पडिपूरेउं खमन्तु, इह पडिया सव्वं॥

अर्थात् प्रमादवश मैंने जो कुछ न्यून या अतिरिक्त लिख दिया हो पण्डितजन उसे सुधारकर क्षमा करें।

आजाद चौक सदर
नागपुर–४४ १ (महा)
११ दिसम्बर १९८८

कुसुम पटोरिया
(डॉ श्रीमती कुसुम पटोरिया)

विषयानुक्रमणिका

तृतीय परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

प्रथम परिच्छेद

जैन परम्पराकी विलुप्त तृतीय शाखा

यापनीय और उसका उदय

जैन परम्परा की तृतीय शाखा 'यापनीय' और उसका उदय

सुदूर अतीतकालमे मानवताको शीतलता प्रदान करनेवाली एव शिवसौख्यदात्री निर्ग्रन्थ सरिता अनवरत प्रवाहित रही है। इस युगके आरम्भमें सभ्यता और सस्कृतिके साथ इस सरिताका सुखद प्रवाह तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा आरम्भ हुआ जो कालके थपेडोकी चोट खाता हुआ निरन्तर प्रवाहमान रहा और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर तक चला आया। यह निर्ग्रन्थ संस्कृति कभी लुप्त भी हुई तो पुन अपने समग्र प्रभावको लेकर उदित भी हुई।

पर महावीरके पश्चात् कालान्तरमे निर्ग्रन्थसरिता दो धाराओंमें विभक्त हो गई—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। इन दोनो धाराओंको जोडने हेतु एक मध्यम मार्गके निर्माणका जिसे यापनीय कहा गया प्रयास किया गया। यह नया प्रयास इन दोनो धाराओमें फासला न होने पाये और वे अपने एक निग्रन्थ रूपमें बनी रहें इसके लिए इसने सक्षम प्रयास किया होगा। परन्तु यह मध्यम मार्ग जोडनेके कार्यमें उतना सफल नही हो सका और एक तीसरी धाराके रूपम ही उसने अस्तित्व लिया।

यहाँ जैन परम्पराकी इसी तीसरी धारा यापनीयके सम्बन्धमे विस्तृत ऊहापोह किया जावेगा। साहित्यिक शिलालेखीय मूर्तिलेखीय व अन्यस्रोतीय प्रमाणोके प्रकाश म हम देखनेका प्रयास करगे कि जैन परम्पराका यह तृतीय शाखा किस प्रकार उद्भूत हुई और एक समय तक वह विकसित होती गई—उसके अनुयायी उसका प्रभाव तथा उसका साहित्य वृद्धिगत होता गया एव मूर्तियोकी प्रतिष्ठा मन्दिरोका निर्माण और जैनधर्मकी प्रभावनाके उत्सव आदि कार्य इसके द्वारा होते गय। और हम यह भी देखगे कि वह किस प्रकार लुप्त हो गई या उक्त दोनो धाराओंम वह विलीन हो गई।

इतिहास और पुरातत्वविद् प नाथूराम प्रेमीने लिखा है—कि जैन धर्मके मुख्य दो सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन दोनोंके अनुयायी लाखों हैं और साहित्य भी विपुल है इसलिए इनके मतभेदोंसे साधारणत सभी परिचित हैं परन्तु इस बातका बहुत ही कम लोगो को पता है कि इन दोके अतिरिक्त एक तीसरा सम्प्रदाय भी था जिसे यापनीय' आपुलीय या गोप्य सघ कहते थ और जिसका इस समय एक भी अनुयायी नही है।

---

१ यापनीयों का साहित्य' शीर्षक निबन्ध अनेकात १९३९ और अब 'जैन साहित्य और इतिहास' द्वितीय संस्करण १९५६ पृ ५६।

२ यापनीय और उनका साहित्य

श्री प्रेमीजीने यह भी लिखा है कि यापनीय सघके साहित्यसे जैन धर्मका तुलनात्मक अध्ययन करने वालोको बडी सहायता मिलेगी। दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेदोंके मूलका पता लगानेके लिए यह दोनोके बीचका और दोनोको परस्पर जोडने वाला साहित्य है और इसके प्रकाशमे आये बिना जैनधर्मका प्रारम्भिक इतिहास एक तरहसे अपूर्ण ही रहेगा।[1]

जैन परम्परामे मतभेदका बीजारोपण कब हुआ इस सम्बन्धमे मतभेद हैं। डॉ उपाध्ये और श्रीमती स्टिवेन्सन भगवान पार्श्वनाथ और महावीरके शिष्योके मतभेदोसे जैन परम्परामे स प्रदाय भेद मानते हैं।

डॉ उपाध्येका विचार

डॉ उपाध्येका विचार है कि निगण्ठनातपुत्त या महावीरने जिस धार्मिक और श्रमण-सघका नेतृत्व किया था वह उनसे पूर्व पार्श्वप्रभ द्वारा सस्थापित था और इसीलिए भ महावीरको पासावच्चिज्ज कहा जाता था अर्थात वे पार्श्वप्रभ द्वारा संस्थापित धमके अनुसर्ता थे। पर वे यह भी मानते हैं कि उत्तराध्ययनके तइसव अध्ययनमें स्पष्ट उल्लेख है कि पार्श्वप्रभ और भ महावीरके शिष्य परस्पर मिलकर अपने श्रमण आचारोके विभिन्न विवादोको सुलझानेका प्रयास करते हैं। यही वे विवाद हैं जिन्होंने आगे चलकर जैन परम्परामें कई वर्ग धमभेद या सप्रदाय पैदा कर दिये।[2]

श्रीमती स्टिवेन्सनका मत

श्रीमती सिंक्लियर स्टिवेन्सनने लिखा है कि— सभावना है कि जैन समाजमे सदासे दो पक्ष रहे हैं एक वृद्धो और कमजोरोका जो पार्श्वनाथके समयसे ही वस्त्र धारण करते आ रहे हैं और जिसे स्थविरकल्प कहते हैं। यह श्वेताम्बर सम्प्रदायका पूर्वज है। दूसरा पक्ष जिनकल्प है जो नियमोका अक्षरश पालन करता था जैसा कि महावीरने किया था। यह पक्ष दिगम्बरोका अग्रज था।[3]

---

१ वही पृ ५८।

२ जैन सम्प्रदायके यापनीय सघ पर कुछ और प्रकाश अनेकात (त्रमासिक) वीर निर्वाण विशेषांक १९७५ प २४४।

३ द हार्ट ऑफ जैनिज्म मुंशीराम मनोहरलाल नई दिल्ली (भारतीय सस्करण) १९७ प ७९—

The Probalıty ıs that there a d always been to partıes ın the Communıty the older and weakes sectıon who wore clothes and dated from Parshvanathas t me and who were

समीक्षात्मक विमर्श

उपर्युक्त कथनोंसे ज्ञात पड़ता है कि डॉ उपाध्ये यापनीयोंका सम्बन्ध पार्श्व परम्परासे मानते हुए प्रतीत होते हैं और श्रीमती स्टिवन्सन वस्त्रधारी मुनियों (श्वेताम्बरों) का सम्बन्ध भी पार्श्व-परम्परासे ही स्वीकार करती हैं। पर ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर दिगम्बर और यापनीय तीनों ही परम्पराएँ भगवान महावीरको अपना आराध्य मानती हैं तथा तीनोंकी मान्यताके अनुसार उनका विद्यमान आगम साहित्य भी भगवान महावीरकी परम्पराका साहित्य है। किसी भी परम्पराने अपनेको पार्श्वप्रभुसे सम्बद्ध नहीं बतलाया। यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

पार्श्वनाथकी परम्परा

श्वेताताम्बर परम्परा द्वारा सकलित आगम-साहित्यसे पार्श्वनाथके धर्म तथा अनुयायिओंके विषयमें महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। भगवान महावीरके जीवनकालमें पार्श्वनाथके अनुयायी विद्यमान थे जिन्हें पार्श्वापत्यीय कहा गया है।[1] भगवान महावीरके माता पिता भी पासावच्चिज्ज कहे गये हैं।[2] उत्तराध्ययनके केशी-गौतम संवादसे भी स्पष्ट है कि भगवान महावीरके समयमें पार्श्वनाथके अनुयायी श्रमणसंघ विद्यमान थे।[3]

पार्श्वनाथके अनुयायिओंके लिए पासत्थ शब्दका प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ कालान्तरमें शिथिलाचारी साधु हो गया। भगवती आराधनामें लाखों पार्श्वस्थ साधुओंसे एक सुशील साधुको श्रेष्ठ कहा गया है जिसका आश्रय लेनेसे ज्ञान दर्शन चारित्र और शील बढ़ते हैं।[4] यही पार्श्वस्थ मुनिको विषयासक्त कषायपूर्ण अभिमानी

---

called the sthavırakalpa and the J nkalpa or purıtans who kept the extreme letter of laws as Mahavır had don and who are the forusnners of the Dıgambaras

१ (क) सूत्रकृताङ्ग २/७ (ख) भगवतीसूत्र १/९ (ग) स्थानाङ्ग ९ (घ) भगवती सूत्र १५।

२ आचारांग २/१५/१५ महावीरस्स अम्मा पियरो पासावच्चिज्जा

३ उत्तराध्ययन २३वाँ अध्ययन।

४ भगवती आराधना गाथा ३५४।

पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वर खु एक्को वि।
जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति॥

चरित्रहीन और निधर्मी कहा गया है। मूलाचारमें भी पार्श्वस्थ साधुको अवंदनीय कहा गया है।[२]

सूत्रकृताङ्गमें पार्श्वस्थ मुनियोंको अनार्य स्त्री-आसक्त मूर्ख और जिनशासन-पराङ्मुख कहा गया है। वे स्त्रीसेवनमें भी कोई दोष नहीं देखते।[३] व्यवहारसूत्रमें पार्श्वस्थ साधुओंके प्रति अनादर व्यक्त किया गया है।[४]

भावपाहुडमे आचार्य कुन्दकुन्द भी 'पासत्थभावणा' से दुःख-प्राप्ति बताते हैं।

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणयवाराओ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥१४॥

पार्श्वस्थ साधओंके प्रति इस अनादरका कारण है कि भगवान महावीरके समय तक इन साधओंमें शिथिलाचारिता आ गई थी। उत्तराध्ययन और भगवतीसूत्रके उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि भगवान महावीरके धर्मसंघकी स्थापना हो जाने पर भी पार्श्वस्थ साधुओंके अपने पृथक संघ थे। भगवतीसूत्रमें कालासवेसियपुत्त तथा गांगेय नामक पार्श्वापत्यीय साधओंका वर्णन मिलता है। इसके अनुसार कालासवेसियपुत्तने महावीरसंघीय स्थविरसे कई प्रश्न किये। अन्तमें नमस्कार कर कहा कि भगवन्! ज्ञानके साधनोंके अभावमें मैंने अदृष्ट अश्रुत अविज्ञात अव्याकृत अव्युच्छिन्न और अनवधारित पदोंका श्रद्धान नहीं किया। मैं आपके पाससे चातुर्याम धर्मसे सप्रतिक्रमण पञ्च महाव्रत धारण करना चाहता हूं।

इससे ज्ञात होता है कि परम्परागत ज्ञानके साधनोंके अभावमें पार्श्वापत्यीय साधु पार्श्वनाथकी परम्पराको भूल चुके थे। अधिकांश साधु शिथिलाचारी तथा ज्ञानहीन हो गये थे। भगवान महावीरके सुदृढ़ चारित्रवान तथा अतिशय ज्ञानी साधुओंके समक्ष समाजमें इनका आदर और प्रभाव भी कम हो गया था अतः अनेक पार्श्वस्थ साधु महावीरके संघमें दीक्षित हो गये थे। यहीं भगवतीसूत्रमें गांगेय नामक एक और पार्श्वापत्यीय साधुके भगवान महावीरसे प्रश्न पूछने और उन्हींके संघमें सम्मिलित हो जानेका उल्लेख है।[६]

---

१ वही गाथा १३।

२ मूलाचार ७/९५ ७।

३ सूत्रकृताङ्ग ३/४/६९ ७४।

४ व्यवहारसूत्र गाथा २३।

सेज्जायरकुलनिस्सिय ठवणकुलपलोयणा अभिहडेय।
पुव्विपच्छासथव निइअग्गपिंडभोइ पासत्थो ॥

५ भगवतीसूत्र शतक १ उद्देशक ९ सूत्र ७७।

६ वही शतक ९ उद्देशक ५ सूत्र ३७९।

यद्यपि केशी जैसे कतिपय पार्श्वापत्योय अपना पृथक अस्तित्व भी बनाये हुए थे।[1] इनके कुछ विशालसच थे जो बहुश्रुत भी थे। भगवतीसूत्रमें पाँचसौ साधुओंके बहुश्रुत पार्श्वापत्यीय साधुसंघका उल्लेख मिलता है।[2]

पार्श्वस्थ साधुओंमें शिथिलाचारका कारण यह था कि पार्श्वनाथका धर्म चातुर्याम धर्म था। अपरिग्रहमें गर्भित होनेसे उसमें ब्रह्मचर्यका पृथक निर्देश नहीं था। इस अनिर्देशसे उन साधुओंमें शिथिलाचारकी प्रवृत्ति चल पड़ी थी। भगवान महावीरने इसीलिए ब्रह्मचर्यका पृथक उल्लेख करके प्रतिपादन किया।[3] मूलाचार[4] उत्तराध्यनसूत्र तथा स्थानागसूत्रकी टीकामें[5] इसका कारण शिष्योंकी मनोवृत्ति बतलाया गया है। प्रथम तीर्थङ्करके शिष्य सरलस्वभावी तथा जड़बुद्धि थे अतः वे बार-बार समझाने पर भी शास्त्रका मम समझ नहीं पाते थ। अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य कुटिल और जड़मति थे। मध्यके तीर्थङ्करोंके शिष्य दृढ़बुद्धि एकाग्रमन तथा प्रज्ञापूर्वकारी थे। इसीलिए प्रथम और अंतिम तीर्थकरके धर्ममें प्रतिक्रमण अनिवार्य था जबकि बाईस तीर्थकरोंके शिष्य अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करते थे।

श्वे आगम-साहित्यके अनुसार तीर्थकरोंके धर्मम दूसरा अन्तर सचेलता और अचेलताका है। भगवान महावीरका धर्म अचेल और बाईस तीर्थकरोंका सचेल-अचेल दोनों प्रकारका है। उत्तराध्ययनके केशी-गौतम सूत्रमें पार्श्वनाथके धर्मको सान्तरोत्तर कहा गया है। आचारांगका टीकामें शीलाकने इसका अर्थ कभी धारण करे और कभी अपने पास रखे किया है।

---

१ उत्तराध्ययन २३ वाँ अध्ययन।

२ भगवतीसूत्र शतक २ उद्देशक ५ सूत्र १ ७।
तेण कालेणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो—बहुस्सुया बहुपरिवारा पचहिं अणगारसएहिं सद्धिं—।

३ उत्तराध्ययन २३/१२।
चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंच सिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी॥

४ मूलाचार ७।३७ ३८ १३२ १३३।

५ उत्तराध्ययन २३।२७ २८।

६ शीलाककृत टीका सूत्र २६६।

७ पंचाशक विवरण १२ निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित
आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं होई सचेलो अचेलो य॥

८ आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध विमोक्ष अध्ययन चतुर्थ उद्देशक सूत्र ५१।

भ पार्श्वनाथ और महावीरके धर्ममें उक्त अन्तर तथा पार्श्वस्थ साधुसंघोंके उल्लेखके उपरान्त भी यापनीय या श्वेताम्बर किसी भी सम्प्रदायका सीधा सम्बन्ध पार्श्वनाथकी परम्परासे नही माना जा सकता क्योंकि श्रमण-सघकी ये तीनों धाराएँ अपने आपको भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट आगमसे सम्बद्ध बताती हैं। प्रतीत होता है कि महावीरके सघके उदयके पश्चात पार्श्वनाथकी परम्पराके साधओंका स्वतत्र अस्तित्व अधिक काल तक नही टिक सका।

महावीरका सघ

उक्त विवेचनसे ज्ञात पडता है कि सम्प्रदायभेद महावीरके सघमे ही उत्पन्न मतभेदोका परिणाम है। अत इस दृष्टिसे यहाँ महावीरके सघकी स्थिति पर विचार करना आवश्यक है।

भगवान महावीरने जिस समय अपने धर्मसघकी स्थापना की थी उस समय अनेक धर्मसघ विद्यमान थे। वे सभी सघ शताब्दियो पूर्व ही नामशेष हो गये। श्रमणसघने भी धार्मिक विद्वेष भीषण दुर्भिक्ष राजनैतिक परिवर्तन जैसे घोर सकट झेले। जहाँ अन्य धर्मसघ विषम परिस्थितियोमे अपने अस्तित्वको खो बैठे वहाँ श्रमणसघ अपने व्यापक सिद्धान्तो और उदात्त आदर्शोके कारण आज भी सप्राण है। कालके प्रभावसे जैनधर्मकी अध्यात्मसहिता पूर्वापेक्षा परिक्षीण अवश्य हुई है पर उसके शिवसौख्यदाता मोक्षमार्गोपदेशरूप मूलस्वरूपमे कोई अन्तर नही आया है।

कालके आघातोंमे भी जैनसघके अब तक विद्यमान रहनेका कारण उसके अपने उदात्त सिद्धान्त है भगवान महावीरने अपना यह सघ दूरदृष्टिसे चतुर्विध सघके रूपमें स्थापित किया था। इस चतुर्मुखी सघव्यवस्थाने धर्मतीर्थकी वृद्धिमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

जैन श्रमणोके अपरिमेय आत्मबल तथा परीषहोको जीतनेकी असाधारण क्षमताने कठोर-से-कठोर परिस्थितियोमे संघको जीवित बनाये रखा है। जैन श्रमणोका लक्ष्य तप-त्यागसे परिपूर्ण साधना द्वारा अधिकाधिक आत्मबल अर्जित करना है। उनके शरीर जहाँ त्याग तपस्या व उपसर्ग और परीषहोको विजित करनेमे कठोर रहे हैं वहाँ उनके हृदय अहिंसा और विश्वबन्धुत्वकी भावनासे सरस और स्निग्ध रहे हैं।

महावीरका यह सघ कुछ काल बाद समयके प्रभाव व कतिपय सिद्धान्तोंमें मतभेद उत्पन्न हो जानेके कारण विभाजित हो गया।

महावीरके उपरान्त संघकी स्थिति

बौद्ध-साहित्यमें एक उल्लेख तीन स्थानों पर आया है। इसके अनुसार[१] पावाम निगण्ठनातपुत्त कालकवलित हो गये है। उनके दिवङ्गत होते ही निर्ग्रन्थ दो भागोंमें बट गये लडने लगे विवाद करने लगे। वचनोसे एक-दूसरे पर प्रहार करने लग। कहने लगे तू इस धर्मविनयको नही जानता। मिथ्याज्ञानी है। मैं सम्यक् प्रतिपन्न हूँ। मेरा कथन सार्थ है तेरा निरर्थक। तूने पहले कथनीय बात बादमें कही। बादमें कथनीय बात पहले कही। तेरा विवाद बिना विचारका है। तूने वाद आरंभ किया था पर निगृहीत हो गया। इस वादसे बचनेके लिए तू इधर-उधर भटक। यदि इस वादको समेट सकता है तो समेट। इस प्रकार नातपुत्तीय निगण्ठोमें मानो युद्ध ही हो रहा था।

इस उल्लेखके आधार पर कुछ विद्वान् भगवान महावीरके निर्वाणके तुरंत पश्चात सघभेद मानते हैं। इस विषयमें डॉ उपाध्येका कथन है कि महावीर या निगण्ठनातपुत्तके निर्वाणके बाद जैन सघमे होनवाली विघटनकारी प्रवृत्तियों एव मतभेदोंसे महात्मा बुद्ध अच्छी तरह परिचित हो गये थे। अत उन्होने अपने शिष्यों-को सावधान किया था कि वे ऐसे वर्गभेदकी प्रवृत्तियोंसे बच।[२]

यहाँ हम उस परम्परा पर बल देना चाहते हैं जो अन्तिम केवली जम्बूस्वामी तक महावीरकी परम्पराको अविच्छिन्न मानती है और जो दोनों सम्प्रदायोंको मान्य है। बुद्धवचनोंका त्रिपिटकके रूपम सग्रह बुद्ध निर्वाणके शताब्दियों बादकी घटना है। साथ ही जैनों और बौद्धोमे दीर्घकाल तक प्रतिस्पर्द्धा व वमनस्य रहा है अत इस प्रकारके उल्लेख उसीके परिणाम हो सकते हैं। श्वेताम्बर परम्परामें

---

१ (क) मज्झिम-निकाय भाग ३ सामगामसुत्त (ख) दीघनिकाय भाग ३ पासादिक-सुत्त (ग) दीघनिकाय भाग ३ सङ्गीतिसुत्त।
तेन खो पन समयन निगण्ठा नातपुत्ता पावाय अधुना कालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति। न त्व इम धम्मविनय आजानासि। मिच्छा पटिपन्नो त्वमसि अहमस्मि सम्मापटिपन्नो'। सहित मे असहित ते'। पुरे वचनीय पच्छा अवच पच्छावचनीय पुरे अवच। अधिचिण्णं ते विपरावत्त'। आरोपितो ते वादो। निग्गहीतोसि चर वादप्पमोक्खाय निब्बेठेहि वा सचे पहोसीति। वधो येव खो मञ्ञे निगण्ठेसु नातपुत्तियेसु वत्तति।' म नि भाग ३ प ३७ दीघनिकाय भाग ३ पृ ९१ व १३७।

२ 'जैन सम्प्रदायके यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश' अनेकान्त १९७५।

गौतम गणधर तथा प्रथम निह्नव जामालिके वादविवादका उल्लेख है। यह उल्लेख उसी घटनाका विकृत रूप रहा हो तो आश्चर्य नहीं है।

संघभेदका कारण निह्नव नही

डॉ उपाध्येके अनसार भगवान महावीरके जीवनकालमे ही (श्वे परम्परा नसार) उनके जामाता जामालि द्वारा प्रचलित बहुरत तथा तिष्यगुप्त द्वारा प्रचलित जीवप्रदेश जैसे सैद्धान्तिक मतभेद तो विद्यमान थे ही। भगवान महावीरके निर्वाण के बाद जैन परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बररूपम विभक्त हो गई जिसका मल कारण समवत कुछ साधुओका दक्षिण भारतमें स्थायो रूपस बस जाना हो जिसके पीछे श्रमण-आचारो सम्बन्धी थोडी बहुत मतभदोकी तीव्रता हो जो पहलेसे ही चले आ रहे थे। आर्याषाढ वी नि के २१४ वष पश्चात) द्वारा प्रचलित मतभेद जैन परम्परामे और अधिक विभाजन करनके लिए चिरस्थायी बन सके।

निह्नवोका विवरण श्वेताम्बर परम्परामें ही मिलता है। ये निह्नव हैं जामालि तिष्यगुप्त आर्याषाढ़ अश्वमित्र गग रोहगुप्त औ गोष्ठामाहिल।[2] इनमेंसे प्रथम निह्नव बहुरत सिद्धान्तका जनक जामालि भगवान महावीरके ही जावनकालमें उनकी ज्ञानोत्पत्तिके १४ वष बाद हुआ। इसके दो वर्ष पश्चात दूसरा निह्नव जीव प्रदेशका समथक तिष्यगप्त हुआ। शेष निह्नव भगवान महावीरके निर्वाणोपरान्त कई शताब्दियों बाद तक उत्पन्न हुए है। आठव निह्नव बोटिकका उल्लेख विशेषा वश्यक भाष्यम ही मिलता है।

---

१ वही प २४४।

२ स्थानाङ्गसत्र ७/१४ २।

समणस्स ण भगवओ महावीरस्य तित्थसि सत्त पवयणणिण्हगा पण्णत्ता। तं जहा बहुरया जीवपएसिया अव्वत्तिया सामुच्छेइया दोकिरिया तेरासिया अबद्धिया। एएसि ण सत्तण्ह पवयणणिण्हगाण सत्त धम्मायरिया हुत्था जमाली तीसगुत्त आसाढे आसमित्ते गंग छलए गोटठामाहिले। एतसि ण सत्तण्ह पवयणणिण्ह गाणं सत्त उप्पत्तिनगर होत्था। सगहणी गाथा—सावत्थी उसभपुर सेसविया मिहिलउल्लगातीर पुरिमतरंजि दसपुर णिण्हगउप्पत्तिणगराइ ॥

आवश्यकनियुक्तिगाथा (७७९ ७८३) में इनका काल भी दिया है। वहा सात निह्नवोंका उल्लेख कर स्थान व काल आठ निह्नवोंके बताये गये हैं। उपसंहार में फिर सात ही निह्नव बताये गये हैं।

निह्नव शब्दका अर्थ विशेषावश्यक भाष्यमें किसी विशेष दृष्टिकोणसे आगमिक परम्परासे विपरीत अर्थ प्रस्तुत करने वाला किया गया है।[1] तत्त्वार्थवार्तिकमें[2] ज्ञानका अपलाप करने वालोंको निह्नव कहा गया है।

उक्त सातों निह्नव भगवान महावीरकी विचार धारासे मतभेद रखते हैं। जामालि और तिष्यगप्त तो उनके जीवनकालमें ही उनके संघसे पृथक हो गये थे। जैनसंघको तीनों धाराए तो भगवान महावीरको अपना आराध्य मानती हैं। साथ ही इन सातों निह्नवोके सिद्धान्त तो किसीको भी मान्य नहीं है। श्वेताम्बर आगम साहित्यमें इनका उल्लेख भर है। अन्य दो परम्पराओंमें इनका उल्लेख भी नहीं है। अत इन निह्नवोंसे उनके मतभदोंसे भगवान महावीरको परम्परामें विभाजन मानना तर्कसगत नहीं है।

संघभेद और गणधर

जैसा कि हम कह आये ह कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराए भगवान महावीरकी परम्पराको अन्तिम केवली जम्बूस्वामी तक अवच्छिन्न मानती हैं। अन्तर यही है कि श्वेताम्बर परम्परामे कहा गया है कि गौतम स्वामीके केवली हो जानेसे सुधर्मा स्वामी हो पटट पर आसोन किये गये— श्रीगौतमस्वामिन केवलित्वात् पट्टस्याप्यत्वाभावन श्रीसुधमस्वामिन एव पट्ट स्थापना।[3] दिगम्बर परम्पराकी सभी पटटावलियाँ गौतम गणधरस प्रारभ होती हैं।[4] यापनीय परम्पराका एक शिलालेख सुधर्मा स्वामीसे प्रारभ होता है। यह शिलालेख १२ वो सदी पूर्वार्धका हूलि (जिला बेलगाँव मसूर) से प्राप्त ह और इस प्रकार है— श्रीवोरनाथस्य गणे श्वरोऽभूत् सुधर्मनामा प्रविधूत ।[5]

श्वेताम्बर परम्परामें गौतम गणधरको पट्धर न मान जानेके विषयमें हस्तिमल्ल महाराज द्वारा निम्नलिखित समाधान प्रस्तुत किय गये हैं।[6]

१ स्वयं भगवान महावीरने आर्य सुधर्माको चिरञ्जीवी जानकर गणधरोंके समक्ष खडा करके कहा—मैं तुम्ह धुरीके स्थानपर रखकर गणकी अनुज्ञा देता हूं।

---

१ विशषावश्यकभाष्यगाथा २३ ८।

२ तत्त्वार्थवार्तिक ७/१ /२।

३ कल्पसूत्र भाग २ पृ ४७२।

४ देखिए तिलोयपण्णत्तो धवला टोका जंबूदीवपण्णत्तो आदि।

५ जैन शिलालेख संग्रह भाग ४ में संग्रहीत।

६ जैन साहित्य का मौलिक इतिहास भाग २ पृ ६१ ६२।

१ यापनीय और उनका साहित्य

२ अग्निभूति आदि जिन नौ गणधरोंने भगवान महावीरकी विद्यमानतामें मुक्तिलाभ किया था वे अपने-अपने निर्वाणसे एक मास पूर्व ही आर्य सुधर्माको गणनायक एवं दीर्घ आयुष्मान् जानकर अपने अपने गण सौंप गये थ ।

३ भगवान महावीरके निर्वाणके साथ ही इन्द्रभूति गौतमको केवलज्ञानकी उपलब्धि हुई । केवलज्ञानी व्यक्ति किसीका उत्तराधिकारी नही हो सकता क्योंकि वह स्वय आत्मज्ञानका पूर्ण अधिकारी होता है ।

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामें इस अन्तरका कारण यह है कि दिगम्बर परम्परा श्रुतज्ञानको परम्परामे प्राप्त मानती है जबकि श्वेताम्बर परम्परामें सभी गणधर भगवानकी वाणीको अङ्गोमें निबद्ध करते हैं अत उनमें वाचनाभेद भी पाया जाता ह ।

कल्पसत्रम भगवानके ग्यारह गणधर तथा नौ गण बताय गय है । इसका स्पष्टीकरण करते हुए वही कहा गया है कि वाचनाभदसे गणभद होता है और एक ही प्रकारकी वाचना मानने वाले साधसमदायको गण कहत हैं । अन्तिम चार गण धरोंम दो-दोकी एक-एक ही वाचना थी ।

इस मान्यताके प्रकाशम जब हम श्वेताम्बर परम्पराम गौतम गणधरकी शिष्य-परम्पराका अभाव तथा सुधर्माकी शिष्य-परम्पराका अस्तित्व पात हैं तो यह आशङ्का होती है कि शायद वाचनाभेदके कारण ही गौतम गणधरको दिगम्बर परम्परामें और सुधर्माको श्वेताम्बर परम्परामें अग्रस्थान मिला होगा ।

दिगम्बर परम्पराम षट्खण्डागमके धवला टीकाकार वीरसेन अगज्ञानका प्रवाह गौतमसे सुधर्मा तथा सुधर्मासे जम्बूस्वामीको प्राप्त हुआ मानते हैं । श्वताम्बर आगमोमें भी विशेषत भगवतीसत्रम गौतम इन्द्रभूति द्वारा भगवानसे पूछे गये प्रश्नो का बाहुल्य है । साथ ही पट्टधर न मानन पर भी उन्हे सम्माननीय स्थान प्राप्त है । इससे ज्ञात होता ह कि वाचनाभेद स्वीकार करने पर भी इस समय सम्प्रदायभेदकी परिस्थितियाँ नही थी । यह सभव है कि आग चलकर सम्प्रदायभेदम वाचनाभद भी एक कारण बना हो । पर यह श्वेताम्बर दिगम्बर उभयमान्य तथ्य ह कि जम्बूस्वामी तक महावीरका सघ अखण्ड एव अविच्छिन्न रहा है ।

---

१ कल्पसत्र पृ ४३८ ९ ।

एव एकादशाना गणधराणा नवगणा जाता । तद्यथा सप्ताना गणधराणा परस्पर भिन्नवाचनया सप्तगणा जाता । अकम्पिताचलभ्रात्रोर्द्वयोरपि परस्पर समान वाचनया एको गणो जात । एव मेताय प्रभासयोद्वयोरपि एकवाचनया एको गणो जात ।

जम्बूस्वामीके उपरान्त संघ की स्थिति

जम्बूस्वामीके उपरान्त संघकी स्थितिके विषयमें दोनो सम्प्रदायोंमें निम्न लिखित मान्यताभेद है —

१ दिगम्बर परम्परा चौदह पूर्वधारियोंका समय वीर नि स ६२ से १६ वष तक अर्थात् १ वष मानती है। श्वेताम्बर परम्प । वीर नि सं ६४ से १७ अर्थात् १ ६ वर्ष मानती है।

२ दोनो पर पराओंम चतुदश पर्वधरोंकी सख्या पाँच मानी गई है। दिगम्ब परम्परामें श्रुतकेवलियोंके नाम विष्ण नन्दिमित्र अपराजित गोवद्धन और भद्रबा हैं और श्वेताम्ब परम्परामें प्रभव शयमव यशोभद्र सभतिविजय और भद्रबा हैं। भद्रबाहुको छोडकर शेष चार नाम व व्यक्ति दोनों परम्पराओमें भिन्न भिन हैं। अभिधानचिन्तामणिमें स्थूलभद्रको भी श्र तकेवली माना गया है।

३ दश पूर्वधर आचार्योंका समय दिगम्बर परम्परामें १८३ वर्ष व श्वेताम्ब परम्परा मे ४१४ वष माना गया है।

४ दशपूवधरोकी सख्या दोनोंमे १ ह पर नाम भिन्न हैं।

५ दिगम्बर परम्परा मानती ह कि दशपूर्वधरोम अन्तिम दशपूर्वधर आचा धरसेनके स्वर्गस्थ होते ही वीर नि म ३४५ म पूवज्ञानका विच्छद हो गया औ वह आशिक रूपम विद्यमान रहा।

६ दिगम्बर परम्परा ११ अगोका विच्छेद वीर नि स ६८३ से मानती ! श्वेताम्बर परम्परा ११ अगोका अस्तित्व मानती है।

७ श्वताम्बर परम्परा बारहव दृष्टिवादका उच्छद मानती ह दिगम्बर परम्प इसके कुछ अशका अस्तित्व स्वोकार करती है। दिगम्बर और श्वताम्बर परम्परा उक्त विभिन्न मान्यताए इन दोनोंकी दो विभिन्न परम्पराओको व्यक्त करती ह।

विशेषावश्यकभाष्यम जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणन जम्बस्वामीके पश्चात् जि दश बातों का विच्छद बताया है उनम एक जिनकल्प ह। कठोर तपश्चरण क वाले निर्वस्त्र साधओंको जिनकल्प तथा किञ्चित सुखसाध्य तपश्चरण करन वा सवस्त्र साधुओको स्थविरकल्पी कहा गया है।

---

१ दिग परम्पराके लिए देखिए तिलोयपण्णत्ती ४/१४७६ ८४ धवला पुस्तक प ६६ इन्द्रनन्दिकृत श्रतावतार ७२ ८ श्वे परम्पराके लिए हेमचन्द्रा परिशिष्ट पर्व १ विचारश्रेणि।

२ अभिधानचिन्तामणि १/३३ ३४

प बेचरदासजी दोशीका कथन है कि जिनकल्पके उच्छेदके उल्लेखका एक ही उद्देश्य हो सकता है। जम्बूस्वामीके बाद जिनकल्पके विच्छेदकी घोषणा कर जिनकल्प के आचरणको बन्द करना और जो इस ओर प्रवर्तित हों उन्हें उस प्रकारके आचरण से रोकना । इसीमें श्वेताम्बरत्व और दिगम्बरत्वके विषवृक्षकी जड समाई हुई है तथा इसके बीजारोपणका समय भी वही है जो जम्बूस्वामीके निर्वाणका समय है। क्षमाश्रमणजीके समय संभव है ऐसा विचार पहलेसे चला आता हो अत उन्होंने इसे सूत्रग्रन्थोंमें समाविष्ट कर दिया हो।

इन आगमोंमें भगवान महावीरके धर्मको अचेलक कहा गया है। दश स्थितिकल्पों में आचेलक्य प्रथम तथा व्रत (पञ्चमहाव्रत) द्वितीय कल्प है। यद्यपि व्रतोंमें अपरिग्रहव्रतमें आचेलक्य गर्भित है फिर भी श्वेताम्बर परम्परामे ही आचेलक्यको पृथक रूपसे ग्रहण किया गया है। यह पृथग्ग्रहण आचेलक्यके महत्वको ही उद्घोषित करता है।

आचारागमें अल्प या बहुत सूक्ष्म या स्थूल सचेतन या अचेतन परिग्रहको परिग्रह कहा है।[२] इसकी टीकामें आचार्य शीलाकका कथन है कि बोटिक भी पीछी रखते हैं शरीर रखते है भोजन ग्रहण करत हैं। यदि यह कहा जाये कि ये सब धर्मंमे सहायक हैं तो वस्त्र-पात्र भी धर्मके साधन हैं।

आचारागमें ही कहा गया है कि अचेल साधुको यह चिन्ता नही सताती कि मेरा वस्त्र जीण हो गया है वस्त्र मागूगा धागा मागूगा सुई मागूगा जोडूगा सीऊगा उधेडूगा पहनगा या ओढूगा ।[३]

यहीं विमोक्षाध्ययनम वस्त्रधारी साधके लिए भी कहा हैं कि हेमन्त बीत जानेपर यदि वस्त्र जीर्ण न हुए हो तो कही रख दें अथवा अवश्यकता हो तो पहन ले अन्यथा

---

१ जैन साहित्यका इतिहास (पूर्व पीठिका) प कैलाशचन्द्र शास्त्री पृष्ठ ४८७ से उद्धृत।

२ आवती केयावती लोगसि परिग्गहावंती से अप्प वा बहु वा अण वा थूल वा चित्तमंतं वा अचित्तमत वा ।

३ जे अचेले परिवुसिए तस्स ण भिक्खुस्स नो एव भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे वत्थ जाइस्सामि सुत्तं जाइस्सामि सूइ जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वुक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि ।—अध्ययन ६ उद्देशक ३ सूत्र ५९।

उतार दे। अथवा तीनमें दो रख ले (अवमचेलक हो जाए) अथवा एक शाटक अथवा अचेल हो जाए।[1]

इस प्रकार आचारांगमें वस्त्रधारी साधके लिए भी मात्र शीत ऋतुमें तीन वस्त्रोंका विधान किया है और ग्रीष्म ऋतुमें संतरुतर या ओमचेल या एकशाटक अथवा अचेल ही हुने का निर्देश है।

स्थानांगमें भी पांच बातोंको लेकर अचेलताको प्रशस्त बताया है—अल्प प्रतिलेखन प्रशस्त लाघव विश्वासोत्पादक रूप उत्कट तप तथा विपुल इन्द्रिय-निग्रह[2] तथा तीन कारणोंसे वस्त्रधारणकी अनुज्ञा है—लज्जा निवारण, ग्लानि निवारण और परीषह निवारण।[3]

प्राचीन आगमोंमें जो वस्त्रकी स्थिति अपवादरूपसे थी उत्तरकालीन ग्रन्थकारों और टीकाकारोंने उसी वस्त्र-पात्रवादके प्रचार और पोषणको अपना लक्ष्य बनाया। सर्वप्रथम विशेषावश्यक भाष्यमें ही जिनकल्पके उच्छेदकी घोषणा तथा वस्त्रका जोरदार समर्थन मिलता है।

न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा॥

दशवैकालिकका उक्त कथन कि (लज्जा अथवा संयमके लिए) वस्त्रधारण परिग्रह नहीं है इस बातको सूचित करता है कि इस समयमें भी संघमें वस्त्रके विषयको लेकर मतभेद था। श्वेताम्बर मान्यतानुसार जम्बूस्वामीके निर्वाणके पश्चात द्वितीय श्रुतकेवली शय्यंभवने अपने पुत्र मणकके स्वाध्यायहेतु दशवैकालिक-का प्रणयन किया।[4] उक्त कथनका आधार लेकर उत्तरकालीन आचार्य मूर्च्छा परिग्रह है वस्त्र-पात्र नहीं यह कहकर विरोधियोंका मुख मुद्रित करने लगे।

---

१ अह पुण एवं जाणिज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले। —आचारांग ७।२ ८ २ ९

२ पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ। तं जहा—अप्पा पडिलेहा लाघविए पसत्थे रूवे वेसासिए तवे अणुण्णाए विउले इंदियनिग्गहे। ५।३

३ तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा। तं जहा—हिरिपत्तियं दुगुंछापत्तियं परीसहपत्तियं। ३।१७

४ मणगं पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दसज्झयणा।
वेयालियाइ ठविया तम्हा दसकालियं नाम॥
दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १५।

बृहत्कल्पसूत्र तथा विशेषावश्यकभाष्य[2] में अचेलके दो भेद किये हैं—सताचेल (जिनकल्पी सहित समस्त साधु) व असतचेल (तीर्थंकर)।

इस प्रकार जम्बूस्वामीके उपरान्त जिनकल्पकी व्युच्छित्तिकी घोषणा करके आचारांगसूत्रवृत्ति स्थानांगसूत्रवृत्ति उत्तराध्ययनसूत्रवृत्ति विशेषावश्यकभाष्य बृहत्कल्प पञ्चाशकविवरण जीतकल्प प्रवचनसारोद्धार आदिमें अचेलताके आश्रयसे सचेलताका पोषण मिलता है।

अन्तिम केवली जम्बूस्वामीके बाद दिग परम्परामें विष्णु और श्वेताम्बर परम्परामें प्रभव प्रथम श्रुतकेवली मान गये हैं। तिलोयपण्णत्ती आदिमें विष्णुके स्थान पर नन्दि या नन्दी मुनि भी कहा गया है। आचार्यका पूरा नाम विष्णुनन्दि अनुमानित किया गया है। विष्णु मुनि उस पक्षके पक्षधर थे जो भगवान महावीरके नियमोंके यथावत् परिपालनको प्रश्रय देता था ऐसा प्रतीत होता है। आचार्य प्रभवके संघके मुनियोंकी किञ्चित सुखशीलता विष्णुमुनिके संघस्थ मुनियोंको अरुचिकर प्रतीत हुई होगी। तभी दोनोंकी भिन्न परम्पराएँ मिलती हैं। परवर्ती कालमें जम्बूस्वामीके उपरान्त जिनकल्पके विच्छिन्न होनेकी घोषणामें भी यही परम्पराभेद कारण दिखाई देता है। विष्णुमुनिके पश्चात उस संघके संरक्षक क्रमश आचार्य नन्दिमित्र अपराजित और गोवर्द्धन हुए। प्रभवके उत्तराधिकारी क्रमश आचार्य शय्यंभव यशोभद्र एवं संभूतिविजय हुए।

इन चारों श्रुतकेवलियोंके पश्चात् भद्रबाहु एक ऐसे प्रभावशाली आचार्य हुए जिन्हें सम्पूर्ण जैनसंघने श्रद्धाके साथ स्वीकार किया है। इनसे पूर्वके आचार्योंके नाम व काल भिन्न हैं। इससे स्पष्ट है कि ये एक दूसरेसे भिन्न हैं पर इस समय तक सम्प्रदायभेद नहीं हुआ था इसी कारण भद्रबाहु दोनों परम्पराओंमें मान्य हो सके। फिर भी श्वेताम्बर परम्परामें जो सम्मान स्थूलभद्रका है वह भद्रबाहुका नहीं। स्थूलभद्रने दश पूर्वोंका ज्ञान भद्रबाहुसे ही प्राप्त किया था फिर भी उनके जीवन कालमें उनकी अनुपस्थितिमें ही ग्यारह अंगोंका संकलन उनकी अवहेलना व्यक्त करता है। साथ ही श्वे परम्परामें जिस प्रकार गौतम गणधरकी शिष्य परम्पराका अभाव है उसी प्रकार भद्रबाहुकी शिष्य-परम्पराका भी अभाव है।

श्वेताम्बर परम्परामें कल्पसूत्र स्थविरावलीके अनुसार आचार्य यशोभद्रने संभूतिविजय और भद्रबाहु नामक दो श्रुतकेवली शिष्योंको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। यशोभद्रके पश्चात दो आचार्योंकी परम्परा आरंभ हुई। आचार्य

---

१ दुविहो होंति अचेलो सताचेलो असतचेलो य।
तित्थयरा असतचेला सतचेला भवे सेसा॥

२ विशेषावश्यकभाष्य २५९८-२६ १

हरितवलने गच्छाचारप्रकीर्णाका उद्धरण देते हुए कहा है कि यशोभद्रके स्वर्गारोहण के पश्चात संभूतिविजय और भद्रबाहु ये दोनों आचार्य चन्द्र और सूर्यकी तरह अपनी ज्ञानरश्मियोंसे अज्ञान-तिमिरका नाश करते हुए विभिन्न क्षेत्रोंमें विचरण करने लगे।[1]

इस आदरपूर्वक उल्लेखके उपरान्त भी यह ध्यातव्य है कि भद्रबाहुसे श्वेताम्बर परम्पराकी आचार्यपरम्परा नही चली। यशोभद्रके प्रथम शिष्य संभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रसे ही श्वेताम्बर परम्पराकी आचार्यपरम्परा प्रचलित हुई है। श्वेताम्बर परम्परामे भद्रबाहुकी इस स्थितिसे स्पष्ट है कि भद्रबाहु विष्णुमुनिकी परम्पराके थे। यशोभद्रके शिष्य संभूतिविजय और संभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्र प्रभवस्वामीकी परम्पराम थे। प्रतीत होता है कि भद्रबाहुके प्रभावशाली व्यक्तित्वके कारण प्रभवस्वामीकी परम्पराम उन्हें सम्मान प्राप्त हो सका।

भद्रबाहुके उपरान्त संघकी स्थिति

भद्रबाहुके समयसे तो उनमें पार्थक्य और अधिक स्पष्ट हो गया। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराएँ भद्रबाहुके समयसे ही सघ विभाजन मानती हैं।

देवसेनने अपने दर्शनसारमें लिखा है[2] कि विक्रम राजाकी मृत्युके १३६वे वर्षमें सौराष्ट्र देशके वलभीपुरमें श्वेतपट सघ उत्पन्न हुआ। श्री भद्रबाहुगणिके शिष्य शांति नामक आचार्य थे। उनका जिनचन्द्र नामका शिथिलाचारी दुष्ट शिष्य था। उसने मत चलाया कि स्त्रियोको उसी भवमे मोक्ष प्राप्त हो सकता ह केवलज्ञानी भोजन करते हैं और उन्हें रोग होता है। वस्त्रधारी तथा निर्ग्रन्थके सिवाय अन्य लिंगसे भी मुक्ति सभव है तथा प्रासुक भोजन सर्वत्र किया जा सकता है।[3]

भावसग्रहकार देवसेनने श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिको कथा अधिक विस्तारसे दी है[4]— उज्जयिनी नगरीमें निमित्तज्ञानी भद्रबाहु आचार्य थे। निमित्तज्ञानके बलसे द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षको जानकर उन्होंने समस्त गणधरोंको सघसहित अन्यत्र विहार करनेका आदेश दिया। उनमेंसे एक शांति नामक आचार्य अपने शिष्योंके साथ सौराष्ट्र देशकी वलभी नगरीमें पहुँचे। दुर्भाग्यसे वहाँ भी अकाल पड़ गया। इस निमित्तको पाकर सबने कम्बल दण्ड तुम्बा पात्र आवरण और सफेद वस्त्र धारण

१ जैन साहित्यका मौलिक इतिहास द्वितीय भाग पृ ३२९।

२ छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो सघो ॥ गा ११ ॥

३ दर्शनसार गाथा ११ १४।

४ भावसग्रह गाथा ५३ ७०।

कर लिए। ऋषियोंका आचरण छोडकर दीनवृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करना तथा वसतिकामें बैठकर स्वेच्छापूर्वक खाना आरभ कर दिया। सुभिक्ष होने पर शांति आचार्यने उन्हें पुन मुनियोग्य श्रेष्ठ आचरणके लिए प्रेरित किया। इससे रुष्ट होकर एक शिष्यने दीर्घदण्डसे उनके सिर पर प्रहार कर दिया जिससे उनका प्राणान्त हो गया। वह शिष्य संघका स्वामी बना और उसने प्रकटरूपसे श्वेताम्बर मतका प्रवर्तन किया।

हरिषेणकृत बृहत्कथाकोशके अनुसार भद्रबाहु पुण्ड्रवर्धन देशके निवासी ब्राह्मणके पुत्र थे। चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धनन उन्हें सुयोग्य जानकर उनके पितासे मांग लिया और प ाकर विद्वान बनाया। बादमें भद्रबाहुने मुनि-दीक्षा ले ली और वे आचार्य गोवर्धनके स्वर्गगमनके उपरान्त पञ्चम श्रुतकेवली हुए।

दिव्यज्ञानी भद्रबाहुने द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षको जानकर सघको समद्रके समीप जानेका निर्देश किया। इसी समय मम्राट चन्द्रगुप्तने दीक्षा ले ली। उनका नाम विशाखाचाय हो गया। सघ विशाखाचार्यके साथ पुन्नाट देशको चला गया। भद्रबाहु मुनिने भाद्रपद देश[1] म आकर समाधिमरण किया।

सुभिक्ष होने पर विशाखाचार्य समस्त संघके साथ दक्षिणापथ देशसे मध्यदेशम लौट आये। रामि ल स्थविर-स्थूल और भद्राचाय तीनो दुर्भिक्ष कालमे सिन्ध देशम चले गये थे। वहाँ से लौटकर कहा कि वहाँके लोग दुर्भि्‌न पीडितोके भयसे रातमें ही खाते थे। उन्होंन हमसे भी कहा कि आप लोग भी रातके समय हमार घरसे आहार ले आया करें। उनके ऐसा कहने पर हम लोग वसा ही करन लगे। एक दिन अधेरे में कृशकाय निग्रन्थ साधुको देखकर एक गर्भिणी श्राविकाका भयसे गर्भपात हो गया। तबसे श्रावकोका कहना स्वीकार कर यतिगण बायें हाथसे अर्धफालकको आगे कर दाहिने हाथमें भिक्षापात्र लेकर रात्रिम आहारके लिए निकलने लगा।

सुभिक्ष हो जाने पर रामिल्ल स्थविरस्थूल और भद्राचार्यन सकल सघको बुलाकर निर्ग्रन्थ रूप धारण करनेके लिए कहा। कुछने अर्द्धफालकको छोडकर निर्ग्रन्थ रूप धारण कर लिया। शक्तिहीनोने जिनकल्प एव स्थविरकल्पका भेद करके अर्द्धफालक सम्प्रदायका चलन किया।

इन्हीं अर्द्धफालकोसे काम्बल तीर्थका प्रवर्तन हुआ। वलभी नरेश वप्रवादकी पटरानी अर्द्धफालकोकी भक्त थी पर राजाको यह रूप ठीक प्रतीत नहीं हुआ उसने सघसे कहा कि यदि निर्ग्रन्थ रूप धारण करनेमें असमर्थ हो तो शरीरको ऋजुवस्त्रसे ढांककर विहार करो। उसकी आज्ञासे लाटवासियोंका यह काम्बल तीर्थ

१ यहाँ श्रीमदुज्जयिनीभव भाद्रपदृदेशम् कहा गया है।

प्रवर्तित हुआ। इसके पश्चात् सावलिपत्तनमें उस काम्बल सम्प्रदायसे यापनीय संघ उत्पन्न हुआ।[1]

इन कथाओंके प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं—

१ भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समय उत्तरभारतमें भीषण दुर्भिक्ष पड़ा उस अवसर पर संघ आचार्यके आदेशसे दक्षिणापथकी ओर प्रस्थान कर गया।

२ दुर्भिक्षके समय उत्तरभारतमें रह गये साधुओंमें शिथिलाचारिता व्याप्त हो गयी थी।

३ दुर्भिक्ष समाप्तिके उपरान्त भी शिथिलाचारिताको न त्यागने वाले साधुओंसे क्रमश अर्द्धफालक काम्बल तथा यापनीय सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई।

श्वेताम्बर परम्परामें भद्रबाहुका परिचय तित्थोगालियपइन्ना आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थोमें अति सपेक्षमें मिलता है। गच्छाचार प्रकीर्णा दोघटटी वृत्ति प्रबन्ध चिन्तामणि और प्रबन्धकोशम वह कुछ विस्तारसे मिलता है। कई भद्रबाहुओंके जीवन-चरित्र परस्पर मिल जानेसे इनका परिचय विमिश्रित हो गया है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु विषयक श्वेताम्बर मान्यताओका निष्कर्ष इस प्रकार है—

१ अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर थे। इनके समयमें द्वादशवर्षीय दुष्काल पडा उस समय व बारह वर्ष तक नेपालमें रहे और महाप्राण योग धारण किया।

२ दुर्भिक्षकी समाप्ति हो जाने पर विभिन्न क्षेत्रोंम गये हुए श्रमण-श्रमणी समूह पुन पाटलिपुत्र पहुचे। भीषण दुष्कालके दुस्सह परीषहोंके भुक्तभोगी वे सब श्रमण परस्पर एक दूसरेको देखकर ऐसा अनुभव करने लगे मानों परलोकमें जाकर लौटे हों। जब सभी श्रमणोंने देखा कि दीर्घकालके दवो प्रकोपके कारण श्रमणवर्ग समयपर एकादशागीके पाठोका स्मरण चिन्तन मनन पुनरावर्तन आदि नहीं कर सके हैं। परिणामस्वरूप सूत्रोंके अनेक पाठ अधिकाश श्रमणोके स्मृतिपटलसे तिरोहित हो चुके हैं तब अंगशास्त्रोंकी रक्षाके लिए ज्ञानवृद्ध शास्त्रपारगामी स्थविरों की पाटलिपुत्रमे वी नि सं एक सौ साठमें आगमोंकी बृहद् वाचना हुई। श्रमण संघके आचार्य उस समय नेपाल देशम महाप्राण ध्यानकी साधना प्रारम्भ करने गये हुए थे अत स्वर्गस्थ आचार्य सभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें यह वाचना हुई। कतिपय मासोके अनवरत एवं अथक प्रयाससे सम्पूर्ण एकादशांगी की वाचना सम्पन्न हुई।

३ चतुर्दश पूर्वधारी भद्रबाहु इस समय नेपालमें महाप्राण ध्यान कर रहे थे। तब साधुओंके एक संघाटकको भद्रबाहुको लानेके लिए नेपाल भेजा गया। ध्यानमें

---

१ बृहत्कथाकोश (हरिषेणकृत) भद्रबाहुकथा संख्या १३१।

संलग्न होनेके कारण भद्रबाहु द्वारा संघाज्ञाके अस्वीकार किये जाने पर संघने दूसरा संघाटक भेजा। उस संघाटकने भद्रबाहुसे पूछा— संघकी आज्ञा न मानने वालेके लिए किस प्रकारके प्रायश्चित्त का विधान है ? भद्रबाहुने कहा–बहिष्कार। पर मैं महाप्राण ध्यानकी साधना आरम्भ कर चुका हूँ। संघ मुझ पर अनुग्रह करे और सुयोग्य शिक्षार्थी श्रमणोको यहाँ भेज दे। मैं उन्हें प्रतिदिन सात वाचनाए दूँगा। तदनन्तर संघने स्थूलभद्र आदि श्रमणोको पूर्वज्ञानके अभ्यास हेतु भेजा।

इससे ज्ञात होता है कि जम्बूस्वामीके समय जिस मतभेदका बीज बो दिया गया था वह भद्रबाहुके समय उभर कर सामने आया और फलस्वरूप दो परम्पराओं का जन्म हुआ

आगम-संकलन

द्वादशागके अविकल ज्ञाता भद्रबाहुके जीवनकालमे ही श्वेताम्बर परम्पराको श्रुतव्युच्छित्तिका भय क्यो व्याप्त हो गया ? उनकी अनुपस्थितिमे ही एकादशाङ्गों का संकलन क्यो कर लिया गया ? श्रुतकेवली भद्रबाहुके जीवित रहते हुए ही साधु संघको एकत्रित करके उनकी स्मृतिके आधार पर आगमवाचनाका क्या औचित्य था ? आचार्य स्थूलभद्र भी यदि परम्परासे प्रवाहित एकादशागके वक्ता थे तो फिर उनकी अध्यक्षतामे स्मृतिके आधार पर श्रुतसंकलनका प्रयास क्यों किया गया ? आगम संकलनके विषयमे ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित होते है।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार महाप्राण ध्यानमें लीन होनेके कारण भद्रबाहु आगमन-वाचनामे उपस्थित न हो सके। स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें समस्त साधु समाजकी स्मृतिके आधार पर एकादशागकी संकलना की गई। अवशिष्ट द्वादशाग मसे पूर्वज्ञानके लिए स्थूलभद्र आदि पाचसौ साधु भद्रबाहुके पास पहुंचे। स्थूलभद्र इसी संकलित एकादशाग धारक होंगे अन्यथा यदि वे परम्परासे प्राप्त ग्यारह अंगो के धारक होते तो स्मृतिके आधार पर आगम संकलनकी आवश्यकता नही होती फिर भी यदि सामूहिक रूपसे आगम-संकलन किया गया तो इससे प्रतीत होता है कि उन्होने अपने विचारभेदोको बद्धमूल करनेकी दृष्टिसे सबको आमन्त्रित कर आगम संकलन किया होगा जिससे कि उस पर प्रामाणिकताकी मुहर लगाई जा सके।

दिगम्बर परम्पराको सकलश्रुतवक्ता भद्रबाहुके जीवित रहते साधुसमाजको एकत्रित कर आगम-संकलनकी आवश्यकता प्रतीत नही हुई। भद्रबाहुके उपरान्त भी आचार्य श्रुतज्ञानको अपने उत्तराधिकारीको सौंपते रहे अतः मेधा व धारणा शक्तिकी कमीके कारण श्रुत क्रमशः क्षीण होता गया पर एकाएक व्युच्छिन्न नहीं हुआ। वह द्वितीय पूर्वके वक्ता धरसेनाचार्य तक अनवच्छिन्न रूपसे चला आया।

उन्होंने अपना वह श्रुत पुष्पदन्त और भूतबलिको प्रदान किया जिन्होंने उसे षट् खण्डागमके रूपमें निबद्ध किया।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराए सघ विभाजन श्रुतकेवली भद्रबाहुके भी सम्राट चन्द्रगुप्तके समकालीन हैं समयसे मानती हैं। आगम-सकलनकी घटनाने तो दोनों सम्प्रदायोंके विभाजनको और अधिक उजागर कर दिया। हेम-चन्द्रसूरिके अनुसार भी पाटलिपुत्रम हुई प्रथम वाचनाके समय संघभेदका आरम्भ हो गया था।[1]

द्वितीय वाचना—आचार्य स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें सकलित यह आगम श्रुत का अन्तिम रूप नहीं था। वीर नि स ८२७से ८४ के मध्य मथुरामें आर्य स्कन्दिलकी अध्यक्षताम एक और वाचना हुई। इस समय भी दुर्भिक्ष पड़ा था। लगभग इसी समय वलभीम नागार्जुनकी अध्यक्षतामें दक्षिणमें भी एक वाचना हुई। आचार्य स्कन्दिल एवं नागार्जुन दोनो वाचनाओंके उपरान्त मिल नहीं सके इसी कारण दोनो वाचनाओंमे रह हुए पाठभदोका निर्णय अथवा समन्वय नहीं हो सका।

नन्दिचर्णिमें जिनदासगणि महत्तरने स्कन्दिलाचार्यकी अध्यक्षतामें होने वाली वाचनाका उल्लेख इस प्रकार किया है—

> बारस सवच्छरिए महते दुब्भिक्खे काले भत्तटठा अण्णण्णतो हिण्डियाणं गहणगुणणणप्पेहाभावाओ विप्पणटठे सुत्ते पुणो सुब्भिक्खे काले जाए महुराए महते साघसमुदये खदिलायरियप्पमहसंघेण जो अ संभरइत्ति इव सघडिय कालियसुय। जम्हा एव महुराए कय तम्हा माहुरी वायणा भण्णइ।[2]

इसके टीकाकार मलयगिरिने भी लिखा है[3] कि दुर्भिक्ष समाप्त होने पर दो सम्मेलन हुए एक वलभीमें और दूसरा मथुरामे इसी कारण वाचनाभद हुए। माथुरी वाचना तत्कालीन युगप्रधान आचार्य स्कन्दिलको अभिमत थी और उन्हींके द्वारा अर्थरूपसे शिष्यबुद्धिको प्राप्त हुई थी अत वह अनुयोग उनका अनुयोग कहा जाता है। मलयगिरिने दूसरोका मत बताते हुए कहा है कि कुछ इस प्रकार कहते हैं कि दुर्भिक्षवशात् कुछ भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ किन्तु अनुयोगधर कालकवलित हो गये केवल स्कन्दिलसूरि बचे। उन्होंने मथुरामें पुन अनुयोगका प्रवर्तन किया अत यह माथुरी वाचना कहलाई।

---

१ परिशिष्ट पर्व ९/५५ ७६ व तित्थोगालियपइन्ना गाथा ७३० ?

२ जिनदासमहत्तरकृत नन्दिचूर्णी पृ ८

३ नन्दिसूत्र (आगमोदय समिति बम्बईसे प्रकाशित) गाथा ३३ की टीका।

तृतीयवाचना

वीर निर्वाण संवत ९८० म वलभीमें आचार्य देवर्द्धिगणिकी अध्यक्षतामें अन्तिम वाचना हुई जिसमे श्रुतको पुस्तकारूढ़ कर लिया गया अत इसके उपरान्त वाचनाकी आवश्यकता ही नही रही। समयसु दरगणिने अपने सामाचारी शतकमें लिखा है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणन द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके कारण बहुतसे साधुओं का मरण तथा अनक बहुश्रुत का वि छेद हो जान पर श्रुतभक्तिसे प्रेरित होकर भावि जनताके उपकारके लिए वीर निर्वाण सवत ९८० में श्री सघके आग्रहसे बचे हुए सब साधओको वलभी नगरीमें बुलाया और उनके मुखसे विच्छिन्न होने से अवशिष्ट रह कमती बढती त्रुटित अत्रुटित आगमपाठोको अपनी बुद्धिसे अनुमानसार सकलित करके पुस्तकारूढ किया।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणके पश्चात भी आगमोमें परिवर्तन हुआ है जिसे याकोबी आदि पाश्चात्य तथा प बेचरदास दोशो आदि जैन विद्वानोंने स्वीकार किया है।[2]

इस सब विवेचनसे यही प्रतीत होता ह कि यद्यपि जम्बूस्वामीके उपरान्त ही परम्पराभेद दिखाई देता ह परन्तु उस समय तक सम्प्रदायभद नहीं हुआ था सभ वत मतभद रह होग।

स्थलभद्रकी अध्यक्षताम हुए आगम सकलनके समय ये उभर कर सामने आये। इसलिए अनक इतिहासज्ञ इसी समय सम्प्रदायभेद मानते हैं।

इस स्थितिम देवसेनके इस कथनका कि वलभीम विक्रम सवत् १३६ म श्वेताम्बर सघकी उत्पत्ति हुई क्या आधार है ? नही कहा जा सकता।

विक्रम सवत १३६ अर्थात वीर निर्वाण स ६ ६ का समय न तो भद्रबाहु प्रथमके समयसे मेल रखता है और न वलभीम हुई तीसरी आगमवाचनासे जिसका समय वीर नि स ९८० और वाचनान्तरसे ९९३ है जो वि स ५१ और ५२३ होता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं इस वलभी वाचनासे पहले माथुरी वाचनाके समानान्तर वलभीम ही नागार्जुनसूरिकी अध्यक्षताम एक और वाचनाका उल्लेख मिलता है परन्तु इसका समय भी वार नि स ८२७ से ८४ है।

---

१ जैन साहित्यका इतिहास (पूव पोठिका) पं कैलाशचन्द्रजी शास्त्री पृ ४९९ से उद्धृत।

२ द्रष्टव्य जैन साहित्यका इतिहास (पूर्वपीठिका) पृ ५२ –५२७

३ एशियन्ट इंडिया आर सी मजूमदार पृ १७९ कम्ब्रिज हिस्ट्री १९५५ पृ १४७ व भारतके प्राचीन राजवंश भाग २ श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ पृ ४१

देवसेन द्वारा उल्लिखित संघविभाजनका यह काल श्वे परम्पराके अनुसार आर्य-वज्रके आचार्यत्वका है। पट्टावली-समुच्चयमें संग्रहीत सिरिदुसमाकालसमणसंघथय नामक पट्टावलीमें आर्य वज्र (वइर) का उल्लेख है। इसी पट्टावलीकी अवचूरीमें इनका समय वी नि स ६१७ बताया गया है। यही अन्यान्तरे बोटिक निर्गता भी उल्लिखित है। कल्पसूत्र स्थविरावलीमें प्रथम आर्य वज्रका समय वी नि स ५४८ और द्वितीय आर्य वज्रका वी नि स ६१७ दिया गया है। तिलोयपण्णत्तिमें आचार्य वज्रयशाका उल्लेख प्रज्ञाश्रमणके रूपमें है।[2] श्वे परम्पराके अनुसार इनके समयमें दो भीषण दुर्भिक्ष पड़े। एक दुष्कालके समय उन्होंने संघको आकाशगामिनी विद्या द्वारा माहेश्वरीपुरी पहुँचाया दूसरे दुर्भिक्षके समय पाँच सौ साधुओं सहित आमरण अनशन किया। सभव है कि इस समय भी कोई विवाद हुआ हो। श्रीमती स्टिवेन्सनने पहलेसे चले आये दो पक्षोंमें विभाजन इसी समय स्वीकार किया है।[3]

परन्तु संघविभाजन श्रुतकेवली भद्रबाहुके समय ही मानना चाहिए और इसके उपरान्त कभी यापनियोंका प्रादुर्भाव माना जाना चाहिए। खारवेलके शिलालेखमें उल्लिखित यापनावकेहि पदको विद्वानोंने यापनीयोंसे सम्बद्ध माना है।

खारवेलका शिलालेख

खारवेलका यह हाथीगुम्फा अभिलेख खण्डगिरि उदयगिरि पर्वतके दक्षिणकी ओर लाल बलवे पत्थरकी एक चौडी प्राकृतिक गुहामें उत्कीर्ण है। इस अभिलेखमें कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट खारवेलके व्यक्तित्व और शासनकाल की घटनाओंका विस्तृत परिचय दिया गया है। खारवेलकी तिथि ई पू २ वर्ष स्वीकार की गई है।[4] शिलालेखके अनुसार शासनके तेरहवें वर्षमें खारवेलने जीर्ण आश्रय वाले याप (ज्ञापक/उद्यापक) साधुओंके लिए निषद्या बनवाई—तरसमे च वसे सुपवत विजयिचके कुमारीपवते अरहिते य (T) पारवम-ब्यसताहि काम्यनिसीदीयाय यापञावकेहि

---

१ पट्टावलीसमुच्चय भाग १ पृ १६।

२ पण्णसमणेसु चरियो वइरजसो णाम ओहिणाणीसुं।
चरिमो सिरिणामो सुदविणयसुसीलादिसंपण्णो ॥ ४।१४८ ।

३ Vajraswami was followed by Vajrasma and under his leadership the Digambara finally separated from the main com muity The heart of Jainitsm Mrs sinclair Stevenson Munshiram Manoharlal New Delhi Page 78

४ महावीर जयन्ती स्मारिका जयपुर ७७ में प्रकाशित खारवेलकी तिथि शीर्षक लेख ।

राजभितिनि चिनवतानि वोसासितानि (।) पूजानि कतउवासा खारवेलसिरिना जीवदेव-सिरि-कल्प राखिता (।)।

सम्राट खारवेलने कुमारी पर्वत पर एक सम्मेलन आयोजित किया था जिसमें अनेक तपस्वी ऋषि तथा श्रमण सम्मिलित हुए थे। इस शिलालेख की १६ वीं पंक्ति का मुरियकालवोछिन चोयठि अगसतिकं तुरिय उपादायाति। इस प्रकार संशोधन करके डॉ काशीप्रसाद जायसवालने इसका अर्थ किया है मौर्यकालमें विच्छिन्न हुए चौंसठ भागवाले चौगुने अगसप्तिकका उसने उद्धार किया अथवा तुरियका अर्थ चतुर्थ पूर्व भी किया जा सकता है जिसके ६४ भागोमें सात अथवा सौ या एकसौ चौसठ अग थे।

इन अर्थोको करके डॉ जायसवालने लिखा है कि जैन आगमोंके इतिहासके और अधिक गहरे अध्ययनसे हम य निणय करनमें समर्थ होगे कि इन तीनों अर्थोंमेंसे कौन-सा अर्थ ग्राह्य है किन्तु चन्द्रगप्त मौयके समयम जैन मूल ग्रन्थोंके विनाशको लेकर जैन परम्पराम जो विवाद चलता ह उसका उक्त पाठमे आश्चर्य जनक समथन होता ह। इससे यह स्पष्ट है कि उडीसा जैनधर्मके उस सम्प्रदायका अनुयायी था जिसन चन्द्रगप्तके राज्यम पाटलिपुत्रमें होनेवाली वाचनामें सकलित आगामोको स्वीकार नही किया था।[३]

आचाय हस्तिमल्लन हिमवन्त स्थविरावली नामक ग्रन्थके खारवल विषयक उल्लेखोंको उद्धृत किया है। उसके अनुसार तीर्थङ्कर एव गणधरो द्वारा प्ररूपित

१ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख न २ पृ ६

२ जनल आफ बिहार उडीसा रिसर्च सोसायटी भाग १३ पृ २३६।

३ कुछ अन्य विद्वानोने इसका अर्थ करत हुए लिखा है—तरहवाँ वर्ष समाप्त होनेके पूर्व खारवल द्वारा एक जन साधपरिषद्का आयोजन किया गया। समूचे देशसे जैन वाङ्मयके अध्यता विद्वान श्रावक और साध कुमारी पर्वत पर एकत्र हुए और सूत्रोका पठन-पाठन तथा यथासभव लेखन हुआ। जैन वाणीका यह गुम्फन वर्णमालाके चौसठ वर्णों स्वरो और सयुक्ताक्षरोमे किया गया इसका संकेत शिलालेखके चोयठि अग सतिक से मिलता है। अन्यत्र इन्ही लेखकोंने इसका अथ इस प्रकार किया है—चोराहोमे अन्त भागोमे वैदूर्ययुक्त ७५ लाख मुद्राओं द्वारा स्तम्भ स्थापित किया गया। प्रमुख कलाओसे समन्वित चतुष्षष्टि प्रकार वाद्यपूर्ण शान्तिकालीन तूर्य उत्पन्न किया। देखिए—खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख महावीर जयन्ती स्मारिका जयपुर १९७६ तथा हाथीगुम्फा शिलालेखकी विषयवस्तु वीर निर्वाण स्मारिका जयपुर १९७५।

जिनवचनको नष्टप्राय जानकर उस भिक्षुराज राजाने जिनप्रवचनके संग्रह व जिनधर्मके विस्तारके लिए सम्प्रति नृपकी भाँति निर्ग्रन्थ श्रमण एव श्रमणियोंकी एक परिषद् कुमारी पर्वत पर आयोजित की। उसमें आर्य महागिरिकी परम्पराके आर्य बलिस्सह, बोधिलिंग, देवार्य धरसेन नक्षत्र आदि जिनकल्प तुल्य दो सौ निर्ग्रन्थ उपस्थित हुए। खारवल द्वारा प्रेरित उन स्थविरोंने अवशिष्ट जिनप्रवचन दृष्टिवादको सर्वसम्मत रूप से भोजपत्र ताड़पत्र और वल्कलपत्रोंपर लिखा। इस प्रकार वे सुधर्मा द्वारा उपदिष्ट द्वादशाङ्गीके रक्षक बने।[1]

हिमवत स्थविरावलीमें जिन छह जिनकल्पी आचार्योंके नाम हैं उनमें चार बुद्धिल देवार्य धर्मसेन और नक्षत्र तो दिगम्बर परम्पराके आचार्य हैं। इसके अतिरिक्त जिन दो श्रमणो आर्य महागिरि और बलिस्सहका उल्लेख है वे भी श्वेताम्बर परम्पराके ग्रन्थोंम जिनकल्पी कहे गये हैं। आर्य बलिस्सह भी इन्हीं आर्य महागिरिके शिष्य थ तथा अपने गुरुके समान आचार साधनामें विशेष निष्ठा रखने वाले थ। आचाय यशोभद्रके जिस प्रकार भद्रबाहु व स्थूलभद्र दो शिष्य हुए उसी प्रकार स्थूलभद्रके महागिरि और सुहस्ती दो शिष्य हुए इसमे सुहस्तिका गण विशाल और विख्यात कहा गया ह।

इसमे दृष्टिवादके सकलनका उल्लेख है पर श्वेताम्बर परम्परा दृष्टिवादको उच्छिन्न मानती है। दिगम्बर परम्पराम स्मृतिके आधारपर श्रुतसकलनकी परम्परा नही है। कषायपाहुड तथा षटखण्डागम सामहिक प्रयासके प्रतिफल नहो हैं अत सभव है इसका सम्बन्ध यापनीयोसे हो अर्थात् खारवेल यापनीय परम्परासे सम्बद्ध हों क्योंकि वे सकलित आगमोके साथ असकलित षट्खण्डागम आदिको भी प्रमाण मानते हैं।

परन्तु मुनिजिनविजयजीने हिमवन्त स्थविरावलीको जाली एवं कल्पित घोषित किया है[2] अत इसकी प्रामाणिकतामें सन्देह है।

खारवल शिलालेखके बारम्बार पठन अध्ययन व अर्थग्रहणके प्रयास अभी भी जारी है। सही अर्थका निणय अभी तक संभव नहीं हो सका है फिर भी खारवेल जैसे धर्म

---

१ जन साहित्यका मौलिक इतिहास द्वि भाग पृ ४७७ व ४८४ का फटनोट।

२ हेमचन्द्रसूरि परिशिष्ट पर्व ११/३४

महागिरिर्निजं गच्छमन्यददात्सुहस्तिने विहर्तुं जिनकल्पेन स्वकोऽभून्मनसा स्वयम्। व्युच्छेदाज्जिनकल्पस्य गच्छनिश्रास्थितोऽपि जिनकल्पार्हया वृत्या विजहार महागिरि ॥

३ अनेकान्त दिल्ली वर्ष १ पृ ३५१ २।

प्रभावक सम्राटका दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओंमें अनुल्लेख विस्मयजनक है, साथ ही इस संभावनाका पोषक है कि खारवेलका सम्बन्ध यापनीय परम्परासे हो। शिलालेखगत याप (जाप) शब्द इस संभावनाको बल देता है। यही कारण हो सकता है कि श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें अनेक वाचनाओंकी तरह खारवेलके साधुसम्मेलनका उल्लेख नहीं है।

अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय

यापनीयोंके प्रादुर्भावके विमर्शके सम्बन्धमें इस सम्प्रदायपर भी विचार करना उचित जान पड़ता है। बृहत्कथाकोषकार हरिषेण तथा भट्टारक रत्ननन्दीने अर्द्धफालक सम्प्रदायका उल्लेख किया है।

बृहत्कथाकोषके अनुसार दुर्भिक्षकी स्थितिमें जिस समय शिथिलाचारिताका प्रवेश हुआ उस समय स्पष्टतः वस्त्रधारण नहीं किया गया अपितु बायें हाथसे एक वस्त्रखंडको सामने करनेका प्रचलन हुआ।[1]

यह अर्द्धफालक या अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय काल्पनिक न होकर वास्तविक है इसकी पुष्टि मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त अवशेषोंसे होती है।

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त अवशेष

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त जैन अवशेष कनिष्क, हुविष्क और वासुदेवके समयके हैं जिनका समय ईसाकी प्रथम और द्वितीय शताब्दी माना जाता है।[2] वहाँसे प्राप्त शिलालेखके सम्बन्धमें डॉ॰ बुल्हरने लिखा है कि शिलालेखोंमें जो आचार्यों और उनके गण-गच्छोंका उल्लेख मिलता है वह जैनोंके इतिहासके लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शिलालेखोंका कल्पसूत्रोंसे मेल खा जाना एक तो यह प्रमाणित करता है कि मथुराके जैन श्वेताम्बर सम्प्रदायके थे और दूसरे जिस संघभेदने जैन सम्प्रदायको परस्पर विरोधी दो सम्प्रदायोंमें विभाजित कर दिया वह ईस्वी सन्‌के प्रारंभ होनेसे बहुत पहले हो चुका था।[3]

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त जैन अवशेषोंमेंसे एक शिलापट्टसे इसके अस्तित्वका समर्थन होता है। लखनऊ संग्रहालयके तत्कालीन अध्यक्ष डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवालने उक्त शिलापट्टके सम्बन्धमें लिखा है—पट्टके ऊपरी भागमें स्तूपके दो ओर चार तीर्थङ्कर हैं जिनमेंसे तीसरे पार्श्वनाथ (सर्पफणालङ्कृत) और चौथे संभवतः

---

१ बृहत्कथाकोष भद्रबाहुकथा श्लोक ५८ पृ॰ ३१८।

२ जैन साहित्यका मौलिक इतिहास (आचार्य हस्तिमल्ल) प्रस्तावना पृ॰ ३२

३ ऑन द इण्डियन सेक्ट आफ जैनाज पृ॰ ४४

भगवान महावीर हैं। पहले दो ऋषभनाथ और नेमिनाथ हो सकते हैं पर तीर्थंकर मूर्तियों पर न कोई चिन्ह है और न वस्त्र। पट्टमें नीचे एक स्त्री और उसके सामने एक नग्न श्रमण खड़ा हुआ है। वह एक हाथमें सम्मार्जनी और बायें हाथमें एक वस्त्र लिये हुए हैं शेष शरीर नग्न है।

श्वेताम्बर साधुओंमें वस्त्रधारणकी प्रवृत्ति धीरे धीरे समाविष्ट हुई थी। हरिभद्रसूरिने निष्कारण वस्त्रधारण करने वालोंको क्लीब कहा गया है।[२] आरम्भमें जो वस्त्रखण्ड धारण किया जाता था उसे चोलपटट कहा जाता था।[३] चोलपट्टका प्रमाण स्थविरके लिए दो हाथ और युवाके लिए चार हाथ था।[४] बादमें इस वस्त्रखण्डको धागेसे बाँधा जाने लगा। इससे लगता है कि यह अर्द्धफालक सम्प्रदाय श्वेताम्बर परम्पराका पूर्वज है।

बोटिक निह्नव

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने आठवाँ निह्नव बोटिक माना है। उसकी उत्पत्तिकी कथा भी दी है।

वीर निर्वाणके ६ ९ वर्ष पश्चात रथवीरपुरमें बोटिक सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। रथवीरपुरमें दीपक उद्यानमें आर्य कृष्णसे शिवभूति उपधिके विषयमें पूछा। जिनकल्पका प्रकरण आने पर उसने प्रश्न किया— आजकल जिनकल्प क्यों नहीं धारण किया जाता ? आर्य कृ ष्णने उत्तर दिया— उच्छिन्न हो गया पर इस उत्तरसे उसका समाधान नहीं हुआ। उसने कहा— अशक्तके लिए उच्छिन्न हो सकता है समर्थके लिए नहीं।

शिवभूति अपने गुरु कृष्णके प्रति पूर्वसे ही कलषित भावना रखता था अतः विवाद करते हुए उसने कहा— सत्रोंमें अपरिग्रह व्रत कहा गया है। परिग्रहसे कषाय मूर्च्छा भय आदि दोष होते हैं। जिनेन्द्र अचेल थे अत उन्होंने जिनकल्पका विधान किया है। मुनियोंको अचेल परीषह जीतनेका विधान है। सत्रमें तीन स्थानोंको छोड़कर अचेलता कही गई है अत अचेलता ही श्रेयस्कर है। गुरुने समझाया कि यदि परिग्रह कषाय है तो शरीर कषायोत्पत्तिका हेतु है। शरीरादिकी तरह वस्त्र भी मोक्ष-हेतु होनेसे अपरिग्रह ही है। मूर्च्छारहित व्यक्तिके वस्त्र भी अपरिग्रह है। यदि वस्त्ररहित होना ही मोक्षका साधन है तो पशु आदिको मोक्ष होना चाहिए।

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण २ पृ ८ का फटनोट।

२ सम्बोधप्रकरण गाथा ३४।

३ अभिधानराजेन्द्र चोलस्य पुरुषचिह्नस्य प्रावरणवस्त्र चोलपटटम्।

४ प्रवचनसारोद्धार नेमिचन्द्राचार्यरचित द्वार ६१ गाथा ५२ ।

अतिशय उत्कृष्ट संहनन चतुर्ज्ञान ज्ञानातिशयसे सम्पन्न तथा निच्छिद्र पाणिपात्र होनेके कारण जिनेन्द्र अचेल रहते हैं। शिष्योंके उक्त सहननका अभाव होनेसे वे प्रयोजनवश सवस्त्र तीर्थका प्रवर्तन करते हैं अर्थात् निष्क्रमणके समय देवदूष्य धारण करते हैं उसके जीर्ण हो जाने पर दूसरा धारण नहीं करते। यदि जिनवचन मानकर हो जिनकल्प ग्रहण करना चाहते हो तो उन्हीका वचन मानकर जिनकल्पको व्युच्छित्ति क्यों नही मानते।

त जति जिणवयणाता पवज्जसि पवज्ज तो म छिण्णो तु।
अत्थि त्ति पमाणं किध वोच्छिण्णो त्ति ण पमाण॥

आचार्यके समझान पर भी वह वस्त्रत्याग कर चला गया। शिवभूतिके कौण्डिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्य हुए। इन्होसे बोटिकाको परम्परा उद्भूत हुई।

जिभद्रगणिके अनुसार जिनकल्प दिगम्बरत्वका प्रतिरूप है तथा शिवभूतिने व्युच्छिन्न जिनकल्पका पुन प्रवर्तन किया। इस कथाको परवर्ती ग्रन्थकारोने ग्रहण किया है। शोलाक तथा मलयगिरिने भो बोटिकोके प्रति इसी प्रकारका अनादर प्रदर्शित किया है।

श्रीकल्याणविजयने श्वेताम्बर आगामोके अनुसार दिगम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिके विषयमें कहा है— महावीर निर्वाणके चौसठ वर्ष तक उनके शिष्योम स्थविरकल्पक तथा जिनकल्पक दोनों तरहके साध रहे पर बादमें जिनकल्पकका आचरण बद पड गया और लगभग १५ वर्ष तक उसकी कुछ भी चर्चा नही हुई। स्थविरकल्पमें रहने वाले साध यद्यपि नग्नप्राय रहत थे तथापि शोतनिवारणार्थ कुछ वस्त्र तथा पात्र अवश्य रखते थे। यह स्थिति स्थूलभद्रके समय तक चलती रही। स्थूलभद्रके शिष्य आर्य महागिरिने फिर जिनकल्प धारण करके उसे पुनरु जीवित किया। बादमें उनके एव सुहस्तिगिरिके शिष्योंमे स्पष्टत नग्नचर्या और करपात्रवृत्तिको लेकर विरोध होने लगा। आर्य महागिरिसे दो तीन पीढ़ीतक चलकर वह विरोध नामनि शेष हो गया। स्थविरकल्प चलता रहा। सभी श्रमण आचाराग सूत्रके अनुसार एक एक पात्र तथा शीतकालमें ओढनेके लिए एक दो तथा तीन वस्त्र रखते थे। कटिबन्धका भी प्रचार हो गया था। साधओके बस्तीमे रहनेके कारण नग्नताका सवथा अन्त हो गया था। इसी अवसर पर रथवीरपुरमें आर्य कृष्णके शिष्य शिवभूतिने फिरसे जिनकल्पकी चर्चा खडी की और स्वय जिनकल्पी बनकर मतभेदको नवीनरूपसे पल्लवित किया। बोटिक शिवभूतिसे बोडियलिंगकी उत्पत्ति हुई जिनके परम्पराशिष्य कोडकुन्दु और कोट्टवीर हुये। यही दिगम्बरोके पूवज थे।

---

१ विशेषावश्यकभाष्य भाग २ गाथा ३ ३२ ३१ ३।

२ श्रमण भगवान महावीर पृ २८९ और आगे।

इन दोनों वर्णनोंके सम्बन्धमें यहाँ कई प्रश्न उठते हैं—

१ शिवभूतिको कथाका समर्थन क्या किसी अन्य स्रोतसे होता है ?

२ कृष्णशिष्य शिवभूतिका उल्लेख क्या दिगम्बर परम्परामें है ? क्या इनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रमाणित होता है ?

३ क्या बोटिक दिगम्बर थे ? जिनभद्रगणिकी उक्त कथा और उनका अनुकरण करने वाले आचार्योंके सिवाय क्या अन्यने बोटिकमतका उल्लेख किया है ?

शिवभूतिकी कथाका समर्थन किसी अन्य स्रोतसे नहीं होता। दिगम्बर परम्परामें कृष्णशिष्य शिवभूतिका उल्लेख नहीं है। बोटिकोको कथा जिनभद्रके अतिरिक्त कहीं नहीं मिलती। इस कथाके अनुसार शिवभूतिने जिनकल्पका पुन प्रवर्तन किया परन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थोंमे भी यह उल्लेख पाते हैं कि इनके पूर्व आय महागिरि भी वज्रवृषभनाराचसंहननके अभावमें भी जिनकल्पके धारक थ। उनके शिष्य बलिस्सह को भी जिनकल्पी कहा गया है फिर शिवभूतिके प्रति ही आक्रोश क्यों ?

डॉ ज्योतिप्रसाद जैन भगवती आराधनाकार शिवार्यको श्वताम्बर परम्पराके शिवभूति बतलाते हुए कहते हैं— शिवार्य सभवत श्वेताम्बर परम्पराके शिवभूति हैं। ये उत्तरापथको मथुरा नगरीसे सम्बद्ध हैं और इन्होने कुछ समय तक पश्चिमी सिन्धमें निवास किया था।

शिवार्य और शिवभूतिको यदि एक माना जाए तो बोटिक सम्प्रदायका अर्थ होगा यापनीय सम्प्रदाय क्योकि यापनीय सम्प्रदायका श्वेताम्बरोंसे यही भेद है कि अचेलताको उत्सर्ग तथा वस्त्रग्रहणको अपवाद मानते हैं। साथ ही दिगम्बर परम्परा यापनीयोंको श्वेताम्बरोसे उद्भूत मानती है। इस स्थितिमें शिवार्यको यापनीय संघका आद्य आचार्य मानना होगा।

श्वेताम्बर परम्परामें शिवभूतिको कृष्णका शिष्य माना गया है। अपभ्रंशकथाकोशमें भी श्यामलीसुतसे यापनीय परम्पराका आरभ माना गया है।[2] सामलि—सामल—श्यामलको कृष्णका पर्यायवाची माना जा सकता है। सुतका अर्थ शिष्य भी लिया जा सकता है पर शिवार्यने अपने गुरुओका नामोल्लेख किया है उनमें आर्य कृष्णका नाम नहीं है। यहाँ आर्यनन्दि सवगुप्त तथा मित्रनन्दिका उल्लख है।[3] यदि यह मानल कि आर्य कृष्णसे मनवभिन्य रखनेके कारण उनका गुरु रूपमें उल्लेख नहीं

१ द जैन सोर्सेज ऑफ दी हिस्ट्री आफ एशियन्ट इण्डिया पृ १३ –१।

२ श्रीचन्द्रकृत अपभ्रशकथाकोशगत भद्रबाहुकथा पृ ४८१।

सामलिसुएण तत्तो विहिउ जप्पुलियसंघु मूढहिं महिऽ।

३ मूलाराधना कलकत्ता १९७६ गाथा २१६५।

किया होगा तो भी प्रमाणोंके बिना उन्हें नवीन परपराका आद्य आचार्य नहो माना जा सकता। शिवार्यके गुरु सर्वगुप्तका शाकटायनने उपसर्वगुप्तं व्याख्या तार कहकर उल्लेख किया है। इससे शिवार्य और शाकटायनकी भाँति ये भी प्रभावशाली यापनीय आचार्य ही प्रतीत होते है। अत प्रतीत तो यही होता है कि शिवार्यके पूर्व ही यापनीय संघ एक प्रतिष्ठित सघ था। इसके अतिरिक्त देवसेनने यापनीय सघकी उ पत्ति श्रीकलश नाम साधसे मानी है। ऐसी स्थिति मे यापनीय सघके सस्थापक कौन थे यह अनिश्चित ह।

बोटिक शब्द कसे निष्पन्न हुआ? श्वेताम्बर साहित्यमें इसका कोई स्पष्टीकरण नही है। उसके अनुसार शिवभूति बोटिक था उसीके द्वारा प्रवर्तित होनेसे उस सम्प्रदायको बोडियलिंगकी सज्ञा प्राप्त हुई। सभवत नग्न व मु डित होनेके कार। शिवभूतिको बोटिक कहा गया है। बोडियलिंगका अर्थ नग्नवेश प्रतीत होता है।

बोटिक सम्प्रदायकी उल्लिखित कथाके अनसार उच्छिन्न जिनकल्पको स्वीकार करना ही बोटिकसम्प्रदायका श्वताम्बर सम्प्रदायसे भेद है। यापनीय तथा श्वेताम्बर परम्पराकी तुलनाम भो हम यही पात ह कि दोनोमे अ तर केवल अचेलताकी स्थितिमें ही है। स्त्रीमुक्ति केवलिभुक्ति आदि सिद्धान्त तथा आगमसंकलन आदि सभी बातोंम सादश्य है। इस कथाम शिवभूति अपने गुरुमे यही कहते हैं कि शक्तिहीनोंके लिए जिनकल्प व्युच्छिन्न हो सकता है समथके लिए नही। इस कथनसे अपवादरूपमे शक्तिहीनोके लिए स्थविरकल्पको स्वीकृति प्रतोत होतो ह। शिवभतिका उक्त कथन यापनीय परम्पराके ही अनुकूल है दिगम्बर परम्परामे ता वस्त्रकी आपवादिक स्थिति भी अस्वीकृत ह।

बोडियलिंगकी कथामें इसे सचल पर परासे उत्प न अचेल परम्परा बताया गया है। दिगम्बर परम्परा भी यापनीयोकी उत्पत्ति सचेल परम्परासे मानती है।

प कैलाशचद्रजो शास्त्रीने डॉ याकोबीके एक लेखका जिक्र किया ह जिसके अनुसार डॉ हर्मन याकोबी भी इसे दिगम्बर परम्परासे भिन्न किसी परम्पराका उल्लेख मानते है।[2] इस प्रकार बोटिकलिंगका अर्थ यापनीय प्रतीत होता है। शिवार्य याप

१ अर्द्धमागधी कोष व महाराष्ट्रीय व देश्य प्राकृतकोष (परिशिष्ट पाचवाँ भाग) गुलाबवीर ग्रन्थमाला २१ वाँ रत्न १९३८।
उक्त कोशके अनुसार बोडका अथ दुष्ट बोडका अर्थ मूर्ख बोडका अथ धार्मिक और तरुण तथा बोडियका अथ मुण्डितमस्तक किया गया है।

२ जैन धर्मका इतिहास (पूर्वपीठिका) पृ ३९४।
शास्त्रीजी लिखत हैं—जमन ओरियन्टल सोसायटीके जर्नलमें डॉ याकोबीने एक विस्तृत लेख प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होने लिखा है कि 'बोटिक संप्रदायकी उत्पत्ति दिगम्बर सम्प्रदायके बहुत काल पश्चात् हुई है।

नीय परम्पराके एक प्रमुख व प्राचीन आचार्य हैं अत परवर्ती कालमें प्रभावशाली होनेके कारण सम्प्रदायप्रवर्तनकी कथा उन्हीके नाम पर मढ़ दी गई होगी। कालान्तरमें बोटिकका अर्थ दिगम्बर माना गया और प्रमुख दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्दको उनका शिष्य बना दिया गया। इस कथाको निबद्ध रूप देने वाले जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं—उनके पूर्व इस कथाका प्रकाशक कोई अन्य ग्रंथ नही मिलता।

यापनीय सघका प्रादुर्भाव

यहाँ यह विचारणीय है कि यापनीय सघ कब और कैसे प्रादुर्भूत हुआ? जैन साहित्यका आलोडन करन पर जो तथ्य प्राप्त हुए हैं उन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

(क) देवसेनका उल्लेख—दिगम्बर परम्पराके आचार्य देवसेनने अपने दर्शनसारमें यापनीय संघकी उत्पत्तिका उल्लेख करते हुए लिखा है कि यापनीय सघ कल्याण नामक नगरमें श्वेताम्बर मुनि श्रीकलशसे वि स २ ५ मे उत्पन्न हुआ है—

> कल्लाण वरणयरे दुण्णिसए पच उत्तरे जादे।
> जावणियसंघमावो सिरिकलसादो हु सेवडदो॥

देवसेनके इस उल्लेखके अनुमार यह सघ जैन सघके विक्रम सवत् १३६में दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायोम विभक्त होनेके लगभग ६५ ७ वर्ष बाद उदयमें आया। य देवसेन अनक मह वपूण ग्र थाके रचयिता हैं। इन्होंने अनेक ऐतिहासिक सकेत भी प्रस्तुत किये हैं जिन्हे विद्वानोन प्रमाणरूपमें माना है।[२] इन्होंने अपना समय वि स ९९ स्पष्ट दिया है।[३] इनके उल्लेखके अनुसार यापनीय संघ आजसे लग भग १८ वर्ष पहले बन चुका था और अपने अस्तित्वम आ चका था।

(ख) रत्ननन्दि का उल्लेख—दिगम्बर परम्पराके ही आचार्य रत्ननन्दिने अपने भद्रबाहुचरितम यापनीयोकी उत्पत्तिक बारेम लिखा है कि करहाटाक्षके राजाकी रानी का नाम नृपुला देवी था। एक बार रानीने राजासे कहा कि मेरे पतृक नगरसे कुछ

---

१ दर्शनसार गाथा २ ।

२ उदाहरणके लिए देखिए—

जइ पउमणदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणंति॥

३ पुव्वायरियकयाई गाहाइ सचिऊण एयत्थ
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण॥
रइयो दसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवई
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥ दर्शनसार गाथा ४९, ५०।

गुरुजन यहाँ पधारे हैं। आप अनुनयपूर्वक उन्हें यहाँ निमन्त्रित करें। साधुओंके नगरमें प्रवेश करनेपर राजाने देखा कि वे सवस्त्र हैं। उनके हाथमें पात्र और दण्ड भी हैं। इसलिए राजाने उन्हें अनादरपूर्वक लौटा दिया। राजाके अभिप्रायको जानकर रानीने उनसे निर्ग्रन्थवश धारण कर एव पीछी कमण्डल लेकर राज्यमें प्रवेश करनेको प्राथना की। उन साधओंने रानीकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इन्हीं साधुओंने यापनीय संघकी नीव डाली। भद्रबाहुचरितके प्रकरणोपयोगी दो पद्य यहाँ उद्धृत हैं—

तदातिवेलं भूपाद्य पूजिता मानिताश्च ते।
धृतं दिग्वाससा रूपमाचार सितवाससाम्॥
गुरुशिक्षातिग लिङ्ग नटवद् भण्डिमास्पदम्।
ततो यापनसघोऽभूत्तषा कापथवर्तिनाम्॥

इन पद्योंमें कहा गया है कि व साध राजा आदिके द्वारा सम्मानित किये गये। उन साधुओंका रूप दिगम्बरोंका तथा आचार श्वेताम्बरोंका था। उन्होंने गुरुकी शिक्षाका उल्लघन करके वश धारण किया हुआ था। उनका यह वश नटकी तरह हास्यास्पद था। इन कुमार्गगामी साधओंका सघ ही यापनीयसंघके रूपमें विख्यात हुआ।

जिस प्रकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने बोटिकोंकी उत्पत्ति गुरु कृष्णके प्रति शिवभतिके विद्रोहसे बताई ह वैसा ही कथन यहाँ गुरुशिक्षातिग लिङ्गम्— शब्दों द्वारा व्यक्त होता है।

(ग) रविषेण और स्वयंभ द्वारा आचार्य प्रभवका उल्लेख—आचार्य रविषेणने अपनी कथाके स्रोतके विषयमें लिखा है कि वद्धमान जिनेन्द्र द्वारा कथित यह अर्थ इन्द्रभति गौतमको प्राप्त हुआ फिर धारिणीपुत्र सुधर्माको फिर प्रभवको और उनके पश्चात् क्रमसे अनुत्तरवाग्मी कीर्तिको प्राप्त हुआ उनके द्वारा लिखित कथार्थको प्राप्त करके रविषेणने यह प्रयत्न किया है।[2]

स्वयभने अपनी कथाका आधार आचार्य रविषणको बताया है। उन्होंने भी ठीक इसी प्रकार कथन किया है कि वद्धमान मुख-कुहर विनिर्गत इस सुन्दर रामकथा रूपी नदीको गणधर देवोंन बहते हुए देखा है। पहले इन्द्रभूति गौतमने देखा फिर

१ भद्रबाहुचरित ४/१५३ ४

२ पद्मचरितम् १/४१ ४२

वद्धमानजिनेन्द्रोक्त सोयमर्थो गणेश्वर
इन्द्रभूति परिप्राप्त सुधम धारिणाभवम।
प्रभव क्रमत कीर्ति ततोनुत्तरवाग्मिन
लिखितं तस्य सप्राप्य रवेर्यत्नोऽयमुद्गत॥

गुणोंसे अलंकृत धर्म (सुधर्मा) ने फिर संसारसे विरक्त प्रभवने तदनन्तर अनुत्तरवाग्मी कीर्तिधरने। इसके पश्चात् आचार्य रविषेणके प्रसादसे कविराजने इसमें अपनी बुद्धिसे अवगाहन किया। यह उल्लेख इस बातका समर्थन करता है कि यापनीय आचार्य प्रभवस्वामीकी परम्पराके रहे हैं तथा दिगम्बर परम्परा यापनीयोंकी उत्पत्ति श्वेताम्बरोंसे मानती है उसका समर्थन होता है। यद्यपि प नाथूराम प्रमीने जो स्वयभु व त्रिभुवनस्वयंभू नामक निबन्धमें आरम्भिक अंश दिये हैं वहाँ पहवें के स्थान पर एवहिं पाठ है परन्तु सम्पादित कृतिका पहवें पाठ ही उचित मालूम पड़ता है क्योंकि प्रत्येक पक्तिमें एक आचार्यका नाम है यहाँ भी होना चाहिए। पं प्रमीजीने स्वयंभूके हरिवश पुराण (रिट्ठणेमिचरिउ)के भी प्रारभिक व अन्तिम अंश दिये हैं। इस अन्तिम अशमें विष्णुकुमार नन्दिमित्र अपराजित गोवर्द्धन तथा भद्र बाहुकी परम्पराका उल्लेख है। परन्तु यह अश किसी गुणकीर्तिके शिष्य जसकीर्ति की रचना है जैसा कि वहीं पर उल्लिखित है।[२]

(ख) यापनीयोंकी उत्पत्तिके सन्दर्भमें आगमसंकलनपर विचार—स्मृतिके आधार पर सकलित श्रुतको मान्यता प्रदान करन वाली परम्परामें भी मतभेद रहा है। इस संकलनके समय ही श्रुतके अधिकारी विद्वानोंमें मतभद था। प्रथम श्रुतसकलन स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें हुआ। स्थलभद्रके दो प्रमख शिष्य थे—महागिरि और सुहस्ति। इन दोनोंके मध्य जिनकल्प और करपात्रवृत्तिको लेकर विरोध रहा है।[३] आचार्य हेमचन्द्रने महागिरिको जिनकल्पी कहा है।[४] अन्यत्र आचार्य सुहस्तिका गण विशाल बताया गया है। आय सुहस्तिको श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो मान्यता प्राप्त है वह महागिरिको नहीं ह। उनके शिष्य बलिस्सह भी जिनकल्पी कहे गये हैं जबकि श्वे मान्यतानुसार तो जम्बूस्वामीके उपरान्त ही जिनकल्प व्युच्छिन्न

---

१ पउमचरिउ १/६–९

यह रामकह-सरि सोहन्ती। गणहरदेवहिं दिट्ठ वहन्ती॥
पच्छइ इंदभूइ आयरिए। पुणु धम्मेण गुणालंकरिए॥
पुणु पहव संसारारायें। कित्तिहरेण अणुत्तरवाए॥
पुणु रविसेणायरिय पसाए। बुद्धिए अवगाहिय कइराए॥

२ विशेषके लिए देखिए—पं प्रमीका स्वयभू और त्रिभुवनस्वयंभू नामक लेख जैन साहित्य और इतिहास में प्रकाशित पृ २१७।

३ श्रमण भगवान महावीर मुनि कल्याणविजयजी श्री क वि शास्त्रसग्रह समिति जालौर स १९९८ पृ २८९।

४ परिशिष्ट पर्व ११/३४।

हो गया था। इस विरोधमें यापनीयों और श्वेताम्बरोंके पार्थक्यके बीज दृष्टिगत होते हैं।

दूसरी वाचना भी जो एक ही समयमें दो स्थानोंमें वलभी और मथरामें हुई बताई गई है इसका का ण भी आचार्योंम मतभद प्रतीत होता है जो उस समय उभर कर सामने आया होगा। दोनो वाचनाओंके प्रमख नागार्जुन और स्कन्दिल-सूरि वाचनाओंके उपरान्त मिल नही सके थे यह उल्लेख भी मतभेदों की पुष्टि करता है।

यापनीय माथरी वाचनाको मानते थे इसकी पुष्टि पाल्यकीर्तिके स्त्रीमुक्ति प्रकरणगत एक श्लोकसे हाती है जिसमे कोष्ठकमें माथुरागमका उ लेख मिलता है— अष्टशतमेकसमय पुरुषाणामादिरागम (माहुरागमे) सिद्धि (सिद्धम)।[1] यहाँ पाल्यकोतिन जिस आगमोल्लखका सकेत किया है उसे आचार्य प्रभाचन्द्रन उद्धृत किया है—

अटठसयमेगसमये पुरुसाण निव्वुदी समक्खादा।
थोलिंगेण य वीस सेसा दमक त्ति बोध-वा॥

प कैलाशच द्रजी शास्त्रीने अपराजितसूरि रचित विजयोदया सहित भगवती आराधनाका सम्पादन किया है[2] वे इसकी भमिकाम लिखत हैं— अपराजित सूरिन अपनी टीकाम आगमोसे अनेक उद्धरण दिय हं कि तु उनमसे कम ही उनमे मिलते हैं। इससे भी इस बातका समथन होता ह कि इन्ह मान्य आगम ग्रन्थ माथुरी वाचनाके रहे होगे।

जैसा कि हम बता चके हैं दिगम्बर श्वेताम्बर परम्पराओम दिन प्रतिदिन कटता बढ़ती गई। वे नदीकी पथक दिशाओमे प्रवाहित होने वाली दो धाराओको भाँति वे उत्तरोत्तर दूर होती गई। त वज्ञान एक होने पर भी आचा गत भिन्नताके कारण उनमें काफी अन्तर आ गया था। आचाराग आदि श्वेताम्बर साहित्यसे स्पष्ट है कि वे अचेलक परम्पराको उत्सर्ग मानते थे। वस्त्र परिस्थितिविशेषमें धारण किये जा सकते थे। वह अपवाद मार्ग था परन्तु धीरे धीरे उन्होने अपवाद मार्गको ही उत्सर्ग मानकर उत्सर्गको विच्छिन्न घोषित कर दिया। जम्बूस्वामीके समयसे ही अपवादमार्गकी ओर रुचि बढ रही थी। धीरे धीर उपधियाँ बढ़ती ही चली गइ।

---

१ शाकटायनव्याकरणके आरम्भमे प्रकाशित स्त्रीमक्तिप्रकरण कारिका ३५

२ न्यायकुमदच द्र भाग २ माणिकच द्र दिगम्बर जैनग्रंथमाला १९४१ पृ ८६९।

३ भगवती आराधना भाग १ जन सस्कृति संरक्षक सघ शोलापुर १९७८ प्रस्तावना पृ ३६ ३७।

आचाराङ्ग आदिमें जिस वस्त्र-पात्रकी स्थिति परिस्थितिविशेषमें स्वीकृत थी परवर्ती कालमें उसे आवश्यक रूप दे दिया गया। इस शिथिलताका विरोध जिन श्वेताम्बर परम्पराके ही जागरूक आचार्योंने किया व ही संभवत यापनीय आचार्य कहे जाते रहे।

दिगम्बर सम्प्रदायमें आचार्य कुन्दकुन्दने स्पष्ट शब्दोंमें अचेल एव पाणिपात्रको ही मोक्षमार्ग बताते हुए अन्य मार्गोंको उन्मार्ग घोषित किया। अपवादकी कोई स्वीकृति नहीं थी। उन्होंने शिथिलताके प्रवेशको रोकनेके लिए कहा— जिनेन्द्रने अचेल एवं पाणिपात्रको ही एकमात्र मोक्षमार्ग बताया है शेष समस्त अमार्ग हैं। वस्त्रधारी भले ही तीर्थकर हो सिद्धपदको प्राप्त नहीं कर सकता। मुक्तिका मार्ग नाग्न्य ही है शेष उन्मार्ग हैं।

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठ परमजिणवरिंदेहि।
एक्को हि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे॥
ण वि सिज्झइ वत्थधरो जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥[1]

यापनीय संघके प्रादुर्भावको इस स्थितिमें सामञ्जस्य एवं समन्वय स्थापित करनेकी भावनाका प्रतिफल कहा जा सकता है।

दिगम्बर साहित्यम यापनीयोंके जो उल्लेख मिलते हैं उनमे भिन्न भिन्न स्थलों पर उनके संघकी उत्पत्ति बतलाई गई है। कथाओंके अतिरिक्त कोई ऐसे प्रमाण या संकेत उपलब्ध नहीं होते जिनसे यह निर्णय किया जा सके कि उनकी उत्पत्तिका स्थान अमुक एक है और उनका प्रमुख नायक अमुक है। श्वेताम्बर परम्परासे उद्भूत होनेसे दिगम्बर आचार्योंने इन्हें जैनाभास कहा है—

गोपुच्छिका श्वेतवासा द्राविडा यापनीयका।
नि पिच्छिकाश्चेति पञ्चैते जैनाभासा प्रकीर्तिता॥[2]

श्वेताम्बरोंने इसे दिगम्बरोका उपभेद माना है। इसका कारण इसका नग्नताको उत्सर्ग मानना है। साथ ही उत्पत्तिके बाद ये श्वेताम्बरोको अपेक्षा दिगम्बरोंके अधिक समीप होते गये हैं।

दिगम्बराणा चत्वारो भेदा नाग्न्यव्रतस्पृश।
काष्ठासंघो मूलसंघ संघौ माथुरगोप्यकौ॥[3]

स्वय यापनीयोंने अपन बारेमें कोई ज्ञातव्य जानकारी नहीं दी है। इनके उपलब्ध शिलालेखोंसे भी इनकी उत्पत्तिके विषयम कोई सूचना नहीं मिलती।

---

१ सुत्तपाहुड गाथा १० व २३।

२ नीतिसार इन्द्रनन्दिकृत श्लोक १ ।

३ षड्दर्शनसमुच्चय राजशेखरसूरि पृ ४५।

प्राप्त शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि वे दिगम्बरोंके मध्य ही रहते थे। डॉ उपाध्येने इन ऐतिहासिक लेखोका वर्णन करते हुए कहा है कि एतिहासिक लखों विवरणों एवं साहित्यिक उल्लेखोसे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि यापनीय दिगम्बरोंके साथ-साथ रहा करते थ। यापनीयोके कुछ मन्दिर और मूर्तियाँ आज भी दक्षिण भारतमें दिगम्बरों द्वारा पूजे जाते हैं।[1] ये षटखण्डागम आदि सिद्धान्तग्रन्थोंमें पारगत हुआ करते थे। षटखण्डागमको प्रमाण माननम उन्हें कोई विरोध प्रतीत नहीं हुआ होगा क्योंकि सत्प्ररूपणासूत्र ९२।९३ मे उन्हें अपने अभिमत स्त्रीमुक्ति सिद्धान्तका समर्थन प्रतीत हुआ होगा।[2] भगवती आराधनाकी अपराजितसूरिकी टीकासे प्रकट है कि इन्होंने दिगम्बर आचार्यों तथा ग्रन्थोको प्रमाणरूपमे उद्धत किया है पर आगमोंके अतिरिक्त अन्य किसी श्वेताम्बर ग्रन्थ या आचायको प्रमाणरूपसे उपन्यस्त नही किया है। इसका कारण कि ये आरभसे ही शिथिलाचारके विरोधी थे अत इन्होंने आचरण की शुद्धताके समथक दिगम्बरोसे समीपताका अनुभव किया होगा।

जैनोकी इस तीसरी परम्परान दिगम्बरोकी भाँति केवल उत्सर्ग या श्वेताम्बरोंकी भाँति केवल अपवाद माग स्वीकार न करके अपवाद सापेक्ष उत्सग मार्गको अपनाया। इसने न तो स्मृतिके आधार पर सकलित आगमको आमान्य ही किया और न आगामों द्वारा वस्त्रपात्रवादके पोषणको ही अपना लक्ष्य बनाया।

वस्त्रपात्रवाद और स्मृतिके आधार पर सकलित आगम टी सघभेदके मूल कारण रह ह तथा इ ही आधारों पर दिगम्बर और श्वेताम्बर विचारधाराएँ पृथक हुई हैं। कालान्तरमे इन दोनों परम्पराओमे समन्वय करनेके लिए मध्यस्थता जैसा कार्य करनेके लिए यापनीय सम्प्रदायका उदय हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। विचारोकी दष्टिसे सकलित आगमोको मान्यता देनेसे वे श्वेताम्बर परम्पराके सन्निकट ह। आचारो की दृष्टिसे दिगम्बरोके समीप है जैसा कि भट्टारक रत्ननन्दिके पूर्वोक्त उल्लेखसे विदित होता है।

यापनीय शब्दका अर्थ

यापनीय शब्दका मल अर्थ अपने आपमें एक स्वतन्त्र प्रश्न है। इसके लिए यापनीय जापनीय जावलिय जावलिगेय जप्पुलिय आपुलिय आदि शब्दोंका

---

१ यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश शीर्षक निबन्ध अनेकात (त्रमासिक पत्रिका) व वीर–निर्वाण विशेषाक पृ २४४।

२ जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ११ किरण १ मे प्रकाशित डॉ हीरालाल जैनका निबन्ध क्या षट्खण्डागमसूत्र और उनके टीकाकारोका अभिप्राय एक ही है? दृष्टव्य है।

व्यवहार किया गया है। श्री के टी० तैलमके अनुसार यापनीय शब्दका अर्थ है बिना ठहरे सदा ही विहार करनेवाले (भ्रमणशील)।[1] उपाध्येजीने इसका अर्थ निकला हुआ' किया है।[2] उनके अनुसार अवच्छिन्न साधु वे हैं जो यम-यामका जीवन बिताते थे। इस सन्दर्भमें पार्श्वप्रभुके चउज्जाम या चातुर्याम धर्मसे यम-यामकी तुलना की जा सकती है।[3] श्री कल्याणविजयजीका मत है कि जिस प्रकार मथुराके यति परस्पर मिलते एव बिछडते समय मत्थएण वंदामि कहकर एक दूसरेका अभिवादन करते थे इस कारण इस यतिसमूहका नाम ही जनसाधारण द्वारा मत्थेण रख दिया गया तथा वर्षमें एक बार लुचन करने वाले साधु समुदायका कूर्चककी तरह बढी हुई दाढी मूछ देखकर कूर्चिक नाम रख दिया गया ठीक उसी प्रकार यापनीयो द्वारा गुरुवदनके समय जावणिज्जाए' शब्दका कुछ उच्च स्वरमें प्रयोग किये जानेके फलस्व रूप सभवत जनसाधारणने इस साधसमुदायका नाम जावणिज्ज (यापनीय) रख दिया है।

मूलाचार और भगवती आराधनामे (जो कि यापनीय ग्रंथ हैं जैसा कि हम तीसरे अध्यायम देखगे) निर्यापक शब्दका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है यहाँ इसका प्रयोग तारक (पार उतारने वाला) इस अर्थमें हुआ है।

> णिज्जावगो य णाण वादो झाण चरित्त णावा हि।
> भवसागर तु भविया तरति तिहि सण्णिवायेण॥[5]

इन उल्लेखोंको देखते हुए प्रतीत होता है कि निर्यापनीय (पार उतारने योग्य) के भावको व्यक्त करनेके लिए यापनीय शब्द व्यवहारमें आया होगा। उत्कृष्ट ज्ञान और चारित्रके धारक इस साधु-सघका नाम यापनीय पड गया हो।

आचार्य हरिभद्रकी ललितविस्तरामे यापनीयतत्र ग्रंथका उल्लेख है। ग्रन्थके इस नामसे जान पडता है कि यापनीयोने स्वय अपने लिए यापनीय शब्दके व्यवहारको स्वीकार कर लिया था।

डॉ उपाध्येकी तरह या धातुका अर्थ निकला हुआ माने तो इसका अर्थ सचेलक परम्परासे उद्भूत अचेलक परम्परा भी हो सकता है।

---

१ इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ७ पृ ३४ की पादटिप्पणी।

२ जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७ में प्रकाशित यापनीय सघ नामक निबध।

३ यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश वीर निर्वाण विशेषांक अनेकात (त्रैमासिक) १९७५ पृ २४६।

४ पट्टावली-पराग-संग्रह प० कल्याणविजयगणि क वि शास्त्रसंग्रह समिति जालौर, १९६६।

५ मूलाचार १ /७।

हमारा विचार है कि यम अर्थात अहिंसादि महाव्रतों तथा नग्नतापर दृढ़ रहनेके कारण और उसका ही जीवन यापन करनेसे इन्हें यापनीय कहा गया है तथा भवसागरसे पार कराने वाला होनेसे उनके सम्प्रदायको यापनीय सम्प्रदाय। हमारा यह भी विचार है कि इस संघका मूल नाम प्राकृत भाषाका जावणिय या जवणिज्ज आदि रहा होगा जिसका संस्कृत रूपान्तर यापनीय किया गया जिस प्रकार कि मूल 'समण' शब्द संस्कृतमें श्रमण हो गया है।

यापनीयोक उल्लेख

आगमग्रन्थोंमें व्याख्याप्रज्ञप्ति नायाधम्मकहाओ तथा पुष्पिका नामक उपाङ्गमें जवणिज्ज शब्दका प्रयोग मिलता है। इन तीनो स्थलोंम जवणिज्जका अर्थ इन्द्रिय निग्रह और मनोनिग्रहसे है। इन तीनों ग्रन्थोंमें उल्लिखित जवणिज्ज शब्दका संस्कृत रूपान्तर यमनीय या यामनीय हो सकता है। इसीलिए डॉ उपाध्येने इनकी तुलना पार्श्वप्रभुके चातर्यामसे की है। उदाहरणस्वरूप व्याख्याप्रज्ञप्तिके अठारहवे शतकसे निम्नलिखित प्रसग उद्धृत किया जाता है—

सोमिल ब्राहमण तथा भगवान महावीरके प्रश्नोत्तरका प्रसग है—

जत्ता ते भंते। जवणिज्ज (त भते।) अव्वाबाह ते भते। फासुयविहार (ते भते)।

सोमिला जत्ता वि मे। अव्वाबाह वि मे फासुयविहार वि मे। किं ते भंते जवणिज्ज।

सोमिला जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते। त जहा—इंदियजवणिज्जे य नोइंदिय जवणिज्ज य।

यहाँ स्पष्ट है कि जवणिज्ज शब्द इन्द्रिय निग्रह और मनोनिग्रहरूप यमके अर्थमें प्रयुक्त है यापनीयके अर्थमें नही परन्तु यापनीयोके लिए मूल प्राकृत शब्द जवणिज्ज ही रहा होगा जो उनके अशिथिल आचारका द्योतक रहा होगा।

हरिभद्रसूरिने ललितविस्तरामें स्त्रीमुक्तिका वर्णन करते हुए यापनीयतन्त्रको प्रमाणरूपसे प्रस्तुत किया है जैसा कि पहले उल्लेख कर चुके हैं।

राजशेखरसूरिने[२] षड्दर्शनसमुच्चयमें दिगम्बरोके काष्ठा मूल माथुर और गोप्य (यापनीय) संघोका उल्लेख किया है। इसके टीकाकार गुणरत्नसूरीश्वरने इनके विषयमें लिखा है—दिगम्बरा पुनर्नाग्न्यलिङ्गा पाणिपात्राश्च चतुर्धा काष्ठासंघ-मूलसंघ-माथुरसंघ-गोप्यभेदात्। गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभ भणन्ति। स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं च मन्यन्ते। गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते।

---

१ ललितविस्तरा पृ ४२।

२ षड्दर्शनसमुच्चय राजशेखरसूरि पृ ४५।

यापनीयोंके साहित्यसे स्पष्ट है कि इन्होंने अपने सम्प्रदाय आदिका उल्लेख नहीं किया है साथ ही दूसरे सम्प्रदायोंपर आक्षेप भी नहीं किये हैं। संभवत यापनीय साधु अपनी उदारता तथा तटस्थ वृत्तिके कारण ही सम्प्रदायका अनुल्लेख करते थे। अपने सम्प्रदायको गुप्त रखनेके कारण ही इन्हें गोप्य कहा गया होगा। अथवा मन-वचन-काय पर नियंत्रण (गुप्ति) रखनेसे ये गोप्य कहलाते होंगे।

श्रुतसागरसूरिने दंसणपाहुडकी टीकामें यापनीयोंको खच्चरोंके समान दोनों मतोंको मानने वाला बताया है।

यापनीयास्तु वेसरा गर्दभा इवोभय मन्यन्ते रत्नत्रयं पूजयन्ति कल्पं च वाचयन्ति स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं केवलिजिनाना कवलाहारं परशासन सग्रन्थाना मोक्षं च कथयन्ति।

इसके अतिरिक्त जैसा कि कह चुके हैं कि हरिषणके बृहत्कथाकोश देवसेनके दर्शनसार रत्ननन्दिके भद्रबाहुचरित तथा श्रीचन्द्रके अपभ्रंश कथाकोशमें यापनीयोकी उत्पत्तिके सम्बन्धम कथाए आई है। इनमेसे हरिषण[2] तथा [3]श्रीचन्द्रने इनका दो पंक्तियोंमें उल्लेख भर किया है।

जैन साहित्यका गहरा अध्ययन और अनुसधान करने पर भी यापनीय संघके जन्म जन्मस्थली तथा आद्य आचार्य विषयक निर्णयात्मक तथ्य अनिश्चित ही रहता है। डॉ उपाध्येके उल्लेखानुसार कोप्पल (आधुनिक कोप्पल) को यापनीयोका मुख्य पीठ बताया गया है। देवसेनने इस संघकी उत्पत्ति कल्याणनगरमें रत्ननन्दिने करहाटाक्षमें और हरिषेणने सावलिपत्तनमे मानी है। श्वेताम्बर परम्परामेंबोटिकके नामसे इनकी उत्पत्ति मथुराके आस-पास रथवीरपुरमे मानी गई है। शिलालेखीय उल्लेखोंके अनुसार कर्नाटकके कुछ जिल इनके कार्यक्षेत्र थ। आन्ध्र तथा तमिलनाडुमें भी इनके कतिपय शिलालेख मिले हैं।[5] शिलालेखोंके आधार पर ही प्रेमीजीने भी निर्देश किया है कि किसी समय यह सम्प्रदाय कर्नाटक और उसके आसपास बहुत

---

१ दसणपाहुड टीका गाथा १।

२ बृहत्कथाकोश भद्रबाहुकथा सं १३१ व ३१९।

तत काम्बलिकात्तीर्थान्नूनं सावलिपत्तने
दक्षिणापथदेशस्थे जातो यापनसंघक ॥

३ कहकोसु ४७।१८।

सावलिपुरण तत्तो विहिउ जम्बुकियसंघु मूढहिं महिउ।

४ यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश' शीर्षक निबन्ध अनेकान्त १९७५।

५ देखिए दूसरा अध्याय यापनीयोंसे सम्बन्धित शिलालेख।

प्रभावशाली रहा है। कदम्ब[1] राष्ट्रकूट और दूसरे वंशके[2] राजाओंने इस संघको और इसके साधुओंको अनेक भूमिदान आदि दिये थे।

श्वेताम्बर उत्तरभारतसे तथा दिगम्बर दक्षिण भारतसे अपेक्षाकृत अधिक सम्बद्ध रहे हैं। इसलिए संभावना यही है कि इनकी जन्मस्थली उत्तरभारत रही होगी। श्वेताम्बरोंसे पृथक् होनेके पश्चात् ये भ्रमणशील साधु दक्षिणभारतमें पहुँचे। वहाँ नग्नता आदि समान आचार वाले दिगम्बर साधुओंके प्रभावक्षेत्रको इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया होगा। इनकी कार्यस्थली कर्नाटक है यह शिलालेखों से स्पष्ट है। उत्पत्तिस्थलके विषयमें किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना शक्य नहीं है।

●

१ कदम्बवंशी राजाओंके दानपत्र जैनहितैषी भाग १४ अंक ७-८।

२ इ ए १२ प १३ १६ में राष्ट्रकूट प्रभूतवर्षका दानपत्र।

३ इ ए भाग २ पृ १५६ १५७ में पृथ्वीकोंगणि महाराजका दानपत्र।

द्वितीय परिच्छेद

यापनीय व अन्य दिगम्बर सघ

प्रास्ताविक

प्रथम अध्यायमें हम यह बता चुके हैं कि दक्षिण भारतमें यापनीय संघ और अन्य दिगम्बर संघोंके साथ-साथ उल्लेख मिलते हैं। दक्षिण भारत जो यापनीयोंकी कार्य-स्थली है दिगम्बरोंका केन्द्र रहा है। इनके दिगम्बरोंके साथ इस सम्बन्धको देखते हुए तथा परवर्ती कालमें दिगम्बरोंमें विलयको ध्यानमें रखते हुये दिगम्बर संघोंके साथ ही यापनीयोंकी तुलना समीचीन है।

परम्परानुसार भगवान महावीरके निर्वाणोपरान्त लगभग सातसौ वर्षों तक दिगम्बर सम्प्रदाय अविच्छिन्न रहा। श्रुतावतारके रचयिता इन्द्रनन्दिके अनुसार पुण्ड्रवर्धनपुरवासी आचार्य अर्हद्बलिने संघ निर्माणका कार्य किया। अपने कथनके समर्थनमें उन्होंने एक प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किया है—

आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्
देवाश्चान्योपरादिर्जित इति यतिपौ सेनभद्राह्वयौ च।
पंचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभ शाल्मलीवृक्षात्
निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात्॥

भट्टारक इन्द्रनन्दिनने अपने नीतिसारम इसका समर्थन किया है।[1]

डॉ गुलाबचन्द्र चौधरीका कथन है कि अर्हद्बलि द्वारा संघोंकी प्रतिष्ठापनाकी कल्पना मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वयको नवसंघठित करनेवाले आचार्योंकी कल्पना थी इसके पीछे ऐतिहासिक आधार बहुत कम है।[2] श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमें अकलंकदेवके पश्चात् संघोंकी स्थिति बताई गयी है।[3]

दिगम्बर सम्प्रदायके प्रमुख चार संघ हैं—मूलसंघ द्रविड़संघ काष्ठासंघ और यापनीय संघ। इनमें प्राचीन मूल द्राविड व यापनीय तीनों संघोंमें कतिपय गणों व गच्छोंके समान नाम मिलते हैं। मूलसंघमें द्रविडान्वय तथा द्रविडसंघमें कोण्डकुन्दान्वयका उल्लेख मिलता है। मूलसंघके सेन व सूरस्थगण द्रविडसंघमें भी प्राप्त होते हैं। नन्दिसंघ तीनोंमें ही है। मूलसंघके बलात्कारगण काणूरगण यापनीयसंघमें भी हैं। इससे इन संघों की शाखाओंके संक्रमणका पता चलता है।

---

१ श्रुतावतार इन्द्रनन्दि, श्लोक १६।
२ जैन शिलालेख संग्रह भाग ३ प्रस्तावना पृ ४३।
३ जैन शिलालेख संग्रह भाग १ लेख क्रमांक १०८ श्लोक १९-२१।

मूलसंघ—यापनीय द्राविड काष्ठा (गोपुच्छिक) निष्पिच्छिक आदि तथा कथित जैनाभासो को छोडकर शेष दिगम्बर सम्प्रदायको मूलसघ कहा गया है । पं नाथरामजी प्रेमीका कथन है कि अपनेसे अतिरिक्त दूसरोको अमूल—निराधार घोषित करनेके लिए ही नामकरण किया होगा और यह तो वह स्वयं ही उद्घोषित कर रहा है कि उस समय उसके प्रतिपक्षी दूसरे दलोका अस्तित्व था ।

ज्ञात होता है कि जब दिगम्बर सम्प्रदायमें कतिपय शिथिलाचारी संघोका आविर्भाव हो गया तब आचार्य कुन्दकुन्दकी भाँति आचरणकी विशुद्धताके पक्षपाती आचार्योंने शिथिलाचारिताके विरोधमे अपने सघको भगवान महावीरके मूलसघके निकट घोषित करनेके लिये मूलसघ नाम दिया । दिगम्बर सम्प्रदायमे आचार्य कुन्दकुन्द आचरणकी शुद्धताके प्रबल समर्थक थे अत मलसघका सबन्ध आचाय कुन्द कुन्दके साथ स्थापित किया गया तथा अपनेसे अतिरिक्त जैन सघोंको जैनाभासी और मिथ्यात्वी घोषित कर दिया गया । उत्तरकालमें मूलसघका प्रणेता आचार्य कुन्द कुन्दको माना जाने लगा । यही कारण है कि परवर्ती अभिलेखोंम मूलसघके प्रणेता स्पष्टतया आचार्य कु दकुन्द उल्लिखित हैं ।[३] आचार्य कुन्दकुन्द आचारशुद्धताके प्रबल समथक थ और मलसघ भी आचारगत शुद्धताके लिये किय गये आदोलनोका परिणाम है अत मलसघीय मनियो द्वारा उनकी सस्थापनाका श्रय आचार्य कुन्दकुन्दको प्रदान करना स्वाभाविक है ।

मूलसघका सवप्रथम शिलालेखीय उल्लेख नोणमंगलकी ताम्रपटिटकाओंपर है । प्रथम पट्टिकाका समय अनुमानत ३७० ई माना गया है । नोणमगल (मलर तालका) की ही दूसरी ताम्रपटिटकापर माधव द्वितीयके पुत्र एव उत्तराधिकारी कोङ्गुणिवर्मा के अपने गुरु परमाहत विजयकीर्तिके उपदेशसे अपने राज्यके प्रथमवर्षमें ही मूलसघके चन्द्रनन्दि द्वारा प्रतिष्ठापित उरनूरके जिन मन्दिरके लिये एक गाँव प्रदान करने तथा एक दूसरे जिन मदिरके लिय चु गीसे प्राप्त धनका चतुर्थ भाग दानमें देनेका उल्लेख है ।[५] लुइस राइस महोदयने इसका समय सन ४२५ के लगभग माना है ।[६]

---

१ जैन साहित्य और इतिहास द्वितीय सस्करण प नाथूरामजी प्रेमी पृ ४८५ ।

२ इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार ? । गोपुच्छिका श्वेतवासा द्राविडो यापनीयका ।
नि पिच्छिकाश्चेति पचैते जैनाभासा प्रकीर्तिता ॥

३ इडियन एण्टीक्वरी पृ ३४१ ।

४ जन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख नं ९ पृ ५५ ।

५ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख न १४ ।

६ जैन शिलालेख सग्रह भाग ३ की चौधरीकृत प्रस्तावना पृ ७७ ।

उक्त दोनों लेखोंमें मूल संघके पश्चात्कालीन लेखोंमें दिखनेवाले किसी गण गच्छ एवं अन्वय आदिका निर्देश नहीं है। उनका उल्लेख सातवीं शतीके उत्तरार्धसे मिलता है।[1]

मूलसंघके अन्तर्गत देवगण सेनगण सूरस्थगण बलात्कारगण क्राणूरगण तथा नन्दिसंघ (नन्दिगण)के नाम मिलते हैं। नामकरणका आधार मुनियोंके नामान्त शब्द तथा स्थानविशेष अवगत होते हैं।

देवगण

शिलालेखीय उल्लेखोंके आधारसे देवगण सबसे प्राचीन है। इस गणका अस्तित्व लक्ष्मेश्वरसे प्राप्त चार तथा कडबन्तिसे प्राप्त एक लेखसे ज्ञात होता है।[2] इसके पश्चात् अन्य लेखोंमें इसका उल्लेख नहीं मिलता। इसके नामकरणके सम्बन्धमें शिलालेखोंसे कोई प्रकाश नहीं पड़ता। देवगण यह नाम इस गणके प्राय सभी आचार्योंके देवांत नाम होनेसे पड़ा होगा। आचार्योंके नाम पूज्यपाद उदयदेव रामदेव जयदेव विजय देव एकदेव जयदेव अंकदेव महीदेव आदि हैं।

सेनगण

देवगणके समान सेनगण भी प्राचीन है इसका प्रथम उल्लेख सूरतके ताम्रपत्र सन् ८२१ में है। इस लेखमें इसे चतुष्टय मूलसंघका उदयान्वय सेनसंघ कहा गया है। इसकी आचार्य परम्परा मल्लवादी सुमति पूज्यपाद अपराजित गुरु इस प्रकार दी गई है।[3] इसका दूसरा शिलालेखीय उल्लेख मूलगुण्डसे प्राप्त लेखमें सन् ९ ३ का है। इस लेखमें चन्दिकवाटके सेनान्वयके कनकसेन मुनिको अरसार्य नामक व्यक्ति द्वारा एक खेत दान देनेका उल्लेख है। इसमें दी हुई गुरुपरम्परा इस प्रकार है—पूज्यपाद कनकसेन वीरसेन तथा कनकसेन।[4]

आचार्य वीरसेन और जिनसेनने धवला और जयधवलामें अपने वंशको पञ्चस्तूपान्वय कहा है।[5] पञ्चस्तूपान्वयका मूल कुछ विद्वान् पूर्वीय बंगालसे और कुछ मथुराके पञ्चस्तूपोंसे जिनका उल्लेख हरिषेणके कथाकोशमें है[6] मानते हैं। यह पञ्च स्तूपान्वय ईसा की पाँचवी शताब्दीमें निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके साधुओंका एक संघ था

---

१ जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख नं १११।

२ जैन शिलालेख संग्रह भाग २ संख्या १११ ११३,११४ १४९ तथा १९३।

३ जैन शिलालेख सं० भाग ४ स० ५५।

४ जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख संख्या १३७।

५ धवला गाथा ४ जयधवला श्लोक ५।

६ हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश वैरकथानक, श्लोक १३२।

यह बात पहाड़पुर (जिला राजशाही बंगाल) से प्राप्त एक लेखसे मालूम होती है।[1]

सर्वप्रथम नवमी शताब्दीके उत्तरार्ध (सन् ८९८ के पहले) में वीरसेनके प्रशिष्य जिनसेनके शिष्य तथा उत्तरपुराणके रचयिता गुणभद्रने अपनेको सेनान्वयका कहा है।[2] अत पञ्चस्तूपान्वय ही उत्तरकालमें सेनान्वयके नामसे प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। इन्द्रनन्दिके अनुसार भी पञ्चस्तूपसे आये मुनियोंके सघको सेन नाम दिया गया था। वीरसेन जिनसेनके बाद किसी आचार्यने पञ्चस्तूपान्वयका उल्लेख नहीं किया। किंतु सूरतके ताम्रपत्रसे वीरसेनके समयमें ही सेनसघकी परम्पराका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

सेनगणके प्रमुख तीन उपभेद हैं—(अ) पोगरी या होगरीगच्छ (ब) पुस्तकगच्छ तथा (स) चन्द्रकपाट।

पोगरिय गच्छका प्रथम लेख वि सं ९५ का है। इस लेखमें मूलसघ सेनान्वय-पोगरिय गणके आचार्य विनयसेनके शिष्य कनकसेनको ग्रामदानका उल्लेख है।[3] इसके बाद पोगरिगच्छके उल्लेख १३वी शताब्दी तक मिलते हैं। होम्बाडसे प्राप्त एक लेखमे ब्रह्मसेन आर्यसेन-महासेन जिनवर्मकी गुरुपरम्परा दी हुई है[4]। बल-गाम्बेके लेखमे गुणभद्रके सहधर्मी महासेन तथा गणभद्रके शिष्य रामसेनका उल्लेख है।[5] हिरे-आवलिसे प्राप्त लेखमें वीरसेनके सहधर्मी माणिक्यसेनका उल्लेख है।[6] यहींके दूसरे लेखमें चन्द्रप्रभ सिद्धान्तदेवके शिष्य माधवसेन भट्टारकका निदश है।[7] बेतूरसे प्राप्त भग्न कन्नड शिलालेखमे वीरसेन जिनसेन-गुणभद्र-तथा फिर महसेनके पुत्र (शिष्य) मुनि पद्मसेनकी परम्परा प्राप्त होती है।

चन्द्रकवाट अन्वयका पहला लेख मलगुण्डसे प्राप्त लेख है। दूसरा लेख विक्रम सवत ११ का है। यह चालुक्य सम्राट सोमेश्वर प्रथम आहवमल्लके राज्यमें

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १६ किरण १ पृष्ठ १६ जै शि सं० भाग ४ स १९।

२ उत्तरपुराण १/२।

३ जैन शिलालेख सग्रह भाग ४ स ६१।

४ जन शिलालेख सग्रह भाग २ लेखस १८६ पृ २२७।

५ जन शि स भाग २ लेख सं २१७ पृ ३११।

६ जैन शि स भाग ३ लेख स ३२२ पृ ५९।

७ जैन शि स भाग २ लख स २८६ पृ० ४३६।

८ जैन शि सं भाग ३ लेख स ५११ पृ ३५८।

९ जैन शि स भाग २ लेख स १३७।

लिखा गया था। इसमें नयसेन पण्डितको भूमिदानका उल्लेख है। नयसेनकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी गई है—मूलसंघ सेनान्वय चन्द्रकवाट अन्वयके अजितसेन-कनकसेन-नरेन्द्रसेन नयसेन। नरेन्द्रसेन और नयसेन व्याकरणशास्त्रके पण्डित थे। चामुण्डरायपुराणके प्रारम्भमें चन्द्रिकावाटके धर्मसेन कुमारसेन नागसेन वीरसेन चन्द्रसेन नयसेन अजितसेनका उल्लेख है।

सेनगणके तीसरे उपभेद पुस्तकगच्छका उल्लेख १४वी शताब्दीके एक शिला लेखमें है। इनकी गुरुपरम्परा वीरसेन जिनसेन गुणभद्र त्रैविद्यदेव सरसेन कमलभद्र देवेन्द्रसेन कुमारसेन हरिसेन प्रभाकरसेन लक्ष्मीसेन है।[२]

सोनागिरिके एक मूर्तिलेखम पुष्करगच्छ ऋषभसेनान्वयके विजयसेन व लक्ष्मीसेनका उल्लेख है। यहाँ सेनगणका नाम नहीं है किंतु अन्य लखोंसे विदित होता है कि यह पुष्करगच्छ पोगरिगच्छ ही ह।[३]

हिरे आवलिसे इस सेनगणके कई लेख प्राप्त हुए हैं जो १२वी से १५वीं शताब्दी तकके हैं। इस आधारपर यह स्थान इस गणके साधुओंका प्रमुख केन्द्र माना गया है। एक लेखम सेनगणके साथ कुन्दकुन्दान्वय जुडा ह। सम्भव है १५वीं शताब्दीसे इस गणका प्रभाव क्षीण होने लगा था पर सेनगणकी पुष्करगच्छ शाखा कारजामें १५वी से २ शती तक विद्यमान थी।

दशीगण

दक्षिण भारतम कन्नड प्रातका वह भाग जो पश्चिमी घाटके उच्चभमिभाग बालाघाट और गोदावरी नदीके बीचमें है प्राचीन समयम देश कहलाता था। यहाँके साधुओंका गण देश देसिय देसिग एवं महादेसि गण कहा गया है। शिलालखोंके अवलोकनसे प्रतीत होता है कि कर्नाटक प्रातके कई स्थान इस गणके केन्द्र थे। इनम हनसोगे (चिकहनसोगे) प्रमुख था। यहांके आचार्योंसे ही इस गणकी हनसोगे बलि या गच्छ निकला है। गच्छका अर्थ शाखा तथा बलिका अर्थ परिवार किया गया है।[६]

---

१ जैन शि सं भाग ४ लेख स १३८।

२ जन शि स भाग ४ लेख स ४१५।

३ जैन शि सं भाग ५ लेख सं २५८।

४ उदाहरणार्थ—जैन शि स भाग २ लेखस २८६ भाग ३ लेखस ३२२ ५३८ ६११ आदि।

५ जैन शि स भाग ३ सं ५३८।

६ जैन शि स भाग ३ प्रस्तावना पृ० ५४।

चिकहनसोगेसे प्राप्त शिलालेखोंके अनुसार वहाँ इस गणकी अनेक बसतियाँ थीं जिन्हें चगाल्व नरेशों द्वारा संरक्षण प्राप्त था। हनसोगे बलि (पनसोगे बलि)[२] तथा इगुलेश्वर बलि[३] पुस्तक गच्छके ही दो प्रमुख उपभद हैं।

पुस्तकगच्छ इस गणका प्रमख गच्छ है जिसके लगभग १ लेख पाँचो संग्रहोंमें संग्रहीत हैं। हगरिटगेके लेखम पुस्तकगच्छके गोमिनि अन्वयके मुनिके समाधिमरणका उल्लख है।

लखोकी सहायतासे हनसोगे बलिके आचार्योंकी यह परम्परा प्राप्त होती है—पूर्णचन्द्र-दामनन्दि श्रीधर मलधारिदेव। मलधारिदेवके तीन शिष्य दामनन्दि चन्द्र कीर्ति व शुभचन्द्र। चन्द्रकीर्तिके शिष्य दिवाकरनन्दि। दिवाकरनन्दिके जयकीर्ति व कुक्कुटासन मलधारिदेव अपरनाम गण्डविप्रमक्त। कुक्कुटासनमलधारिदेवके शुभचन्द्र।[५] चिकहनसोगेसे प्राप्त एक अन्य लेखमें इस बलिके श्रीधरदेवके शिष्य नेमिचन्द्रके समाधिमरणका उल्लेख है।[६] एक लेखम नयकीर्तिके शिष्य बलिचन्द्र तथा अन्यत्र ललितकीर्ति देवचन्द्र तथा नयकीर्तिका उल्लेख है।

पुस्तकगच्छकी वाणद बलिका उल्लेख भी एक लेखमें है।

देशीगणके दूसरे उपभद आर्यसघ प्रतिबद्धग्रहकुलका उल्लेख १ वी शताब्दीके एक लेखमें है। यह लख उडीसाके खण्डगिरिपर मिला ह।

देशीगणका तीसरा उपभेद चन्द्रकराचार्याम्नाय मध्यप्रदेशसे प्राप्त एक लखमें ह। मैणदान्वय नामक चौथे उपभेदका उल्लेख १३वी शताब्दीके लेखमें मिलता है। दो

---

१ जै शि स भाग २ लख न १७५ १९५ १९६ २२३ २४ २४१।
२ ज शि स भाग ३ लेख स २२३ २३२ २३९ २४१ २५३ २६९ २८४ २८५ ३७२ ४४९ ५२६ ५५१ ५६ आदि।
३ जै शि सं भाग ३ स ४११ ४६५ ५१४ ५२१ ५२४ ५७१ ५८४ ६ ६७३ आदि।
४ जै शि स भाग ६ स १३९।
५ जै शि सं भाग ३ स २२३ २३२ २३९ २४१ २६ २६९ आदि।
६ जै शि स भाग ४ लेख स ७४।
७ जै शि स भाग ४ लेख स २७२।
८ जै शि स भाग ४ स २९२ ३३५ ४१६ ५३८।
९ जै शि० स भाग ३ स ४७८।
१ जै शि सं भाग ४ सं ९४।
११ जै शि स० भाग ४ स २१७।
१२ जै शि स भाग ४ स ३७२।

लेखोंमें इस गणके वक्रगच्छको परम्परामी गयी दी है। श्री कत्तिले बस्तीके स्तम्भ-लेख पर मूलसघ देशीगण वक्रगच्छ को डकुन्दान्वयके वडडदेवबलिके देवेन्द्र सिद्धान्तदेवके समकालीन शिष्योंका उल्लेख है। देवन्द्र सिद्धान्तदेवके शिष्य वृषभनन्द्याचार्य तथा चतुर्मुखदेव। चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि। गोपनन्दिके सधर्मा महेन्द्र चन्द्र-पण्डित-देव। चतुर्मुखदेवके शिष्य प्रभाचन्द्र उनके सधर्मा दामनन्दि गुणचन्द्र माघनन्दि सिद्धान्तदेव जिनचन्द्र देवेन्द्र वासवचन्द्र त्रिमष्टिमुनीन्द्र हुए। त्रिमुष्टि मुनीन्द्र गोपनन्दि आचार्यके शिष्य थे। इनके सधर्मा माघनन्दि कल्याणकीर्ति व बालचन्द्र मुनि हुये।[१] हुलेबीडके कन्नड शिलालेखम वक्रगच्छतिलक बालचन्द्रकी प्रशंसा है। इनके शिष्य रामदेव बताये गय हैं। चौधरीजीने इसे पुस्तकगच्छका दूसरा नाम कहा है।[३] पर दोनों लेखोंमें वक्रगच्छ या पुस्तक गच्छको एक नही कहा गया है।

कोण्डकुन्दान्वय देशीगण

कोण्डकुन्दके साथ देशीगणका सर्वप्रथम प्रयोग सन ९३१ में हुआ है। मकराके ताम्रपत्रोमें देशीयगण कोण्डकुन्दान्वयका प्रयोग है। परीक्षण किये जाने पर ये लेख कृत्रिम सिद्ध हुये हैं।[६] कोण्डकुन्दान्वयका अर्थ कोण्डकुन्दसे निकला हुआ मनिवश जैसे अरुगलान्वय कित्तरान्वय आदि पर जहाँ किसी गण या परम्पराके साथ प्रयुक्त हुआ है वहाँ इस गण या परम्परासे सम्बद्ध सघ होता है। कतिपय विद्वान साहित्यिक उल्लेखोके आधारपर मूलसघ और कुन्दकुन्दको पर्यायवाची मानते हैं।

वदनगुप्पे समय ८०८ ईसवीके लेखम कोण्डकुन्देय अन्वयके सिमलगगरु गणके कुमारनन्दि एलवाचार्य-वर्धमानगुरु इस परम्पराका उल्लेख है। कोण्डकुन्दान्वयका स्वतन्त्र प्रयोग ८-९ वी शताब्दीके लेखोंमें है। कोण्डकुन्दान्वयको गण भी माना गया है। गङ्गनरेश मारसिंह प्रथमके प्रभावक सेनापति श्रीविजयन मण्णम एक विशाल जिनालय बनाकर तोरणाचार्यके प्रशिष्य व पुष्पनन्दिके शिष्य प्रभाचन्द्र मुनिको

---

१ जै शि सं भाग १ सं ५५।

२ जै शि सं भाग २ स ४२६।

३ जै शि स भाग ३ की चौधरी कृत प्रस्तावना प ५६।

४ जै शि स भाग २ लेख नं १५।

५ इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग १ प ३६३-३६५ मे प्रकाशित।

६ जैन शिलालेख संग्रह भाग ३ की चौधरीकृत प्रस्तावना पृ ४७ का फुटनोट।

७ जै शि स भाग २ लेख स १८।

८ वही सं १२२ १२३ १३२।

९ वही स १२२।

बसदिके लिय एक गांव ओर कुछ भमियाँ दानमें दी थी।[1] उक्त श्रीविजय द्वारा निर्मापित जिनभवनके लिए प्रभाचन्द्र मुनिके शिष्य बप्पययके लिये एक गांव दानमें दिया।[2] हुम्मचसे प्राप्त एक लेखम कोण्डकु दान्वयके मौनिसिद्धान्त भटटारक का उल्लेख है।[3]

मूलसघके साथ देशीगण कोण्डकु दा वयका प्रयोग ८६ ई के लेखमें है।[4] यह लेख बहुत समय तक ताम्रपत्रके रूपमें रहा बादमें मनि मेघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य वीरनन्दि मुनिने कुछ लोगोंके आग्रहसे पाषाणपर उत्कीर्ण कराया था। सभवत लेखके उत्कीर्णन काल (१२वी शताब्दी) में मूलसघ और कोण्डकुन्दान्वय पर्यायवाची हो गये थ अत यहाँ मूलसव ओर जोड दिया गया प्रतीत होता है।

लेखोय आधारोंसे प्रतीत होता है कि कोण्डकुन्दान्वयका प्रचलन ई ७वीके उत्तरार्धसे प्रारंभ हुआ था और उसने ८ ९वी शताब्दीम प्रभावशाली बननेके प्रयत्न किये थे। उसका प्रथम प्रभाव कर्नाटक प्रान्तके देशस्थ साधुओ पर पडा जिसके सम्पर्कसे देशियगण कोण्डकुन्दान्वयके कहलाने लग।

कतिपय लेखोके आधारपर देशीगण कोण्डकु दान्वयकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—त्रकालयोगोश—देव द्रमनि चा द्रायणद—गुणचन्द्र अभयनन्दि शीलभद्र भट्टार जयनन्दि गुणनन्दि व च द्रनन्दि।

कोण्डकुन्दान्वयका कुछ प्रभाव द्रविड सघ पर भी पडा था पर वह प्रभाव स्थायी न था क्योंकि एक लेखके अतिरिक्त औ किसी लेखम द्रविड सघ कोण्ड कुन्दान्वयका उ लेख नही मिला।[6]

सूरस्थ गण

सरस्थगणका सर्वप्रथम उल्लेख कादलर ताम्रपत्रका है। लेखोमें इसका नाम सूरस्त सुराष्ट्र एव सूरस्थ है। इन लेखोमें इसके अ वय या गच्छ आदिका उल्लेख नही है। अ य लेखोंसे इसके चित्रकटा वयका पता चलता है। सूरस्थगण प्रारभमें

१ जै शि स भाग २ लेख स १२२।
२ वही १२३।
३ वही १३२।
४ वही १२७।
५ वही स १२७ १५ २ ४ २३३ २५६।
६ वही स १६६।
७ वही भाग ५ क्रमाक १७
८ वही भाग २ क्रमाक १२७ १५ २ ४ २५६।
९ जै एण्टीक्वेरी भाग ११ अक २ पृ ६३—५।

मूलसंघके सेनगणसे सम्बन्धित बताया गया है। मूलसंघकी एक शाखा सौराष्ट्र गण (सूरस्थगण) धारवाड़ तथा बीजापुर जिलेमें कार्यशील थी।

इसके दो उपभेदो—चित्रकूटान्वय तथा कौरगच्छका पता चलता है[1]। इस गणकी परम्परामें इन आचार्योंके उल्लेख हैं—अनन्तवीर्य बालचन्द्र प्रभाचन्द्र कल्नेलेयदेव (रामचन्द्र) अष्टोपवासिमुनि हेमनन्दि विजयनन्दि एकवीर और उनके सधर्मा पल्ल पंडित। इसमें हेमनन्दि मुनीश्वरको राद्धान्तपारग और सूरस्थगणभास्कर बतलाया गया है।[2] कादलर ताम्रपत्रमें प्रभाचन्द्र योगीश—कल्नेलेयदेव—रविचन्द्रमुनीश्वर—रविनन्दिदेव—एलाचार्य मुनीन्द्र इस प्रकार बतायी गयी है।[3]

अविकगुन्दके लेख में जयकीर्ति भट्टारक तथा अलदगेरिके १३वीं शतीके तीन लेखोंमें[4] इस गणकी नागचन्द्र—नंदिभट्टारक—नयकीर्ति इस आचार्य-परम्पराका उल्लेख है। इस गणके किसी भी लेखमें कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख नहीं है।

क्राणूरगण

क्राणूरगणके तीन उपभेदोंका पता चलता है—तिन्त्रिणी गच्छ मेषपाषाणगच्छ और पुस्तकागच्छ। ९ वी शताब्दीसे १६वीं शताब्दी तक इस गणके उल्लेख प्राप्त होते हैं। मूलसंघके देशियगण और क्राणरगणकी अपनी-अपनी वसतियाँ होती थी। दडिगसे प्राप्त एक लेखमें लिखा है कि होयसल सेनापति मरियाने और भरतने दडिगकेरे स्थानम पाँच वसतियाँ बनवायी थी जिसमें चार देशियगणके लिये तथा एक क्राणरगणके लिये थी।[6]

कल्लूर गच्छसे प्राप्त एक लेखम क्राणूरगण मेषपाषाणगच्छके आचार्योंकी वंशावली दी है। दक्षिण देशवासी गंग राजाओंके कुलके समुद्धारक श्री मूलसंघके नाथ सिंहनन्दि नामके मुनि थे। इनके पश्चात अर्हद्बल्याचार्य बेट्टद—दामनन्दि—भट्टारक बालचन्द्र भट्टारक मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव गणचन्द्र पण्डितदेव गणनन्दि हुए। इनके बाद महान तार्किक एवं वादी प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव हुए। उनके शिष्य-माघनन्दि सिद्धान्तदेव और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए। इनके सधर्मा अनन्तवीर्य मुनि मुनिचन्द्रमुनि उनके शिष्य श्रुतकीर्ति उनके शिष्य कनकनन्दि त्रैविद्य हुए

---

१ जै शि स भाग ४ सं १५३ १५८ २३८ ३७४ व ११७।
२ वही भाग २ लेखस २६९।
३ वही भाग ५ क्रमाक १७।
४ वही भाग ५ लेख स ११८।
५ वही भाग ५ क्रमांक १६३ ५।
६ जै एण्टीक्वेरी भाग ९ अंक २ पृ० ६९, न ५८।

जिन्हें राजाओके दरबारमें त्रिभुवन—मल्लवादिराज कहा जाता था। इनके सधर्मा माधवचन्द्र उनके शिष्य बालचन्द्र त्रविद्य थे।[1] पुरलेके लेखम इस गच्छके कई मुनियों के उल्लेख हैं।[2]

क्राणूरगणके तिन्त्रिणीगच्छकी आचार्यपरम्पराका उल्लेख भी कई लेखोंसे मिलता है। रामनन्दि—पदमनन्दि—मुनिचन्द्र। मुनिचन्द्रके दो शिष्य भानुकीर्ति एव कुलभषण। भानुकीर्तिके शिष्य नयकीर्ति और कुलभूषणके सकलचन्द्र हुए।[3]

क्राणूरगणके एक तगरिलगच्छका भी उल्लेख ह।

क्राणूरगणका उल्लेख यापनीय सघमें भी मिलता है।

बलात्कारगण

नन्दिसघकी गुर्वावलिके अनुसार बलात्कारगणके अग्र ी पद्मनन्दि हुए जिन्होंने सरस्वतीकी पाषाणमूर्तिको वाचाल कर दिया था। दिगम्बर—श्वेताम्बरोंके शास्त्रार्थके अनेक उल्लेख ह तथा सवत्र दिगम्बर शास्त्रार्थकारके रूपमे पद्मनन्दि ही उल्लिखित हैं। बलात्कारगणके आचार्योंने भी अपन गणके आद्य पद्मनन्दि (कुन्द कुन्दाचार्य) को ही माना है। मूलसघके साथ नन्दिसघ बलात्कारगण सारस्वतगच्छके आद्य आचार्य पद्मनन्दि ही बताये गये हैं। इनके एलाचार्य कुन्दकुन्द आदि पाँच नाम बताये गये हैं।[5]

बलात्कारगणका प्रथम उल्लेख मैसूरसे प्राप्त १ ७१ ७२ ई के लेखमे है। इसमें वधमान महावादी विद्यानन्द गुणकीर्ति विमलचद्र गणचन्द्र गण्डविमुक्त उनके गुरु बन्धु अभयनन्दिका उल्लेख है। इसके अगले लेखम अभयनन्दि सकलचन्द्र गण्ड विमक्त (द्वितीय) त्रिभवनचन्द्रका उल्लेख ह। डा चौधरीके अनुसार बलगार नामक स्थानविशषसे निकलनके कारण वह बलगार नामस ख्यात हुआ होगा। इस नामका

१ जै शि स भाग २ लेख स २२७।

२ वही भाग २ लेख स २९९।

३ वही भाग ३ लेख स ३१३ ३७७ ३८९ ४ ८ और ४३१।

४ वही भाग १ लेख स ५ ।

५ नन्दिसघ गुर्वावली श्लोक न ६।

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता यन वादिता श्रीसरस्वती॥

६ जै शि स भाग ३ स ५८५।

७ ज शि स भाग ४ सं १५४ व १५५।

एक स्थान भी दक्षिण भारतमें है।[1] पं परमानंदजी शास्त्रीके अनुसार बलात्कार स्यानवाची न होकर जबर्दस्ती क्रियायोंमें उद्यत होने या लगने आदिके कारण इसका नाम बलात्कारगण हुआ जान पड़ता है। डॉ चौधरीका अनुमान ही हमें भी उचित जान पड़ता है।

बलात्कारगणका उल्लेख श्रीनन्दिके शिष्य श्रीचन्द्रके उत्तरपुराणके टिप्पण पुराण सार तथा पद्मचरितटिप्पणको प्रशस्तिमें किया है। इनका समय सन् १ ३ है। इस गणमें अनक विद्वान भट्टारक हुए हैं उनके पट्ट भी अनेक स्थानो पर रहे हैं। इस कारण बलात्कारगणका विस्तार अधिक रहा है। उसकी दो शाखाय कारजा एव लातूरमें स्थापित हुई थों। सूरतमें भी बलात्कारगणकी गद्दी थी। ग्वालियर और सोनागिरि माथुरगच्छ और बला कारगणके केन्द्र थ। देहली जयपुर नागौर ईडर आदिमें इसका विस्तार हुआ है किंतु इसके अधिकाश उल्लेख कर्नाटकमे प्राप्त हुए हैं।

प्राय चौदहवी शताब्दीसे इसके साथ सरस्वतीगच्छ जुडा है। बलगाम्बके लेखमें बलात्कारगणके चित्रकूटाम्नायके मुनि मुनिचन्द्र और उनके शिष्य अनन्तकीर्तिका उल्लेख है। कोणूरके लेखमें मनियोकी परम्परा दी गयी ह—नयनन्दि—श्रीधर। श्रीधरके तीन शिष्य चन्द्रकीर्ति श्रतकीर्ति और वासुपूज्य। चन्द्रकीर्तिके नेमिचन्द्र और वासुपूज्यके पद्मप्रभ।[5]

चौदहवी शतीके उत्तरार्धसे इस गणका विशेष प्रभाव द्योतित होता है। १३७१ ई० के तवनन्दिके शिलालेखम बलात्कारगणके अग्रणी सिंहनन्द्याचार्यका उल्लेख है।[6] अन्य दो लेखोंमें इस गणकी परम्परा इस प्रकार मिलती है—कीर्तिदेव कीर्तिदेवके शिष्य सुदाम और देवेन्द्रविशालकीर्ति देवेंद्र विशालकीर्तिके शुभकीर्तिदेव और उनके भट्टारक—धर्मभूषण (प्रथम) अमरकीर्ति। अमरकीर्तिके दो शिष्य धमभूषण (द्वितीय)

---

१ जै शि सं भाग ३ प्रस्तावना प ६२।

२ जै धर्मका प्राचीन इतिहास भाग २ पृ ५७।

३ उत्तरपुराणटिप्पण बलात्कागणश्रीश्रीनन्दाचायसत्कविशिष्येण चन्द्रमुनिना। पद्मचरितटिप्पण श्रीमद्बला (त्कार) गणश्री सघ

४ जै शि स भाग २ लेख न २ ८।

५ वही भाग २ लेख स २२७।

६ वही भाग ३ स ५६९।

व सिंहनन्दि। धर्मभूषणके वर्धमान स्वामी। वर्धमान स्वामीके धर्मभूषण (तृतीय)[1] वी अन्य लेखोंमें भी इनके उल्लेख मिलते हैं।[2]

धर्मंजयसे प्राप्त लेखकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—

सकलकीर्ति भुवनकीर्ति ज्ञानभषण विजयकीर्ति शभचन्द्र सुमतिकीर्ति गुण कीर्ति वादिभूषण रामकीर्ति पद्मनन्दि।[3] चितौडके सन १३ के लेखमें उत्तर भारतमें इस गणकी आचाय परम्परा निम्नप्रकार दी गयी है—केशवचन्द्र—देवचन्द्र—अभयकीर्ति—वसन्तकीर्ति—बिशालकीर्ति—शुभकीर्ति—धर्मच द्र। चितौडके एक अन्य लेख व देवगढके लेखसे इसका समर्थन होता है।[5]

देवगढसे प्राप्त एक लेखम बला कारगणके मदसारदगच्छकी गुरुपरम्परा दी गई है। यह श्रीमद् शारदगच्छ अर्थात् सरस्वतीगच्छ ही है।[6]

परम्परा इस प्रस प्रकार है धमचन्द्र—रत्नकीर्ति—प्रभाच द्र—पदमनन्दि—शुभचन्द्र। इस गणके भट्टारकोने पर्याप्त ग्रन्थ-सर्जना की है।

नन्दिगण

श्रवणबेलगोलसे प्राप्त पाँच छह लेखोंमें नन्दिगणकी पटटवलियाँ दी गयी हैं। वह परम्परा इस प्रकार है—पद्मनन्दि (कोण्डकुन्द) के अ वयमें उमास्वाति–बलाक पिच्छ–गणनन्दि–देवे द्र सैद्धान्तिक–कलधौतनन्दि। इस संग्रहमें लेख न ४ में बलाकपिच्छके बाद देवनन्दि (पूज्यपाद) और अकलकका नाम दिया गया है। इसी लेखमें कहा गया है कि मलसघके नन्दिगणका प्रभद देशीगण हुआ जिसमें गोल्लाचार्य नामके प्रसिद्ध मुनि हुये। लेख न १ ८ के शिलालेखमें भी इसी प्रकार नन्दिसंघ सदेशीगण गच्छे च पुस्तके' कहा गया है। इसी प्रकार न ४२ ४३ ४७ ५

१ वही भाग १ से १११ तथा भाग ३ लेख ५८५ तथा डॉ दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित न्यायदीपिका प्रस्तावना ९१ ९६
२ जै शि स भाग ३ सं ६६७ व ६९१।
३ जै शि स भाग ३ स ७ २।
४ जै शि स भाग ५ सं १५२।
५ वही १५३ १७२।
६ जै शि स भाग ४ प्रस्तावना—जोहरापुरकर फुटनोट पृ १२।
७ जै शि स भाग ३ स ६१७।
८ जै शि स भाग १ लेख स ४ ४२ ४३ ४७ व ५।
९ वही ४ श्लोक न १३ पृ २५।

आदि लेखोंमें भी आरंभमें नन्दिसंघका उल्लेख है तथा बीचमें या अन्तमें मूल सघ देशीगणका उल्लेख है।[1]

नन्दिगणकी परम्पराके गुणनन्दि देवेन्द्र सैद्धान्तिक आदि देशियगणकी परम्परासे सम्बन्धित हैं यह देशीगणकी अन्य आचार्यपरम्पराओंसे ज्ञात होता है। कोण्डकुन्दाचार्य उमास्वाति समन्तभद्राचार्य आदि आचार्योंके नाम द्रविडसघसे सम्बन्धित नन्दिगणके ११ वीं शताब्दीके लेखोंमें भी दिखाई देते हैं।

मूलसंघ और द्रविडसंघके लेखोंमें नन्दिगणके प्राचीन आचार्योंके नाम एकसे देखकर चौधरीका अनुमान है कि इन दोनों सघोंमें कोई प्राचीन नन्दिगण बाहरसे सम्मिलित किया गया होगा। यापनीयसघमें नन्दिसंघ महत्त्वपूर्ण था। इसीसे द्रविड-सघ और मूलसघने नन्दिगणको अपनाया है।[2]

प्रथम भागके लेख नं १ ५ तथा १ ८में नन्दिगणको नन्दिसंघ कहा गया है यही सेन नन्दि देव और सिंह इन संघोंका इतिहास भी दिया गया है।

नविलर या नमिलर सघका उल्लेख भी कुछ लेखोंमें है। एक लेखमें इसे ही पहले नमिलर फिर मयूर सघ कहा गया है। एक अन्य लेख में इसे मयूर ग्राम सघ कहा है। स्पष्ट उल्लेख न होनेपर भी डॉ हीरालालजीने इसे देशीगणके अन्तर्गत माना है।[3]

निगमान्वय

(बीजापुर) विजापूर मैसूरसे सन १३११ का एक लेख मूलसघ निगमान्वयका प्राप्त हुआ है। इसमें कृष्णदेव द्वारा एक मूर्ति स्थापनाका उल्लेख है।[4]

कूर्चक सम्प्रदाय

कदम्ब राजवशके दानपत्रोंमें कूर्चकोंके सम्प्रदायका उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि कर्नाटक प्रान्तमें ईसाकी पाँचवी शताब्दी या उसके पहले जैनोंका एक सम्प्रदाय कूर्चक नामसे और वह निर्ग्रन्थ श्वेतपट और यापनीय संघसे पृथक था क्योंकि एक दानपत्रमें मृगेशवर्मा द्वारा स्वर्गगत शान्तिवर्माकी भक्तिसे पलाशिका नामक नगरमें जिनालय निर्माण कराके अपनी विजयके आठवें वर्षमें यापनीयों निर्ग्रन्थो और कूर्चको के लिये भूमिदानका उल्लेख है।[5]

---

१ जै शि स भाग २ लेख स २१३ २१४ २८७ आदि

२ जै शि सं भाग ३ प्रस्तावना पृ ५७

३ जै शि स भाग १ की प्रस्तावना डॉ० हीरालाल जैन

४ जै शि स भाग ४ स ३९०

५ जै शि सं भाग २ लेख सं ९९

प्रेमीजी के अनुसार दाढ़ी-मूछ रखनेके कारण जैन साधुओका यह सम्प्रदाय कूर्चक-सम्प्रदाय कहलाता होगा । वरागचरितके कर्ता आचार्य जटासिंहनन्दि संभवत ऐसे ही साधुओमें थे जिनकी जटाओका वर्णन जटा प्रचलवृत्तय के रूपमें आचार्य जिनसेनने अपने आदिपुराणम किया है । उत्तराध्ययन और बृहत्कल्पसूत्रके लघुभाष्य और वत्तिमें कूर्ची साधुओके उल्लेख है जो प्रसगत अजैन साधओके प्रतीत होते हैं । इस परसे अनमान होता है कि जैन साधुओंमें भी कूर्चक-सम्प्रदाय रहा होगा ।[1]

लेख न १ ३ म बहुवचनका प्रयोग है जिससे कूर्चक सम्प्रदायके कई सघ होनेका ज्ञान होता है । इसी लेखम कूचकोके अवान्तर भेद वारिषणाचार्य संघका उल्लेख है । इसके अनुसा उक्त सघके प्रधान मुनि चन्द्रक्षान्तको कदम्ब नरेश हरिवर्माने अपने पितृव्य शिवरथके उपदेशसे सिंह सेनापतिके पुत्र मृगेश द्वारा निर्मापित जैन मन्दिरम अष्टाह्निका पूजाके लिय तथा सवसघके भोजनके लिये वसुन्तवाटक नामक ग्राम दानम दिया था ।

लेख न १ ३ म अहिरिष्टि नामक एक और श्रमणसघका उल्लेख है जिसे सेन्द्रक सामन्त भानुशक्तिकी प्राथना पर कदम्बनरेश हरिवर्माने मरद नामक ग्राम दानमें दिया था । उक्त सघके आचाय धर्मनन्दिको यह दानमे भट किया गया था ताकि व अपन अधीन चत्यालयकी पूजा आदिका प्रबन्ध कर सकें और उस दानका उपयोग साधओके लिये भी कर सक । यद्यपि इस लेखम कूर्चक सम्प्रदायका उल्लेख नही है तथापि चौधरीजीका अनुमान है कि वारिषेणाचार्यसघके समान ही अहिरिष्टि श्रमणसघ भी कूर्चकोका एक भद था ।[2]

द्राविड या द्रविड सघ

द्रविड देशके साध समुदायका नाम द्रविड सघ है । इस सघके अनेको लेख प्राप्त हैं । इसे द्रमिड द्रविड द्रविण द्राविड द्रविल दरविल या तिवुल नामसे उल्लिखित किया गया ह ।

देवसेनाचार्यके अनुसार[3] पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने वि स ५२६ म दक्षिण

---

१ श्री नाथराम जी प्रेमी जनसाहित्य का इतिहास प ५५९-५६२

२ डॉ चौधरीकृत प्रस्तावना पृ ३३

३ दर्शनसार २४ ८ सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसघस्स कारगो दुट्ठो ।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्थो ।
अप्पासुयचणयाण भक्खणदो वज्जिदो मुणिदेहि ।
परिरइय विवरीयं विसेसिय वग्गण चोज्ज ॥

मथुरा मदुरा में द्राविडसंघकी स्थापना की। यह प्राभृतग्रंथोंका ज्ञाता महान् शक्तिशाली तथा दुष्ट था। मुनियोंने इसे अप्रासुक चने खानेसे रोका जिससे बिगडकर इसने विपरीत प्रायश्चित्त ग्रन्थोंकी रचना की। इनकी दृष्टिमें बीजोंमें जीव नहीं होता। मुनियोंके लिए स्थित भोजनका विधान नही है। ये सावद्य तथा गृहकल्पित अर्थको नही मानते। इन्होने कछार खेत वसतिका और वाणिज्य आदि द्वारा जीवन निर्वाह तथा शीतल जलमें स्नान करते हुए प्रचुर पापका सचय किया।[1]

इस सघके लेख प्राय कोंगाल्ववशी शान्तरवशी तथा होटसलवशी राजाओंके राज्यकालके हैं। इन वशोके नरेशोंका इस सघको सरक्षण प्राप्त था। इस सघके आचार्योंने पद्मावतीकी पूजा एव प्रतिष्ठाके प्रसारमें बडा योग दिया था।

वीरगण वीर्णययान्वय

सन् ९१५ के वजीरखेड ताम्रपत्रोमें इस संघके विशष वीरगण वीर्णय्यान्वयके लोकभद्रके शिष्य वर्धमानगुरुको मिले हुये ग्रामदानका वर्णन है। चन्दनापुरीकी अमोघ वसति तथा वडनेरकी उरिअम्मबसतिकी देखभाल उनके द्वारा होती थी। यह लेख द्राविड संघके प्राप्त उल्लेखाम प्राचीनतम है तथा इसमे वर्णित वीरगण वीर्णय्य अन्वयका अन्य किसी लेखमें उल्लेख नही मिलता।

द्राविडसंघ कोण्डकुन्दान्वय

इस संघके आदि एवं प्राचीन कुछ लेख होय्सलोंके उत्पत्ति-स्थान अंगडि (सोसेवूर) से ही प्राप्त हुय हैं। एक लेखमे द्रविडसंघ कोण्डकुन्दान्वयका उल्लेख है।[2]

मूलसंघ द्रविडान्वय

अंगडिके ही दूसरे लेखमे वज्रपाणि-पडितका उल्लेख ह जिन्ह मलसंघ द्रविडान्वय का कहा गया है।[3] इस लेखमें वज्रपाणि व्रतीश्वरके अतिरिक्त रविकीर्ति और कल्ने-

---

बीएसु णत्थि जीवो उब्भसण णत्थि मुणिदाण।
सावज्ज ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठ॥
कच्छं खेत्त वसहिं कारिऊण जीवतो।
ण्हंतो सीयलनीरे पावं पउर च संचेदि॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्य मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो॥

१ हमें गृहकल्पितका अर्थ स्पष्ट नही हो सका है।
२ जै शि सं भाग ५ क्रमांक १४ व १५
३ जै शि सं, भाग २ क्रमांक १७८

लमदेवका उल्लेख है। इन दोनोंके उल्लेख मूलसघ सूरस्थगणके दो लेखोंमें मिलते हैं।[1] अङ्गदिके ही एक अन्यलेखमें वज्रपाणिपण्डितको सूरस्थ-गणका कहा गया है।[2] इससे प्रतीत होता है वज्रपाणि पडित सूरस्थगणसे सम्बन्धित थे।

डॉ चौधरीजीका अनुमान है कि देवसेनके दर्शनसारमें निर्दिष्ट द्राविड संघके संस्थापक वज्रनन्दि ही उक्त वज्रपाणि हो सकते हैं।[3] वज्रपाणि पण्डितकी गुरु-शिष्यपरम्पराका पता लेखोसे नही चलता। इसके बाद इस सघके लेखोम नन्दिसंघके आचार्योंकी परम्परा चलने लगती है।

नन्दिसंघ अरूङ्गलान्वय

यही इस संघका प्रमुख व महत्वपूर्ण अन्वय है। ११वी शताब्दीके अनेकों लेखोंमें द्रविड गणके साथ नन्दिसघ अरुङ्गलान्वयका उल्लेख है।

द्रविड सघका प्रथम कुन्दकुन्दान्वय तथा मूलसघके साथ और फिर नन्दिसंघके साथ सम्बन्ध देखकर चौधरीजीका अनुमान है कि नवसगठित द्रविड सघने प्रारंभम अपना आधार मूलसंघ या कुन्दकुन्दान्वयको बनाया होगा पर पीछ यापनीय सम्प्रदायके विशष प्रभावशाली नन्दिसघम इस सम्प्रदायम अपना व्यावहारिक रूप पानके लिये उससे विशेष सम्बन्ध रखा या द्रविडगणके रूपमें उक्त सघके अन्तगत हो गया। बादम यह द्रविड गण इतना प्रभावशाली हुआ कि उसे ही सघका रूप दे दिया गया और साथमें नन्दिसघको नन्दिगणके रूपमें निर्दिष्ट किया गया। दर्शनसारमें द्रविड संघको यापनीयोंके साथ जो जैनाभास कहा गया है वह सभवत इस ओर ही सकेत कर रहा है।[4]

अनेकों लेखोंमें प्राचीन प्रतिष्ठित आचार्योको द्रविड सघ नन्दिसघके अन्तगत समाविष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। जैसे कुन्दकुन्द भद्रबाहु समन्तभद्र सिंह नन्दि अकलकदेव वज्रनन्दि व पूज्यपाद।

---

१ जै शि स भाग २ लेख सं २६९ व भाग ५ स १७

२ ज शि स भाग २ लेख सं १८५

३ जै शि स भाग ३ प्रस्तावना पृ ३६

४ ज शि स भाग ३ क्र १८८ १८९ १९ १९२ २ २ २१४ २१५ २१६ आदि।

५ ज शि स भाग २ स २१३ २१४

६ ज शि स भाग ३ प्रस्तावना पृ ३५

७ ज शि स भाग २ स २१३, २१४

इस संघके अन्तर्गत नन्दिसंघके साथ प्रत्येक लेखमें अरूङ्गलान्वयका उल्लेख मिलता है। अरुङ्गल नामका स्थान तामिल प्रान्तके गुडियपत्तन तालुकामें है। अरूङ्गलान्वयका अर्थ अरुङ्गलप्रदेशसे उद्भूत किया गया है।

ग्यारहवी—बारहवीं शताब्दीमें द्राविड संघके मुनियोंकी गद्दियाँ कोङ्गाल्व राज्यके मल्लर तथा शान्तर राजाओं की राजधानी हुम्मचमें थी। हुम्मचसे प्राप्त लेखोंमें इस संघके अनेकों आचार्योंका परिचय मिलता है। इन लेखोंके अनसार इस संघकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—मौनिदेव विमलचन्द्र भट्टारक कनकसेन वादिराज। कनकसेनके शिष्य दयापाल पुष्पसेन वादिराज श्रीविजय (पण्डित पारिजात) पुष्पसेनके शिष्य गुणसेन थे। गुणसेनके चार शिष्य श्रेयासदेव कमलभद्र अजितसेन (वादीभसिंह) कुमारसेन।[1]

अङ्गडिसे प्राप्त लेखमें मौनिदेव और विमलचन्द्र भट्टारकका द्रविड संघ कुन्दकुन्दान्वयके आचार्यके रूपमें उल्लेख है।[2] कनकसेन वादिराजका दूसरा नाम हेमसेन दिया गया है।[3] वादिराजका पूरा नाम श्री वर्द्धमान जगेदकमल्ल वादिराज है।

वादिराजके अन्य सधर्माओमे पुष्पसेन और श्रीविजय पण्डित थे। पुष्पसेनकी पादुकाओकी स्थापनाका स्मारक लेख मूल्लूरसे प्राप्त लेखमें है जिसमें उन्हें गुणसेन पण्डितका गुरु कहा गया है।[5] गुणसेनके कई लेख मुल्लूरसे प्राप्त हुए हैं जिसमें उन्हें कोङ्गाल्व नरेश राजेन्द्र चोलके कुलगुरु बताया गया है।[6] एक लेखमें इन्हें पोय्सलाचारी लिखा है जिससे होयसल राजाओ पर भी इनके प्रभावका सकेत मिलता है। एक लेख इनके समाधिमरणका स्मारक है जिसमें इन्हें द्रविडगण नन्दिसघ अरुङ्गलान्वयका नाथ तथा अनेक शास्त्रोंका वेत्ता लिखा है।

श्री विजय पण्डितके सम्बन्धमें ज्ञात होता है कि वे अनेक प्रतिष्ठित आचार्योंके गुरु थे। उनका दूसरा नाम ओडेयदेव या ओडयदेव था जो कि तियगुडिके निडम्बरे

---

१ जै शि स भाग २ स २१३-२१६
२ जै शि स भाग २ स १६६
३ जै शि स भाग २ स २१३-२१५
४ जै शि स भाग ३ स ३४७
५ जै शि स भाग २ स १७७
६ जै शि सं भाग २ सं १८८-१९२
७ जै शि सं भाग २ स २ १
८ जै शि स भाग २ सं २ २
९ जै शि स भाग २ सं० २१३

तीर्थ अरुङ्गलान्वय नन्दिगणके अधीश्वर थे। उन्हें तामेल्लरु (तमिलप्रातीय) कहा गया है।[१]

श्रीविजयके शिष्योंमें श्रे यासदेवको उर्वीतिलक जिनालयका प्रतिष्ठापक कहा गया है।[२] दूसरे शिष्य कमलभद्रका उल्लेख दो लेखोंमें है।[३] तीसरे शिष्य अजितसेन बडे ही विद्वान थे। उनकी चतुर्मुख तार्किकचक्रवर्ती वादीभसिंह वादिघरटट एव वादीभ पंचानन आदि उपाधियाँ थी।[४] कुछ अन्य लेखोंमें भी इनका विवरण है।[५]

हुम्मचके अन्य लेखोंसे इनकी अन्य आचार्यपरम्परा ज्ञात होती है। श्रीविजयके चार शिष्य थे। श्रेयांसदेव अजितसेन कुमारसेन तथा कमलभद्र। अजितसेनके तीन शिष्य—मल्लिषण मलधारी शान्तिनाथ तथा पद्मनाभ मल्लिषण मलधारीके तीन शिष्य—श्रीपाल चन्द्रप्रभ और वादिराज। श्रीपालके वासुपूज्य व वादिराजके पुष्पसेन। वासुपूज्यके वृषभनाथ तथा मल्लिषेण पण्डित।[६]

द्राविडसघ सेनगण

सन ११६७ के उज्जिलिके लेखमें द्राविड सघ–सेनगण–कौरुर गच्छके इन्द्रसेन आचार्यको मिले हुए भूमिदानका वणन है। द्राविडसघके साथ सेनगणका सम्बन्ध बतान वाला यह प्रथम लेख है। कौरुर गच्छका सम्बन्ध सूरस्थ गणके साथ है। वज्रपाणि पण्डितको सूरस्थ गणसे सम्बद्ध बताया गया है। इससे प्रतीत होता है कि सेनगण व सूरस्थ दोनोका ही द्राविड सघके साथ सम्बन्ध रहा है।

काष्ठासंघ

काष्ठासघ अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। आचार्य देवसेनके दशनसारके अनुसार काष्ठा सघकी उत्पत्ति जिनसेनके सतीर्थ्य विनयसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा वि स ७५३ में हुई जो नन्दितटम रहत थे। काष्ठासघको मान्यताओंको बतलाते हुये उन्होंने कहा है कि काष्ठासघी स्त्रियोंकी पुन दीक्षा क्षुल्लकोको वीरचर्या ककशकेशग्रहण तथा छठे अणव्रतको मानते थे।

---

१ जै शि स भाग २ स २१४

२ जै शि स भाग २ स २१३।

३ जै शि स भाग २ स २१४ व २१६।

४ जै शि स भाग २ स २१४ व २४८।

५ जै शि स भाग २ सं २२६ २४८।

६ जै शि स भाग २ स २१३ व २१४

७ जै शि स भाग ५ स १ ४।

८ दर्शनसार गाथा ३८

सत्तसए तेवण्ण विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
णंदियडे वरगामे कट्टो संघो मुणेयव्वो॥

इत्थीण पुणदिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरिअस्स।
कक्कसकेसग्गहण छट्टं च अणुव्वदं णाम ॥

पं परमानन्दजी शास्त्रीके अनुसार दर्शनसारमें काष्ठासघके संस्थापकका समय जो वि स ७५३ बतलाया है वह सगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि विनयसेनके लघु गुरुबन्ध जिनसेनने जयधवला टीका शक सं ७५९ (ई सन ८३७) में बनाकर पूर्ण की है अत इसे वि स न मानकर शक सवत् माननेसे सगति ठीक बैठ जाती है।[2]

प्रेमीजीने भी इस पर सन्देह करते हुए लिखा है कि दर्शनसारके अनुसार गुणभद्र की मृत्युके पश्चात विनयसेनके शिष्य कुमारसेनने काष्ठासघकी स्थापना की। गुणभद्रने अपना उत्तरपुराण वि सन ९१५ के लगभग समाप्त किया है। इसीको मृत्युकाल मान ल तो काष्ठासघकी उत्पत्ति डेढसौ वर्ष पीछे चली जाती है।[3] अत दर्शनसारमें उल्लिखित काष्ठासघकी उत्पत्तिके समयको सुनिश्चित नही कहा जा सकता।

प बुलाकीचन्द्र कृत वचन-कोश (वि सं १७३७) के अनुसार काष्ठासघकी उत्पत्ति उमास्वामीके पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगरमें हुई और काठकी प्रतिमाकी पूजाका विधान करनेसे उसका नाम काष्ठासघ पडा। कवि पामोने भी लोहाचार्यके द्वारा काष्ठासघकी स्थापना तथा उसके चार गच्छ माने हैं।

१९वीं २ वी शताब्दीके लेखोमें काष्ठासघके अन्तर्गत लोहाचार्यान्वयका उल्लेख मिलता है। इस सघके प्राय सभी लेख उत्तर और पश्चिम भारतमें ही प्राप्त हुए हैं। इस काष्ठासघ तथा माथुरसघका ही उत्तर भारतसे विशेष सम्बन्ध रहा है अन्य सघ दक्षिण भारतसे ही सम्बन्ध रखते हैं। बाबू कामताप्रसादजीने इसकी उत्पत्ति स्थानसापेक्षिताके कारण मथुराके पास यमुनाके किनार काष्ठा नामक ग्राममें मानी है।[5] विश्रुति है कि लोहाचार्यने ही अग्रवालोंको दिगम्बर जैनधर्ममें दीक्षित किया था

---

१ दर्शनसार गाथा ३५।

२ प परमानन्द जी शस्त्री जैनधर्मका प्राचीन इतिहास भाग २ पृ ६।

३ नाथूरामजी प्रेमी जैन साहित्य का इतिहास (अमितगति) पृ २७७

४ भट्टारक सम्प्रदाय लेख सं ७४७ पामोकृत भरतभुजबलिचरित।

श्रीकाष्ठाबरसंग गग सम निर्मल कहिये।
क्षलित पाप-कलंकपंक गणधरमुनि सहिये।
लोहाचार्य वर मुनी गुणी बहु शास्त्रह ज्ञाता।
कलजुग जानी चार गछ थापे सुभे हाता।

५ सिद्धान्त भास्कर भाग २ किरण ४ पृ २८९

जिन लेखोंमें अग्रवालोंका निर्देश है उनमें काष्ठासघ और लोहाचार्यान्वयका भी निर्देश मिलता है। अत बलात्कारके कथनमे कुछ तथ्य प्रतीत होता है। दो लेखोंमें माथुरान्वय पुष्करगणके साथ काचीसघका भी उल्लेख प्राप्त होता है। यह काचीसघ काष्ठासघ ही हो सकता है।

काष्ठासंघका सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख दूबकुण्डसे प्राप्त लेखमे है। सन् १ ८८ के लेखमें देवसेन—कुलभूषण-दुर्लभसेन शान्तिषण विजयकीर्तिकी परम्परा प्राप्त होती है।[3] इससे सात वर्ष बादक एक अन्य लेखम काष्ठासघ महाचार्यवय देवसेनकी चरणपादुकाओंकी स्थापनाका निदश ह। चौदहवी शताब्दीके पश्चात् इस सघकी अनेक परम्पराओके उ लेख मिलत हैं। भटटारक सुरेन्द्रकीर्तिने जिनका समय सवत १७४७ है अपनी पटटावलीम कहा ह कि काष्ठासघमे न दितट माथुर बागड और लाडबागड ये चार प्रसिद्ध गच्छ हुए। सुर द्रकीर्ति स्वय नन्दितट गच्छके भट्टारक थ। दशनसारके अनुसार भी काष्ठासघसे ही उसकी उत्पत्तिके दोसौ वष पश्चात माथुरसघकी स्थापना हुई किन्तु माथर बागड और लाडबागडके १२वी सदी तकके जो उल्लेख मिलते हैं उनमे उन्हें संघकी सज्ञा दी गयी है तथा काष्ठासंघके साथ उनका कोई सम्ब घ नही बताया गया ह।

माथुर सघके प्रसिद्ध आचाय अमितगतिन स १ ५ से १ ७३ तक जो अनक ग्रन्थ रचे हैं उनकी प्रशस्तिम माथुरसंघका तो यशोगान है किन्तु काष्ठासघका कोई निदश नही ह। इसी प्रकार लाडबागड सघके आचार्य जयसेनने संवत् १ ५५में धर्मरत्नाकर ग्र थ रचा। इसी सघके दूसर आचार्य महासेनने लगभग इसी समय प्रद्युम्नचरित्र रचा तथा सवत ११४५मे इसी गणके आचार्य विजयकीर्तिके उपदेशसे एक म दिर बनवाया गया। तीनोंने अपनी प्रशस्तियोम लाडबागड गणकी प्रशसा तो की है किन्तु काष्ठासघका कोई उ लेख नही किया है। बागडसघके आचार्य सुरसेनके उपदेशसे

---

१ भटटारक सम्प्रदाय डॉ विद्याधर जोहारापुरकर लेख न ५५५ ५६ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५९२ ५९३ ६१३ ६१५ ६१६ ६१८

२ लेख न ६३३ ६४

३ लेख न २८८

४ लेख न २३५

५ काष्ठासघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुरा।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुता क्षितौ।
श्रीनन्दितटसज्ञश्च माथुरो बागडाभिध।
लाडबागड इत्येको विख्याता क्षितिमण्डले॥

प्रतिष्ठापित की यथी एक प्रतिमापर जो लेख मिलता है उसमें भी काष्ठासंघका कोई उल्लेख नही है।[1] इस प्रतिमाका समय संवत १ ५१ है। बागडसंघके दूसरे आचार्य यश कीर्तिने जगत्सुन्दरी-प्रयोगशाला नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें भी काष्ठासघका कोई निर्देश नही है। इससे प्रतीत होता है कि लगभग बारहवीं शताब्दी तक माथुर लाडबागड और बागडका काष्ठासघसे कोई सम्बन्ध नही था। बादमे ये तीनो काष्ठासघमें अन्तभुक्त हो गये। डॉ विद्याधर जोहरापुरकरके अनुसार बारहवी शताब्दीमें चारो संघोंका एकीकरण संभवत देवसेनने किया होगा सबत् १५४५ म जिनकी चरणपादुकायें स्थापित की गई।

परन्तु दर्शनसारमें बताय गय काष्ठासंघकी उत्पत्तिके काल (वि स ७५३) को सही न भी मान तो इतना तो मानना ही होगा कि दर्शनासारके रचनाकाल अर्थात् वि सं ९९ में काष्ठासंघ अस्तित्वमे था। हाँ यह कहा जा सकता है कि देवसेनके समय नन्दितटगच्छ ही काष्ठासघ रहा होगा। तभी माथर बागड और लाडबागड गच्छको पूर्व उल्लेखोमें संघ कहा गया है। इस नन्दितटगच्छ से जिसे काष्ठासघ कहते थे मिलकर चारों गच्छ काष्ठासघ कहलाने लगे हों।

नन्दितट गच्छ

इसकी उत्पत्ति नन्दितट (नादेड) महाराष्ट्रमें हुई। दर्शनसारके अनुसार यही काष्ठासघका उत्पत्तिस्थल है। हमारे अनुमानसे भी काष्ठासघका मूल यही नन्दितट गच्छ ह। परवर्ती कालमें माथुर बागड नन्दितटका सम्बन्ध दक्षिणसे है अन्य तीन सघोका उत्तर व पश्चिम भारतसे प्रतीत होता है। एक लेखमें इसका नाम नन्दितलट भी मिलता है।

नन्दितटगच्छके विद्यागण तथा रामसेनान्वय नाम भी मिलत है। रामसेनने नर-सिंहपुरा और उनके शिष्य नमिषणने भट्टपुरा जातिकी स्थापना की। रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य लक्ष्मीसेनसे नन्दितटगच्छका वृत्तान्त उपलब्ध होता है। इनके दो शिष्यों भीमसेन एव धमसेनसे दो परम्परायें आरभ हुई। भीमसेनके पट्टशिष्य सोमकीर्ति हुए। आपने सवत १५३२म वीरसेनसूरिके साथ एक शीतलनाथकी मूर्ति स्थापित की। सवत् १५३६में गोढ़िलीम यशोधरचरितकी रचना की तथा सवत् १५४ में एक मूर्ति स्थापित की। आपने सुल्तानफिरोजशाहके राज्यकालमें पावायढ़मे पद्मावतीकी कृपासे आकाशगमनका चमत्कार दिखलाया था।

सोमकीर्तिके बाद क्रमश विजयसेन यश कीर्ति उदयसेन त्रिभुवनकीर्ति रत्न भूषण जयकीर्ति केशवसेन भट्टारक हुए।

---

१ जै शि स भाग ५ स २१

२ भट्टारक सम्प्रदाय लेख स ११९।

नन्दितटगच्छकी दूसरी परम्परा लक्ष्मीसेनके शिष्य धर्मसेनसे आरम्भ होती है। इनके बाद क्रमश विमलसेन विशालकीर्ति विश्वसेन विजयकीर्ति भट्टारक हुए। विजयकीर्तिके एक शिष्य विद्याभूषणके शिष्य श्रीभूषणने श्वेताम्बरोंको वादमे पराजित किया। श्रीभूषणके बाद क्रमश चन्द्रकीर्ति राजकीर्ति लक्ष्मीसेन इन्द्रभूषण तथा सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक हुए। सुरेन्द्रकीर्तिके तीन पट्टशिष्य थ—लक्ष्मीसेन सकलकीर्ति और देवे द्रकीर्ति।[1]

माथुरगच्छ

माथरगच्छके सस्थापक दर्शनसारके अनुसार रामसेन हैं। इन्हे ही नि पिच्छिक भी कहा गया है। माथरा वयके आचार्य छत्रसेनका नाम अथू णाके लेखसे मालम होता है। यहाँ भी काष्ठासघका उ लेख नही है। मसारसे प्रा त तीन प्रतिमालेखोम इस सघके आचाय कमलकीर्तिको माथरा वयी कहा गया ह।[3] ग्वालियरसे प्राप्त दो लेखोमे तोमरवशोय नरेश डगरसिंह और उसके पुत्र कीर्तिसिंहके समय इस सघके कतिपय भटटारकोके नाम मिलते हैं। एक लेखमें भटटारक गुणकीर्ति और उनके शिष्य यश कीर्तिका उल्लेख मिलता है। साथमें प्रतिष्ठाचार्य पण्डित रइधूका।[4] भटटारक यश कीर्ति अपभ्रशके पाण्डवपुराण और हरिवशपुराण तथा चन्द्र प्रभचरितके रचयिता ह। इ होने प्रसिद्ध कवि स्वयभके जीर्ण-शीण हरिवंशपुराणका समद्धार किया था। ये गणकीर्ति भटटारकके अनुज तथा शिष्य थे। यश कीर्तिके शिष्य मलयकीर्ति व प्रशिष्य गणभद्र हुए। प्रतिष्ठाचार्य रइधू अनको ग्र थोंके रचयिताके रूपम प्रसिद्ध हैं। इस सघके दूसर भटटारकोंके नाम गुरुपरम्परापूर्वक मिलते हैं। वे हैं क्षेमकीर्ति हेमकीर्ति विमलकीर्ति तथा क्षेमकीर्ति हेमकीर्ति कमलकीर्ति एव रत्नकीर्ति।[6] माथरगच्छ पुष्करगच्छ का उ लेख करने वाला स १८८१का एक लेख पभोसा (कौशाम्बी) से प्राप्त हुआ है जिसमें भटटारक जगतकीर्ति और उनके शिष्य ललितकीर्तिका निर्देश है।

माथुर संघके आचार्य अमितगति द्वितीयने अपनी जो गुरुपरम्परा दी है वह इन्हीं अमितगतिसे शुरू की है। वे ह अमितगति द्वितीय शान्तिषण अमरसेन श्रीषेण चद्रकीर्ति

---

१ विशेष विवरणके लिये देखिये भटटारक सम्प्रदाय।

२ जै शि भाग ३ ३ ५ क

३ वही भाग ३ लेख नं ५८६

४ भट्टारक सम्प्रदाय लेखसख्या ६३३।

५ जै साहित्य और इतिहास प नाथूराम प्रेमी पृ ५३५।

६ जै शि भाग ३ स ६४३

एव अमरकीर्ति । अमरकीर्तिकी रचनायें सं १२४४ से १२४७ तककी उपलब्ध हैं। इन्हीं अमरकीर्तिके शिष्य इन्द्रनन्दिने वि स १३१५ में हेमचन्द्रके योगशास्त्रकी टीका बनाकर समाप्त की है। इससे स्पष्ट है कि काष्ठासंघके माथुरसघकी यह परम्परा १ १५ से १३१५ तक चलती रही है। इसके बाद इसी परम्परामे उदयचन्द्र बालचन्द्र और विनयचन्द्र हुए। इन्होने अपनी रचनाओ द्वारा अपभ्रश साहित्यको वृद्धिगत किया है।

बागड गच्छ

बागड गच्छके दो लेख प्राप्त होते हैं। कटोरिया (राजस्थान) से प्राप्त सन ९९५ के मूर्तिलेखमें आचार्य सुरसेनका उल्लेख है। सन् १ ४के अजमेर सग्रहालयके मूर्ति लेखमें आचार्य धर्मसेनका उल्लेख है।

लाडबागड गच्छ

लाड (गुजरात) और बागड दोनो मिलाकर गच्छ हुआ। जयसेनके मतसे इस सघका आरम्भ मेदार्यकी उग्र तपश्चर्यासे हुआ जो खण्डिल्ल ग्रामके पास निवास करते थे। इनकी गुरु-परम्परा धर्मसेन शान्तिषेण गोपसेन भावसेन जयसेन इस प्रकार थी। बादमें इसका प्रभाव मालवा और धाराके आसपासके क्षेत्रोंमे रहा है। इससे सम्बन्धित एक लेख दूबकुण्डसे प्राप्त हुआ है। इस शाखाके देवसेन कुलभूषण दुलभसेन शान्तिषण एव विजयकीर्ति नामक आचार्योंके नाम गरु शिष्यपरम्परासे दिये हुए हैं।[२]

आचार्य महासेनने प्रद्युम्नचरितकी रचना की। वे मुजराज तथा सिन्धलके मन्त्री पर्पट द्वारा सम्मानित हुए थे। जयसेन–गुणाकरसेन–महासेन यह इनकी गुरु परम्परा थी।

महेन्द्रसेनने त्रिषष्टिशलाकापुरुषकी रचना की तथा मेवाडमें क्षत्रपालको उपदेश देकर चमत्कार प्रदर्शित किया। अनन्तकीर्तिके शिष्य विजयसेनने वाराणसीमें पागल हरिश्चन्द्र राजाकी सभामें चन्द्र तपस्वीको पराजित किया। इनके शिष्य चित्रसेनके समयसे इस सघका पुन्नाट यह नाम लुप्तप्राय हो गया। इनके पटटशिष्य पद्मसेन हुए। पद्मसेनके शिष्य नरेन्द्रसेनने शास्त्रविरुद्ध उपदेश करन वाले आशाधरका अपने संघसे बहिष्कार किया। पद्मसेनके बाद क्रमश त्रिभुवनकीर्ति और धर्मकीर्ति भटटारक हु । धर्मकीर्तिके तीन शिष्य हुये हेमकीर्ति मलयकीर्ति व सहस्रकीर्ति। दिल्लीके शाह पेवने सं १४९२ में श्रुतपंचमीके उद्यापनके निमित्त मलाचारकी एक प्रति मलयकीर्तिको अर्पित की। मलयकीर्तिने एलदुर्गके राजा रणमलको उपदेश देकर

---

१ जै शि भाग ४ क्र २१।

२ भट्टारक सम्प्रदाय स २२८।

तरसुबामें मूलसघका प्रभाव कम कर शान्तिनाथकी विशालमूर्ति स्थापित की थी। मलय कीर्तिके पट्टशिष्य नरेन्द्रकीर्तिके आकाश मागसे गमनका उल्लेख मिलता है। नरेन्द्र कीर्तिके शिष्य प्रतापकीर्तिकी पिच्छी चामरकी थी। इनके शिष्य त्रिभवनकीर्ति हुए।

पुन्नाटसघ

शिलालेखोम सन ११५४ के सुलतानपुरके आसपासके मूर्तिलेखोंमें आचार्य अमृतचन्द्रके शिष्य विजकीर्तिको पुन्नाट गुरुकुलका कहा गया है। इसके अतिरिक्त पुन्नाटसंघीय दो आचार्य ह प्रथम हरिवशपुराणके रचयिता जिनसेन (शक सं ७ ५) और द्वितीय बृहत्कथाकोशके प्रणता हरिषण। दोनोंने ही अपने ग्रन्थकी रचना वर्द्धमान पुरमें की है और दोनोने ही अपनेको पुन्नाटसंघी घोषित किया ह। आचार्य हरिषणने बृहत्कथाकोशकी रचना यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधनाकी गाथाओको आधार बनाकर की ह। इसके अतिरिक्त दोनो ग्रन्थोमें कुछ एसे तथ्य मिलते हैं जिनका दिगम्बर परम्परासे विरोध है।

पुन्नाट सघको काष्ठासघका उपभद लाडबागड माना गया है। एक लेखमें स्पष्ट कहा गया है— तत पुन्नाटगच्छ इति भाडागार स्थित लोके लाटवर्गटनामाभिधान पृथिव्या प्रथित प्रकटीबभव। प्रेमीजीका कथन है कि जान पडता है कि पुन्नाट (कर्नाटक) से बाहर (काठियावाड) जाने पर ही यह सघ पुन्नाटसघ कहलाया जिस तरह कि आजकल जब कोई एक स्थानको छोडकर दूसर स्थानमें जा रहता है तब वह पूवस्थानवाला कहलाने लगता है। हमे भी यही प्रतीत होता है कि जैसे कर्नाटकसे गुजरात आन पर य पुन्नाटसघीय कहलाय उसी प्रकार गुजरात और बागड (लाडबागड) स धारा और मालवा पहुचने पर इनके गच्छको लाडबागड कहा गया।

हमारी ष्टिस भी काष्ठासघका यह पुन्नाट गच्छ आचाय जिनसेन और हरिषेणके पुन्नाट सघका ही परवर्ती रूप है। परन्तु काष्ठासघम इसका अन्तर्भाव आचाय जिनसेन और हरिषणके बाद ही हुआ होगा। पहले यह स्वतत्र सघ रहा होगा तभी उक्त दोनो आचार्योंने काष्ठासघका उल्लेख नही किया है।

बृहत्कथाकोषके कुछ उल्लेखोम स्त्रीमक्ति गृहस्थमक्ति स्त्रोके तीर्थकर

१ जैन शिलालेख सग्रह भाग ५ क्रमाक ९८

२ देखिए तोसरा अध्याय पुन्नाटसघोय दो आचाय।

३ भट्टारक सम्प्रदाय लेख स ६३१।

४ जैन साहित्य और इतिहास पृ १ २।

५ कथा ५७ श्लोक २३५।

६ कथा ५७ श्लोक ५६७।

नामगोमर्बंध करनेका विधान । है । यहीं एणिकापुत्रके गगा पार करते समय समाधिमरण कर मोक्ष जानेका वर्णन है ।[2] हरिवंशपुराणमें भी कुछ उल्लेख विचारणीय हैं । राजा जितशत्रुका अपनी पुत्री यशोदाका भगवान महावीरसे विवाहके लिए उत्सुक होना ।[3] नगमदेव द्वारा संतान-परिवर्तन । नन्दिषेण मुनि द्वारा रोगी मुनिको गोचरी बेलामें सिद्धियोंके बलसे आहार लाकर देना ।[5] नारदकी मोक्षगति ।[6]

इन उल्लेखोंसे पुन्नाट सघ हमें यापनीय सघ प्रतीत होता है । यही पुन्नाट सघ जब पन्नाट गच्छके रूपमें काष्ठासंघम अन्तर्भावित हुआ तब अपने विचारोंसे इसने उसे भी प्रभावित किया । काष्ठासघकी मान्यताओंका निर्देश करत हुए हम कह आये है कि दर्शनसारमें कहा गया है कि वे स्त्रियोंको पुन दीक्षा क्षुल्लकोंकी वीरचर्या कर्कशकशग्रहण तथा छठा अणुव्रत मानते थे ।

इत्थीण पुण दिक्खा का अर्थ दर्शनसारके वचनिकाकारके अनुसार छेदोपस्थापना है । इनके अनुसार मूलसघमे स्त्रियोंको छेदोपस्थापना नहीं बतायी गयी है पर काष्ठासघके प्रवर्तकोंने उन्हें छेदोपस्थापना बताई है । इसके लिये उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दके षट्पाहुडकी गाथा भी उद्धृत की है । षटपाहुडकी टीकामें श्रुतसागरसूरिने भी कहा है गोपुच्छिक स्त्रियोंको छेदोपस्थापनाकी आज्ञा देते हैं । छेदोपस्थापनाका अर्थ है प्रायश्चित्त कर लेन पर पुन दीक्षा प्राप्त करना ।

क्षल्लकोंकी वीरचर्याका समथन लाटीसंहितासे होता है । लाटीसहिता म एकादश प्रतिमाधारी श्रावकके विषयमें कहा गया है कि एकादशप्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक ईषत्मुनि और कर्म निर्जराका स्वामी होता है । उत्कृष्ट श्रावकके दो भद हैं ऐलक व क्षुल्लक । इन दोनो प्रकारके श्रावकोंमें जो ऐलक हैं वह केवल कोपीनमात्र वस्त्रको धारण करता है । पुस्तक आदि उपधि धारण करता है । दाढ़ी मूछ व मस्तकके केश लचन करता है । पीछो कमण्डल धारण करता है । सावद्य वस्तु ग्रहण नही करता है । कोपीनके अतिरिक्त समस्त क्रियायें मुनिके समान होती हैं । एलक दुधर व्रतोको

---

१ कथा १ ८ श्लोक १२५ ।
२ कथा १३ श्लोक ९ ।
३ पर्व ६६ श्लोक ८ ।
४ पर्व ३५ श्लोक ४ ।
५ पर्व १८ श्लोक १६४ ।
६ ह पु ६५।२४ व ४२।१३ और २२ ।

धारण करता है। चत्यालय सघ तथा वनमे मनिके समीप रहता ह। दोपहरसे कुछ पूर्व आहारके लिये ईर्यापथशद्धिसे नगरम जाता है तथा घरोकी संख्याका नियम लेकर जाता है। पाणि-पात्र भोजी होता है। निर्व्याजसे मोक्षकारणभूत उपदेश देता है। द्वादशविध-तपश्चरण करता ह और किसी व्रतमें दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है।[1]

माथरसघीय आचार्योंने तो क्ष ल्लकोंकी वीरचर्याका स्पष्ट निषध किया ह।[2] इससे प्रतीत होता है कि क्ष ल्लकोंकी वीरचर्याकी मान्यता माथुरसघको छोडकर शेष काष्ठासघ अर्थात नन्दितट बागड तथा लाडबागड गच्छकी थी।

रात्रिभोजनविरमणको पूज्यपाद अकलक आदि आचार्योंने अहिंसाव्रतकी आलोकित–भोजन-पान भावनामें अन्तभूत किया है।[3] यापनीय तथा काष्ठासघी आचार्योंने इसका पथक छठे अणुव्रतके रूपम उल्लेख किया हैं।

डॉ चौधरीका यह अनुमान बुद्धिको लगता है कि यापनीयोके सघ परवर्ती कालम मूलसघ द्राविडसघ आदि अन्य दिगम्बर सम्प्रदायोंमें अन्तर्भुक्त हो गये हैं क्योंकि यह पुन्नाट सघ लाडबागड देशम पहुँचकर लाडबागड गच्छके रूपमे विश्रुत हुआ जैसा कि कह चके ह कि यह कवि पामोके भुजबलिचरितसे प्रकट है।[5] लाडबागड गच्छ काष्ठासघमें अन्तर्भुक्त हुआ है यह भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिकी पटटावलीम कहा गया है।[6] स्त्रियोको पुन दीक्षा जो काष्ठासघकी विशेषता बतायी गयी है सभवत उसका कारण उस सघम अन्तभक्त यापनीय सघ हो क्योकि यापनीय सघ स्त्रीमुक्तिका समर्थक रहा ह। साथ ही क्षल्लकोकी वीरचर्यामें भी यही गृहस्थोंके

---

१ लाटीसहिता सग ६ श्लोक ५६–६२।

२ सागारधर्मामृत ७।५ तथा ८।३६।

३ ननु च षष्ठमणव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमण तदिहोपसख्यानम। न भावनास्वन्तर्भावात। सर्वार्थसिद्धि ७।१
स्यान्मतमिह रात्रिभोजनव नास्य तु षष्ठमणव्रतमालोकितपानभोजनभावना रूपमग्रे वक्ष्यते।—राजवार्तिक।

४ मूलाचार ५।९८ भगवती आराधना गा ११७९ विजयोदया पृ ३३ तथा मूलागधनादर्पण ६।११८५–८।

५ भट्टारक सप्रदाय लेखाक ६३१।

६ भट्टारक सम्प्रदाय प २९३–४।

प्रति उदारभावना काम कर रही है। रात्रिभोजनविरमणको छठा व्रत मानना तो स्पष्टतया यापनीय मान्यता है।

पुन्नाट संघके विषयमें प्रेमीजीका कथन है कि पुन्नाट संघका सुदूर कर्नाटकसे चलकर काठियावाड़में पहुँचना और वहाँ दो सौ वर्ष तक रहना एक असाधारण बात है। इसका सम्बन्ध दक्षिणके चौलक्य और राष्ट्रकूटोंसे ही जान पड़ता है जिनका शासन काठियावाड़में बहुत समय तक रहा है।

ध्यातव्य है कि यापनीयोंको चालुक्य तथा राष्ट्रकूट राजाओंका संरक्षण प्राप्त रहा है अतः इससे भी इस संभावनाको बल मिलता है कि पुन्नाटसंघ उत्तरभारत (काठियावाड) में आकर काष्ठासंघके सम्पर्कमें आया तथा लाडबागड़ अथवा पुन्नाट गच्छके रूपमें काष्ठासंघमें अंतर्भुक्त हो गया।

लाडबागडगच्छीय आचार्य जयसेनने लाडबागड गच्छका आरम्भ मेदार्य मुनिकी उग्र तपस्यासे माना है। मेदार्य मुनिकी यह उग्र तपस्या भी श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है। भगवती आराधनामें इसका उल्लेख है। यह भी इसका परोक्ष संकेत है कि यापनीय पुन्नाटसंघ ही परवर्तीकालमें पुन्नाटगच्छ अथवा लाडबागड गच्छके रूप में काष्ठासंघमें अन्तर्भुक्त हुआ। डॉ॰ जोहरापुरकरने भी यापनीय पुन्नागवृक्षमूलगण को पुन्नाटसंघका ही एक रूपान्तर होनेकी संभावना व्यक्त की है।[3]

यद्यपि हरिवंशपुराणमें केवली-कवलाहारका विरोध प्राप्त होता है जो यापनीयोंके विरुद्ध है पर इसका कारण यापनीयोंका दिगम्बर सम्प्रदायमें विलीनीकरण हो जानेके उपरांत दिगम्बर आचार्यों द्वारा किया गया संशोधन तथा प्रक्षेपण हो सकता है। हमारा यह कथन निराधार नहीं है। भगवती आराधनाके प्रक्षेपके विषयमें विजयोदया सहित भगवती आराधनाके सम्पादक पं॰ कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका कथन द्रष्टव्य है— विजयोदयाके अध्ययनसे प्रकट होता है कि उनके सामने टीका लिखते समय जो मूलग्रन्थ था उसमें और वर्तमान उपलब्ध मूलमें अन्तर है। स्वयंभूके रिट्ठणेमिचरिउ के अन्तिम अंशमें मुनि जसकित्तिने भी हाथ लगाया है।[5] तिलोयपण्णत्तिमें मिलावट को भी विद्वानोंने प्रमाणपुरस्सर सिद्ध किया है।

---

१ विशेषके लिए देखिए इसी ग्रन्थके चौथा अध्यायका 'रात्रिभोजनविरमणव्रत'।
२ जैन साहित्यका इतिहास द्वितीय संस्करण पृ॰ १२१।
३ भट्टारकसम्प्रदाय पृ॰ २५७-२६ ।
४ भगवती आराधना भाग १ प्रस्तावना पृ॰ ९।
५ जैन साहित्य और इतिहास पं॰ नाथूरामजी प्रेमी पृ॰ २ २।
६ वही पृ॰ ११ और आगे।

कित्तूर संघ

श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमे कित्तूर नामके सघका उल्लेख है।[1] कित्तूर या कीर्तिपुर पुन्नाटकी राजधानी थी जो इस समय मसरके होग्गडदेवनकोटे तालुकेमें है। प्रेमीजीके अनुसार यह कित्तूर सघ या तो पुन्नाटसघका ही नामान्तर होगा या उसकी एक शाखा।

भट्टारक-सम्प्रदाय

दिगम्बर सघोका विवरण प्रस्तुत करत हुए भटटारक सम्प्रदायका उल्लख भी प्रासगिक है। यद्यपि यह कोई पथक सघ न होकर शिथिलाचारको प्रोत्साहित करने वाली परम्परा विद्यमान रही है। सभी सघोम यह परम्परा विद्यमान रही है।

डॉ विद्याधर जोहरापुरकरन जन समाजके इतिहासमे तीन कालखण्ड माने ह। भ महावीरके निवाणके करीब ६ वर्ष तक जन समाज विकासशील था। जन सिद्धान्तोके प्रसार व विकासके लिए जन मनि निरन्तर भ्रमणका अवलम्बन लेते रहे। इस समय तपश्चर्याके नियम भगवान द्वारा उपदिष्ट आदशके निकट थे।

दूसरी शताब्दीसे जन-समाज व्यवस्थाप्रिय होन लगा मठ मदिरोका निर्माण वेगसे हुआ। यह काल भी ६ वष तक चला।

ततीय कालखण्डम विकास व व्यवस्थाकी प्रवृत्तियाँ पीछ ह गइ और आत्म संरक्षणकी प्रवृत्तिको ही प्राधान्य मिलन लगा। इसी प्रवत्तिके फलस्वरूप साधसघोमें भटटारक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए और बढ।

श्रुतसागरसरिन वस तकीर्तिके द्वारा मण्डपदुर्ग (माण्डलगढ) (राजस्थान) म यह प्रथा आरंभ की गई माना है।[2]

भटटारकोंकी विशिष्ट आचरण-पद्धतियाँ धीर धीर बहुत पहलसे ही अस्तित्वमें आ चकी थी। शिथिलाचारको प्रवत्ति तथा सहननकी मदताने चत्यवासकी ओर प्ररित किया। चत्यवासकी यह प्रवृत्ति इतनी बढी कि रत्नमालाम कलिकालमे वनवास को वर्जित ही बता दिया गया।[3]

दिगम्बर सम्प्रदायम भटटारक प्रथाका आरभ वस्त्रग्रहणका आरम्भ है। तात्त्विक दष्टिसे नग्नता आवश्यक मानकर भा यवहारम वस्त्रका उपयोग भटटारकोंके लिए समर्थनीय माना गया। दिगम्बर भट्टारक नग्नमद्राका पूज्य मानते थ। आहारादिके समय उसे धारण भी करते थ। स्नानको भी वर्जित नही मानते थे।

---

१ ज शि स भाग १ स १९४।
२ जन साहित्य और इतिहास पृ ११४।
३ शिवकोटिकृत रत्नमाला श्लोक न २२।

मठाधीश होकर पीठ स्थापित करते थे तथा उस प्रचुर सम्पदाके उत्तराधिकारी होते थे।

प्रेमीजीके अनुसार देवसेनने दर्शनसारमें जो काष्ठासंघ माथुरसंघ और द्राविडसंघ-को जैनाभास बताया है उसका कारण इनका मठाधीश होना ही है अन्यथा इनका मूलसंघसे ऐसा कोई विशेष भेद नहीं है जिसके आधारपर इन्हें मिथ्यात्वी कहा जा सके।

यद्यपि पाँचवी शताब्दीसे ही मूलसंघ य मुनियोको दान दिये जानके विवरण मिलते हैं इस स्थितिमें भी देवसेनने जो अन्य संघोको जो जैनाभास कहा है उसका कारण यह हो सकता है कि देवसेनाचार्यने पूर्वाचार्योंकी गाथायें संग्रहीत की हैं। उस समय मूलसंघके साधुओंमें चैत्य स्थिति नहीं थी।

भट्टारकप्रथाके प्रभावसे कोई भी दिगम्बर संघ अप्रभावित नहीं रहा सभी संघोंमें इसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

वस्त्रके अतिरिक्त भट्टारकोंको दूसरा विशिष्ट आचरण मठ और मंदिरोंका निवास-स्थानके रूपमें निर्माण और उपयोग था। इसीके अनुषंगसे भूमिदानको स्वीकार कर खेती आदिकी व्यवस्था भी भट्टारक देखने लगे थे। इन कारणोंसे भट्टारकोंका स्वरूप साधुत्वसे अधिक शासकत्वकी ओर झुका। वे राजाके समान ही छत्र चँवर पालकी बहुमूल्य वस्त्र गद्दे स्वर्णमण्डित कमण्डलु पिच्छि आदि रखने लगे। अधिकारपत्रका रक्षण भी आग्रहपूर्वक करने लगे।

साधुत्वके कारण भट्टारकोंका आवागमन भारतके प्राय सभी भागोंमें होता था। इनके पीठ भी भारतके अनेक स्थानों पर मिलते हैं। दक्षिणमें मूडबिद्री श्रवणबेलगोल कारकल हुमच इन स्थानोंमें पीठ स्थापित हुये। महाराष्ट्रमें मलखेड बलात्कारगणका पीठ था। इसकी दो शाखायें कारंजा और लातूरमें स्थापित हुई। कारंजामें सेनगण और लाडबागडके भी पीठ थे। गुजरातमें सूरत बलात्कारगणका और सौजित्रा नन्दितटगच्छका केन्द्र था। समुद्रतटवर्ती इलाकोंमें नवसारी भडौंच जाबूसर घोघा आदि स्थानोंमें भट्टारकोंका अच्छा प्रभाव था। उत्तर गुजरातमें ईडरका पीठ महत्वपूर्ण था। धारामें सागवाडा और अटेरके पीठ स्थापित हुये। ग्वालियर और सोनागिरि माथुरगच्छ और बलात्कारगणके केन्द्र थे। राजस्थानमें नागौर जयपुर अजमेर चित्तौड भानुपुर और जेरहट आदि स्थानोंमें बलात्कार गणके केन्द्र थे। हिसारमें माथुरगच्छका प्रधान पीठ था। दिल्लीमें भी भट्टारकों की गद्दी रही है। आराके समीप मसाढमें काष्ठासंघके कुछ उल्लेख मिलते हैं। पूर्व भारतसे भट्टारकोंकी गद्दीका प्राय कोई स्थायी सम्बन्ध न था।

---

१. जैन साहित्यका इतिहास द्वितीय संस्करण पृ० ४८६।

भट्टारकोंके जीवनका सबसे अधिक विस्तृत कार्य मूर्ति और मंदिरोंकी प्रतिष्ठा थी। समाजको धर्मम स्थिर रखनके लिय प्रतिष्ठोत्सवको धार्मिकसे अधिक सामाजिक रूप प्राप्त हुआ। मूर्ति प्रतिष्ठाके साथ यन्त्रोंकी प्रतिष्ठा भी इस कालकी विशेष-निर्मिति है। सभी धर्मतत्वोंको मर्तरूपमें बाँधनेकी प्रवृत्ति ही इस यन्त्रप्रतिष्ठाका मूलभूत कारण है। यक्ष-यक्षणियोंकी स्वतन्त्र मूर्तियोंका भी निर्माण हुआ।

इस युगमें मौलिक साहित्यके निर्माणकी प्रवृत्ति छट गयी थी और पूर्व ग्रन्थोंके संक्षेप और रूपान्तर अधिक हुये हैं। संस्कृतके तीन जैन बडे पुराण-हरिवंश पद्म और महापुराणके आधारपर पुराण और कथायें लिखी गयी। पूजा-पाठकी रचना अधिक मात्रामें हुई। प्राचीन हस्तलिखित और ताडपत्रीय ग्रन्थोंकी पाण्डुलिपियोंकी रक्षा भट्टारकोंके कार्यका श्रेष्ठ अंग है। शिष्यपरम्पराका विस्तार और जातिसंघटना भट्टारकोंका ही कार्य है। तीर्थक्षेत्रोंकी यात्रा और व्यवस्था मध्ययुगीन जैन समाजके धार्मिक जीवनके प्रमुख अंग थे। भट्टारकोंने यात्राये भी की और उनकी व्यवस्था भी की। चमत्कारप्रदर्शन कर जनताको प्रभावित किया। मूर्तिप्रतिष्ठाके साथ ही आवश्यक होनेसे मंदिरोंमें अंकित व उपयोगी शिल्पकला चित्रकला और संगीतकलाको प्रोत्साहन मिला।

भट्टारक-सम्प्रदायका इतिहास जैन समाजकी मुख्यतः मुनि आचारकी अवनतिका इतिहास है वहाँ समाजको धर्ममें स्थिर रखनेका भी महत्वपूर्ण इतिवृत्त है। वादिराज धर्मभूषण तृतीय सोमदेव शुभचन्द्र सकलकीर्ति और प्रतिष्ठाचार्य जिनचन्द्र जैसे भट्टारकोंके साहित्यसर्जन एवं ऐतिहासिक महत्वको भुलाया नहीं जा सकता।

यापनीय संघ

यापनीय संघका सामान्य परिचय प्रथम अध्यायमें आ चुका है। यहाँ उसके विशिष्ट शिलालेखीय उल्लेखोंके आधार पर अन्य संघोंके साथ सम्बन्ध बतानेका उपक्रम किया गया है। यापनीय संघका उल्लेख करनेवाले अनेक लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे इनके गणों एवं गच्छोंका परिचय मिलता है। यह सम्प्रदाय बडा ही राजमान्य था और लम्बे समय तक अस्तित्वमें रहा। कदम्ब चालुक्य गंग राष्ट्रकूट और रट्ट वंशके राजाओंने इस संघको और इसके साधुओंको अनेक भूमि आदि दान दिये थे।

यापनीय संघके विवरणोंसे व लेखोंसे इस संघके कुमुदिगण पुन्नागवृक्षमूल कारेय कनकोपलसंभूतवृक्षमूल कोटिमडुव कण्डूर वन्दियूर गण तथा नन्दिसंघका पता चलता है।

कदम्ब वंशके प्रारम्भिक राजाओंके कालमें यह संघ बडा प्रभावपूर्ण था। कदम्ब-नरेश मृगेशवर्मा (सन् ४७ –९) ने पलासिका नामक स्थानमें इस संघको निर्ग्रन्थ

और कूर्चक सघोंके साथ भूमिदान द्वारा सत्कृत किया था।[1] मृगेशवर्माके पुत्र रविवर्माने यापनीय संघके प्रमुख आचार्य कुमारदत्तको पुरखेटक ग्राम दानमें दिया था। कृष्णवर्माके पुत्र देववर्माने भी विभिन्न यापनीय सघोको कुछ क्षेत्र दानमें दिया था।[3]

नन्दि सघ

यापनीय सम्प्रदायमें नन्दिसंघ प्राचीन एव प्रमुख था। इस संघके आचार्योंके नाम विशषत नन्द्यन्त और कीर्त्यन्त होते थ। देवरहल्लिके शिलालेखम श्रीमूलमूल-गणसे अभिनन्दित नन्दिसघान्वयके एरेगित्तूर नामक गण तथा पुलिकल गच्छका उल्लेख है। यहाँ यापनीय सघका नाम नही है। इस गच्छकी परम्पराके चन्द्रनन्दि कुमारनन्दि कीर्तिनन्दि विमलचन्द्राचार्यका उल्लेख है।[5] कडबके लेखमें श्रीयापनीय नन्दिसघ पुन्नागवृक्षमूलगण श्रीकित्याचार्यान्वयका उल्लेख है। इसकी परम्परा इस प्रकार है—कूविलाचाय विजयकीर्ति अर्ककीर्ति। इसके अनुसार राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्षन जालमगल नामक गाँव अककीर्तिको भट दिया।[6] मदनूरके लेखमें यापनीय संघके कोटिमडवगण तथा नन्दिगच्छका उल्लेख है। गणधरके सदृश जिननन्दि मुनीश्वरके शिष्य दिवाकराख्य मुनि थ जो मानो केवलज्ञाननिधि तथा गुणोंसे स्वय जिनेन्द्रके सदश थ। उनके शिष्य श्रीमान्दिरदेव हुए। इस लेखके अनुसार पूर्वी चालुक्यवंशके अम्म द्वितीयन जनमन्दिरके लिये मलियपुण्डी (आन्ध्र) ग्रामका अनुदान दिया था। यह नन्दिसघ वृक्षमूलपरक गणोंसे सम्बन्धित है।

पुन्नागवृक्षमूलगण

पुन्नागवृक्षमूलगणका सर्वप्रथम उल्लेख राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्षके समयका कडब का उपयुक्त दानपत्र ह। इसके उपरान्त सन् १ २ के रडवग् लेखमें यापनीय सघ पुन्नागवृक्षमूलगणके प्रसिद्ध उपदेशक आचार्य कुमारकीर्ति पण्डितदेवका उल्लेख

---

१ ज शि स भाग २ स ९९।
२ वही सं १ ।
३ वही स १ ५।
४ वही स १२४।
५ जैन शि० स भाग २ सं १२१।
६ वही सं १२४।
७ वही सं १४३।

है।[1] सन् १ २८के हूलुर (धारवाड) के लेखमें यापनीयसंघ पुन्नागवृक्षमूलगणके गुरु जयकीर्तिका उल्लेख है।[2]

हूलिका विवरण दो भागोंमें उपलब्ध है। प्रथम विवरणमें यापनीय संघ पुन्नागवृक्षमूलगणके बालचन्द्र भटटारकदेवका उल्लेख है तथा दूसरमें रामचन्द्रदेवका विशेष उल्लेख है।[3]

कोल्हापुरके शिलाहारवंशीय बल्लालदेव और गण्डारादित्यके समयमें ११ ८ ई म मूलसंघ पुन्नगवृक्षमूलगणकी आर्यिका रात्रिमती कन्तिकी शिष्या बम्मगवुण्डने मंदिर बनवाया था जिसके लिये अनुदानका उल्लेख होन्नुर लेखमें विद्यमान है।[4]

१२वी शताब्दीके असिकेर (मसूर) के लेखमें मूर्ति प्रतिष्ठा करनेवाले पुन्नागवृक्ष मलगण यापनीय संघके माणिकसेटिटका उल्लेख ह।[5] कगवाड (बेलगांव) के तलघर में भगवान् नेमिनाथके पीठिकालेखमें यापनायसघ पु नागवृक्षमूलगणके साधओमें नेमिच द्र धर्मकीर्ति और नागच द्रके नाम भी उ लिखित हैं। कोल्हापुरके मगलवार पेठ मदिरमें कन्नड लेखमे यापनीय सघ पुन्नागवक्षमलगणके विजयकीर्तिके शिष्य रवियण्णके भाई द्वारा पाठशाला बनवाय जानका उल्लेख है। एकसाम्बि (बेलगांव) म यापनीय सघ पुन्नागवृक्षमूलगणके महामडलाचार्य विजयकीर्तिको दान दिय जानका उल्लेख है।

त्रिभवनमल्लके शासनमें १ ९६ ई के दोणि (धारवाड) के विवरणम यापनीय सघ वक्षमूलगणके मनिच द्र त्रविद्यभटटारकके शिष्य चारुकीर्ति पण्डितको उपवन दानका उ लेख है।

शिर जमखडि विवरणसे ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ भट्टारककी प्रतिमा कुसुम जिनालयके लिए यापनीय सघ और वृक्षमलगणके कालसेटिटन भट की थो।

---

१ जर्नल आफ द बाम्बे हिस्टारिकल सोसायटी १११ प १ २–२ ।
२ यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश डॉ एन उपाध्य अनेकात १९७५।
३ जन शि स भाग ४ स १३ ।
४ इण्डियन एण्टीक्वरी NII प १ २।
५ जर्नल ऑफ कर्नाटक यूनि भाग १ वर्ष १९६५ पृ १५९।
६ जिनविजय (कन्नड) बलगांव जुलाई १९३१।
७ जिनविजय (कन्नड) बेलगांव मई-जून १९३१।
८ जैन शिलालेख सं भाग ४ स २५९।
९ जन शिलालेख स भाग ४ स १६८।
१ जन शि लेख स भाग ४ लेख सं ६ ७।

कण्डूर गण

२८ ई के सुगन्धवर्तिके लेखमें यापनीय संघ कण्डूर गणके कुछ आचार्योंके नाम हैं—बाहुबलि देव (भट्टारक) रविचन्द्रस्वामी अर्हनन्दि शुभचन्द्र मौनिदेव और प्रभाचन्द्र देव आदि ।[1] सौदत्तिके लेखमें भी रविचन्द्रस्वामी तथा अर्हनन्दिका उल्लेख है ।[2]

डॉ पी बी दसाईने दौसुर (सौदत्ति) बेलगांव के एक दूसरे लेखका विवरण दिया है जिसमें यापनीय संघके शुभचन्द्र प्रथम चन्द्रकीर्ति शुभचन्द्र द्वितीय नेमिचन्द्र कुमारकीर्ति प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र द्वितीयका उल्लेख है ।[3]

हूलि (जिला बेलगांव) के १२ वी सदीके लेखमें यापनीय संघ कण्डूरगणके बाहुबलि शुभचन्द्र मौनिदेव और माघनन्दिका उल्लेख मिलता है ।

१२ वी सदीके लोकापुर (बेलगाव)के विवरणके अनुसार यापनीय संघके कण्डूर गणके सकलेन्दु सैद्धान्तिकके शिष्य अभय सिद्धान्तचक्रवर्ती नागचन्द्रसूरिके उपदेशसे कल्लमावण्डके पुत्र बह्मने पुरुदेवकी मूर्तिकी स्थापना की ।[5]

१३वी सदीके अदरगुञ्चि (धारवाड) के विवरणसे यापनीयसंघ कण्डरगणकी उच्छगि स्थित वसदिको दी जाने वाली भूमिकी सीमाओका लेखा-जोखा प्राप्त होता है ।[6]

कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण

४८८ ई अ तेम (जिला कोल्हापुर)के लेखमे कनकोपलसंभूतवृक्षमूलगणके आचार्यो की परम्परा इस प्रकार दी गयी है—सिद्धनन्दि चितकाचार्य (जिनके पाँच सौ शिष्य थे) नागदेव और जिननन्दि । जिननन्दिके लिये चालुक्यनरेश जयसिंहके एक सामन्त सेन्द्रकवशी सामियारने एक जैन मंदिर बनवाकर कुछ भूमि और एक गाँव दानमें दिया था । इसी लेखमें काकोपलाम्नायका भी उल्लेख है ।

कुमुदिगण मगद (जिला-मसूर)के लेखमें यापनीय संघ और कुमुदिगणका सन्दर्भ मिलता है । इसमे अनेक साधुओके नामोल्लेख हैं—श्रीकीर्ति गोरवडि प्रभाशशांक

---

१ जैन शि० लेख स भाग २ लेख स १ ६
२ जैन शि लेख स भाग २ लेख स २ ५
३ जैनिज्म इन साऊथ इण्डिया पृ १६५
४ जैन शि लेख स भाग ४ स २ ७
५ जैन शि लेख स भाग ५ सं ११७
६ जैन शि लेख स० भाग ४ सं० ३६८
७ जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख सं १ ६

भवबृत्तिनाथ एकवीर महावीर नरेन्द्रकीर्ति नागविविक बृतीन्द्र निरवद्यकीर्ति भट्टारक माधवन्दु बालचन्द्र रामचन्द्र मनिचन्द्र रविकीर्ति कुमारकीर्ति दामनन्दि त्रैविद्य गोवर्धन दामनन्दि बडढाचार्य आदि।

गरग् (जिला धारवाड)के लेखम यापनीय सघ कुमदिगणके शांतिवीरदेवके समाधिमरणका स्पष्ट उल्लेख है। यहीके एक अय लेखम भी इस गणका उल्लेख है।[३]

९वी शताब्दीके कीरप्पाक्कम (चिंगलपेट मद्रास)के लेखमें यापनीय सघ कुमुलिगणिके महावीरगुरुके शि य अमरमदलगरु द्वारा निर्मित देशवल्लभ जिनालयका वर्णन प्राप्त होता है।

कारेयगण

११वी शताब्दीके कन्भावीके लेखमे मइलापान्वय कारेयगणके शुभकीर्ति जिनचन्द्र नागचन्द्र गणकोर्ति देवकीर्तिके उल्लेख हैं।[५] बइल होंगल (बेलगांव)के लेखम यापनीय सघ मइलापान्वय कारयगणके मल भट्टारक और जिनेश्वरसूरिका वणन है।[६]

सन १२१ के बदलि (लगांव)के लेखम यापनीयसघ कारयगणके माधव भट्टारक विजयदेव कीर्ति भट्टारक कनकप्रभ और श्रीधर त्रविद्यदेव।

१२ तथा १२५७ ई के हुन्नकेरि लेखम यापनीय सघ मइलापान्वय कारेय गणके सन्दभ मिलत ह। इसमे जिन गरुओके नाम अकित ह वे हैं कनकप्रभ और श्रीधर। कनकप्रभ जातरूपधर (दिगम्बर) विख्यात थ तथा अपनी निग्रन्थताके लिये अति प्रसिद्ध थ।

सौदत्तिक लखम गणकीर्तिके शिष्य इन्द्रकोर्तिका जो मैलापतीथ कारेयगणके थे निदश ह।

---

१ जन शिलालेख मग्रह भाग ४ लेख स १३१।
२ जन शिलालेख सग्रह भाग ४ स ६११।
३ जैन शिलालेख सग्रह भाग ४ स ६१२।
४ जन शिलालेख सग्रह भाग ४ स ७ ।
५ जन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख स १८२।
६ जन शिलालेख सग्रह भाग ४ लेख स २ ९।
७ कर्नाटक इन्स्क्रिप्शन्स भाग १ धारवाड १९४१ पृ ७५ ६।
सपादक—आर एस पंचमुख
८ इन्सक्रिप्शन प्रथम नार्थ कर्नाटक एण्ड कोल्हापुर स्टेट १९३१।
९ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख स १३ ।

(कोटि) मडवगण

यापनीय नन्दिगच्छके साथ कोटिमडवगणका उल्लेख है।[1] १२वीं सदीके मध्यमें लिखे गये असिकेरे (मसूर)के लेखमे प्रारम्भिक श्लोकोंमेसे एक श्लोकमें मडवगण यापनीय संघकी भूरि भरि प्रशसा की गयी है। इसम प्रतिष्ठाचार्य कुमारकीर्ति यापनीय मडवगणसे सम्बन्धित थे।[2] सन् ११२४ में सेडम लेखम मडवगणके प्रभाचन्द्र त्रविद्य का उल्लेख है।[3]

बलहारगण

कलचम्बरुके लेखमे अडकलि गच्छ बलहारगणके आचार्योंकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी गयी ह—सकलचन्द्र अय्यपोटि और अर्हनन्दि। अहनन्दि मनिको अम्मराज द्वितीयने सवलोकाश्रय जिनालयकी भोजनशालाकी मरम्मत करानके लिये अत्तिलिनाड प्रान्तके कलचम्बरु नामक ग्रामको दानम दिया था।

पूर्वीय चालक्यवशके अम्मराज द्वितीयके एक अन्य लेखमे यापनीय सम्प्रदायके नन्दिगच्छ कोटि मडवगणका उल्लेख ह। इसी राजाका पूर्वोक्त लेख ह जिसम अडकलिगच्छ बलहारिगणका उल्लेख है अत १ ४८ ईसवीके बेलगामिसे प्राप्त एक अन्य लेखमें केवल बलगार गण (बलहारि गण) का उल्लेख है और नन्यन्त नाम वाले मघनन्दि व केशवनन्दि (अष्टोपवासी) मनियोके नाम ह।[6]

बडियर या वन्दियूर गण

धर्मपुरी जिला बीड महाराष्ट्र से प्राप्त लेखमे बसदिके आचार्य यापनीय सघ और बदीयरगणके महावीर पण्डितका उल्लेख है। तमलि गुल्बग के १२वीं शताब्दी की प्रतिमाके पीठिकालेखसे ज्ञात होता है कि इसकी प्रतिष्ठा यापनीय सघके बडियूर गणके नागदेव सद्धान्तिकके शिष्य ब्रह्मदेवने कराई थी। वरगलके सन् ११३२ के लेखमें इस गणके गुणचन्द्र महामुनिके स्वगवासका उल्लेख है।

---

१ जैन शिलालेख संग्रह भाग २ सं १४३।
२ जर्नल ऑफ कर्नाटक यनि भाग १ सन् १९६५ पृ १५९।
३ जैनिज्म इन साउथ इण्डिया पी बी० दसाई प ४ ३।
४ जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख सख्या १४४।
५ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख सख्या १४३।
६ जेन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख संख्या १६ ।
७ जन शिलालेख संग्रह भाग ५ स ७ ।
८ जैन शिलालेख सग्रह भाग ५ सं १२५।
९ जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५ लेख सं० ८६।

जम्बूखण्डगण

गोकाक (बेलगांव) से प्राप्त ताम्रपत्रमे जम्बूखण्डगणके आचार्य आर्यनन्दिको दिये गये दानका विवरण है ।[1]

सिंहवूरगण

रण्णिबेण्णर (धारवाड मैसूर) के लेखम नागुल पो लब्बे द्वारा स्थापित नागुलबसदिके लिये शक स ७८१ ई मे कुछ भमि सिंहवूरगणके नागनन्द्याचार्यको दिये जानेका वर्णन है ।

यापनीय सघका अन्य दिगम्बर सघोसे सम्बन्ध

यापनीय सघके कतिपय गण दिगम्बर सम्प्रदायके अन्य सघो द्वारा आत्मसात कर लिय गये तथा कुछ समयप्रवाहम विलीन हो गय यह शिलालेखोंसे स्पष्ट प्रतीत होता ह । हम देख चके है कि यापनीय सघके उल्लेख चौथेसे पन्द्रहवी शताब्दी तक मिलत मे उनसे ज्ञान होता है कि इस सघके साधुओका वचस्व एव प्रभुत्व आजके धारवाड बेलगांव को हापर और गुलबर्गा आदि क्षत्रोम विपलतासे था । आन्ध्र तथा तमिल नाडके कुछ हिस्सोम भी इनका प्रभाव था । दक्षिण भा तमे दिगम्ब रोके साथ इन्हे भी भमिदान देकर सत्कृत किय जानके उल्लेख है ।

नन्दिसघ यापनीय सम्प्रदायका एक महत्वपूण सघ था । परवर्ती शताब्दियोम यापनीय नन्दिसघसे सम्बन्धित लेख प्राप्त नही होत । ११ वी शताब्दीम नन्दिसघ द्रविडसघसे तथा १२वी शताब्दीम मलसघसे सम्बन्धित दिखाई देता है । यापनीय नन्दिसघके साथ अरुगलान्वयका उल्लेख मिलता ह । तामिल प्रान्तमे यापनीय नन्दिसघका अस्तित्व पूर्वीय चालुक्योके राज्यमे था । इस विषयम डा चौधरीका कथन ह कि तामिल प्रान्तके यापनीयोके नन्दिसंघसे ही द्रविडसघके नन्दिसघको उत्तराधिकार मिला था ।

श्रवणबेल्गोलसे प्राप्त लेखोमे नन्दिगणकी गरुपरम्परा दी गयी है जिसमे अन्तमे या बीचम इसे मूलसघ देशियगण कहा गया है पर आरभम केवल नन्दिगण कहा गया है । मलसघसे सम्बद्ध नन्दिगणके प्राचीन आचाय व ही हैं जो द्रविड सघसे सम्बद्ध नन्दिगणक हैं । इस आधार पर डा चौधरीन अपन अनुमानकी पुष्टि की है

---

१ जैन शिलालेख सग्रह भाग ४ स २ ।

२ जन शिलालेख सग्रह भाग ४ स ५६ ।

३ जन शिलालेख सग्रह भाग ३ प्रस्तावना प ३ व ३७ ।

४ जैन शिलालेख संग्रह भाग ३ प्रस्तावना पृ ३७ ।

कि इन दोनों सघों में नन्दिगण कोई प्राचीनगण है औ दोनोंमें बाहरसे आया है।
ये आचार्य उसी गणके हैं और वह सघ यापनीय संघ है।[1]

नन्दिगणकी उक्त दोनों सघो (मूल तथा द्राविड) से सम्बन्धित परम्परामें प्राय सभी प्रतिष्ठित आचार्योंको समाविष्ट करनेकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इन आचार्योंमें आचार्य कुन्दकुन्दका नाम भी परिगणित है। मूलसघ और द्राविडसघ की नन्दिगणप्रभेदकी आचार्यपरम्परा आदम जोडो गयी तथा आनुमानिक है। कालक्रम की दृष्टिसे भी यह परम्परा विचारणीय है। द्रविड सघ नन्दिसंघ परम्परामें कोण्ड-कुन्दाचाय भद्रबाहु समन्तभद्रस्वामी सिंहनन्दि अकलकदेव वजनन्दि एव पूज्य पादस्वामी यह क्रम है।

डॉ उपाध्यकी सूचनाके अनुसार कन्नड ग्रन्थ गणभद की पाण्डुलिपिमे चार गण माने गये हैं। सेनगणको मलसघसे बला कारगणको नन्दिसघसे देशीगणको सिंह सघसे तथा कालोग्रगणको यापनोय सघसे सम्ब न्धित बताया गया है।[3]

इस ग्रन्थके अनुसार बलात्कारगण नन्दिसंघसे सम्बद्ध था। और जैसा कि हम दखते हैं कि न न्दिसघ सर्वप्रथम यापनीय सघस सम्बद्ध था। बलहारिगणके दो लेख हैं। एक लेखम अडडकलिगच्छ बलहारिगणका निदश है और दूसरेमें केवल बलगारगणका। ये दोना यापनीय संघके माने गये हैं। ये क्रमश १ वीं शताब्दी उत्तराध और ११वो शताब्दी पूवार्धके हैं। ११ वी शताब्दीके उत्तरार्धसे बलहारि अथवा बलगारगणको हम बलात्कारगणके रूपमें मलसघसे सम्बद्ध पाते हैं।[6] बलगार शब्द स्थानविशेषका द्योतक है। बलगार ग्राम भी था। बलगार शब्दका सस्कृत रूपान्तरण बला त्कार किया गया है। यह सस्कृत बलात्कार शब्द स्थान-विशेषका द्योतक नही है।

यापनीय पुन्नागवृक्षमलगण भी परवर्ती कालमें मूलसघमें विलीन प्रतीत होता है। हो नूरके लेखमें मूलसघ पु नागवृक्षमलगणका उल्लेख है।

---

१ जन शिलालेख सग्रह भाग ३ प्रस्तावना (नन्दिगण) प ५६–५८।
२ जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख स २१३–२१४।
३ यापनीय सघ पर कुछ और प्रकाश डॉ ए एन उपाध्ये अनकात १९७५।
४ जन शिलालेख सग्रह भाग २ स १४४।
५ जन शिलालेख सग्रह भाग २ स १६।
६ जन शिलालेख सग्रह भाग ४ सं १५४।
७ जन शिलालेख संग्रह भाग ३ प्रस्तावना पृ० ६२।
८ इण्डियन एण्टीक्वरी IVII पृ १ २।

यापनीय कण्डूरगणका अस्तित्व रट्टमरेशोके दो लेखोंमें हैं। ये लेख दसवीं शताब्दी उत्तरार्धके हैं। इसके पश्चात् ११वी शताब्दीके उत्तरार्धमें मूलसघके साथ क्राणूर गणको सम्बद्ध बताया गया है।

पहले लिख चुके है कि कन्नडग्रन्थ गणभदमे कालोग्रगण (कण्डरगण) यापनीय सघका एक प्रमख गण बताया गया है। मूलसघके साथ क्राणूर गणके उल्लेख ११वीं शताब्दीके उत्तराधसे १४ वी शताब्दीके अन्त तक मिलते हैं। मषपाषाण और तिन्त्रिणीक गच्छ इसके प्रसिद्ध गच्छ हैं। ये दोनो पाषाणान्त और वृक्षपरक नामक यापनीय संघके कनकोपल तथा पुन्नागवृक्षमलगण आदि गणोकी स्मृति दिलात हं।

आचाय कुन्दकुन्द प्रभावशाली आचार्य थ मूलसघन उनके साथ अपना सम्बन्ध जोडकर दिगम्बर सम्प्रदायमें महत्त्वपूण स्थान प्राप्त कर लिया था। अत द्राविड और यापनीयसघके अनेक गच्छ उस प्रभावशालो मलसघमे सम्मिलित हो गये थे। मूलसघका प्राचीन व महत्त्वपूर्ण संघ सेनमघ है। यह तथ्य शिलालेखीय तथा साहित्यिक उल्लेखोसे प्रमाणित है। उल्लिखित गणभेदनामक पाण्डलिपिमे भी सेनगणको मूलसघसे सम्बद्ध माना गया है। सेनगणके अतिरिक्त देवगण भी प्राचीन है जिसके प्राचीन पाँच उल्लेख लक्ष्मेश्वर और कडबल्लिसे प्राप्त हुये हैं इसके पश्चात इसका कोई शिलालेखीय उल्लेख नहीं है।

नीतिवाक्यामृत तथा यशस्तिलकचम्पूके रचयिता सोमदेवन यशस्तिलककी प्रशस्तिम अवश्य अपने प्रगुरु यशोदेवको देवसघतिलक कहा है। आचार्य सोमदेव व उनके गौडसघका विवरण देने वाला ताम्रपट–वेमलवाड (करीमनगर आध्र) से प्राप्त हुआ है। इस कीर्तिलिखमें चालक्य राजा बद्दिग द्वारा गौडसघके आचार्य सोमदेवसूरिके लिए एक जिनालय बनवाये जानेका उल्लेख ह। इस दानपत्रम इन्हे गौडसघीय यशोदेवके प्रशिष्य तथा नेमिदेवके शिष्य कहा गया ह।[3] इससे देवसघकी एकता प्रतीत होती है इसे देव नामान्त मुनियोंका गण होनेसे देवगण और गौडदेशसे सम्बद्ध होनेके कारण गौडसघ ये दोनों सज्ञाय प्राप्त हुई होगी।

सेनगण और देवगणके अतिरिक्त अन्य कई गण मलसघम सम्मिलित हो गये हैं। मलसघ द्रविडान्वय मूलसघमें द्राविडसघीय गणोके अन्तर्भावको सचित करता है। अडगन्डिसे प्राप्त द्रविडसघीय लेखोंम सूरस्थगणके वज्रपाणि पण्डित रविकीर्ति और

---

१ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख स १६ व २ ५।

२ जैन शिलालेख सग्रह भाग लेख स २ ७ व २ ९।

३ जैन साहित्य और इतिहास प नाथूराम प्रेमी पृ १७७ द्वितीय सस्करण तथा डॉ वी राघवन नीतिवाक्यामृत आदिके रचयिता जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १० किरण २।

कल्नेलेयदेव मुनियोके उल्लेख है। यही उल्लेख मूलसंघ सरस्थगणके शिलालेखोंमें मिलते हैं वहाँ सूरस्थगणको सेनसघकी शाखा बताया गया है। सरस्थगणके चित्रकूटान्वय तथा कौरगच्छ उपभेद मिलते हैं। यहाँ भी रविचन्द्र रविनन्दि तथा कल्नयलदेवके उल्लेख मिलते हैं। इमसे द्राविड तथा मूलसघके सूरस्थगणका एकता स्पष्ट होती है। द्राविडसघमे सेनगण कौरगच्छका भी उल्लेख मिलता है।

नन्दिसघके माध्यमसे द्राविडसघ तथा मूलसघके साथ यापनीयसंघका सम्बन्ध था।[३] यापनीय बलात्कारगण तथा क्राणरगण भी परवर्ती कालम मूलसघमें अन्तर्भावित हो गये हैं। परवर्ती काष्ठासघ भी यापनीयसघसे प्रभावित है यह हम पुन्नाटसघके अन्तर्गत देख चुके हैं।

काष्ठासघका उपभेद लाडबागड गच्छ है। यह सघ पहले पुन्नाटसघके रूपमें था।[४] पुन्नाटसघीय आचाय जिनसेन (हरिवशपुराणकार) तथा हरिषेण (बृहत्कथाकोशकार) के ग्रन्थोंके अन्त परीक्षण इन्हें यापनीय संभावित करते हैं।

जयसेनने अपने ग्रन्थ धमरत्नाकारमे लिखा है कि लाडबागड गच्छका आरम्भ मेदार्यकी उग्रतपश्चर्यासे हुआ है।[५] मेदार्य (मेतार्य) की यह कथा श्वेताम्बर तथा यापनीय सम्प्रदायमें प्रसिद्ध ह।

काष्ठासघी मान्यताएँ यापनीयोसे प्रभावित हैं। यापनीय स्त्रीमुक्ति गृहस्थमुक्ति तथा अपवादलिंग मानते थे। काष्ठासघी भी स्त्रियों व गृहस्थोंके प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हैं। यापनीय सवस्त्रमुनिको अपवादलिंगी कहते हैं। काष्ठासंघीय लाटी सहितामे ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकको ईषत्मुनि तथा वीरचर्याका अधिकारी माना गया है। उत्कृष्ट श्रावकके दो भेद हैं—एलक व क्षुल्लक। एलक शब्द हमें

---

१ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ स १६६ १७८।

२ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख स २६९।

३ जैन शिलालेख सग्रह भाग ३ चौधरीकृत प्रस्तावना पृ ३ और आगे।

४ भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक ६३१—
तत पुन्नाटगच्छ इति भाडागारे स्थित लोके लाटवर्गटनामाभिधान पृथिव्या प्रथित प्रकटीबभव।

५ धर्मरत्नाकर ५ अ ८ प १ ३। भट्टारक सम्प्रदाय लेखाक ६२५
मेदार्यण महार्षिभिर्विरहुता तेपे तपो दुश्चर।
श्रीखण्डिल्लकपत्तनान्तिकरणाभ्यर्थिप्रभावात्सदा ॥
शाठ्येनाप्युपतप्ता सुरतरुप्रख्या जनाना श्रिय
तेनाजीयत लाडबागड इति स्वेको हि संघोऽनघ ॥

चेलक (चेलखण्डधारी)। से विकसित प्रतीत होता है। दिगम्बर निर्वस्त्रता मनिके लिए अपरिहार्य मानते हैं। अत दिगम्बर और यापनायोके पारस्परिक साहचर्यमे यह अपवादलिगी मनि उत्कृष्ट श्रावकके रूपमे मान्य कर लिया। इसे एकादश प्रतिमाधारी श्रावकके रूपमें मान्य कर लिया गया। हमारी दृष्टिसे परिवर्तीकालमें नग्नत्वको ही मनिवेश माननेवाली दिगम्बर परंपराने यापनीयोंके प्रभावसे उनके अपवादरूपमें मान्य सचेल (चलक) मुनिको ऐलकके रूपम मान्यता प्रदान की होगी। और उसे एकादश प्रतिमाधारी श्रावकसे श्रेष्ठ बतानेके लिए ही ग्यारहवी प्रतिमाके दो भेद किये गये। क्ष लकोकी वीरचर्याको मानने वालोम भी यही गृहस्थोंके प्रति उदार दष्टिकोण तथा अपवादलिंगी मनिकी दृष्टिसे इसे गृहस्थोसे श्रेष्ठ स्थान दिलाने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। अत यह मा यता माथुरसघके अनिरिक्त शष तीन काष्ठासघोकी मानी जानी चाहिए जिसके विषयम हम बता चुके हैं। लाडबागड तो यापनीय शाखा ही ह। हम यह भी बता चुके ह कि रात्रिभोजनविरमणको पच महाव्रतोके पालनके लिए छठा व्रत मानना भा यापनीय मान्यता है जिसे काष्ठासग ने स्वीकार किया ह।

इस प्रकार हम देखत ह कि यापनीय सघ जिसके शिलालेखीय उल्लेख चौथीसे पन्द्रहवी शताब्दी तक मिलत ह धीर धीर दिगम्बर स प्रदायमे विलीन हो गया। इसका कारण एक ओर यापनीयोकी सहिष्णवृत्ति और दूसरी ओर दिगम्बरोंका अधिक प्रभाव साथ ही दिगम्बरोस इनकी समानता है।

नन्दिसघ पहले ही मूलसघ द्वारा अपना लिया गया था। मूलसंघके बढते हुए प्रभावके कारण बलात्कारगण तथा क्राणरगण आदि भी उसीम सम्मिलित हो गये। यह शिलालेखोसे स्पष्ट है। कुछ गण जो अपनी विचारधाराको एकाएक छोड नही सके व काष्ठासघमे अ तभत हो गय। इस विश्लेषणसे यापनीय सघके अ य सघोमें विलयकी धुंधली रूपरखा दिखाई देती है।

●

---

१ रत्नकरण्डश्रावकाचारम एलकको चेलखण्डधारी कहा गया है।

तृतीय परिच्छेद

यापनीयोंका साहित्य

यापनीय साहित्य : एक विमर्श

यापनीय आचार्योंने विपुल साहित्यकी सर्जना कर जैन साहित्यको अभिवृद्ध किया है। इनका अधिकांश साहित्य दिगम्बर-साहित्यमें अन्तर्भुक्त हो गया है। मूलाचार, भगवती आराधना सन्मति-तर्क तथा स्वयंभूके पउमचरिउ आदि ग्रन्थोंके अवलोकनसे स्पष्ट है कि यापनीयोंके साहित्यका दिगम्बर साहित्यसे बहुत अधिक साम्य है व यापनीय आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें कहीं भी अपने संघका उल्लेख नहीं किया है।

हरिभद्रसूरिने अपनी ललितविस्तरामें इनके 'यापनीय तन्त्र' से उद्धरण दिया है[1] किन्तु उक्त ग्रन्थके अप्राप्य होनेसे उनके समस्त आचार-विचारोंसे परिचित होना कठिन है। हरिभद्र तथा श्रुतसागरसूरि[2] के उल्लेखोंसे हम मात्र इतना जान सकते हैं कि वे आचरणमें दिगम्बर मुनियोंकी भाँति निवस्त्र रहते थे तथापि सवस्त्रताको अपवादरूपमें स्वीकार करते थे। विचारोंकी दृष्टिसे वे श्वेताम्बरोंकी भाँति स्त्रीमुक्ति केवलिमुक्ति गृहस्थमुक्ति तथा परशासनसे भी मुक्ति स्वीकार करते हुए श्वेताम्बर आगमोंको भी प्रमाण मानते थे। डॉ ए एन उपाध्येके अनुसार वे दिगम्बर ग्रन्थ षट्खण्डागम आदिके भी वेत्ता रहे हैं।[3] मूलाचार और भगवती आराधनासे स्पष्ट है कि यापनीय साधुओंकी चर्या दिगम्बर साधुओंकी भाँति ही थी। यही कारण है कि दिगम्बर साहित्यसे यापनीय साहित्यको पृथक् करना एक क्लिष्ट कार्य है।

पूर्वोल्लिखित शिलालेखोंके आधारसे अवगत होता है कि यापनीय सम्प्रदायका प्रभाव कर्नाटक प्रदेशमें विशेष रूपसे रहा है अतः प्राकृत संस्कृत और कन्नड़ भाषामें लिखित यापनीय-साहित्यके कन्नडलिपिमें लिखे जाने और उसके पाए जानेकी अधिक संभावना है।

यापनीयोंके इस साहित्यको सैद्धान्तिक दार्शनिक आचारात्मक कथात्मक और कथात्मक इन विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है।

सैद्धांतिक साहित्य

तत्त्वार्थसूत्र

यह यापनीय ग्रन्थ है। इसमें १० अध्याय तथा लगभग ३५० सूत्रोंमें समस्त जैन तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन किया गया है। इसका विशेष विचार आगे किया गया

---

१ ललितविस्तरा पृ ४२।

२ दसणपाहुड-टीका गाथा ११।

३ अनेकान्त वीर निर्वाण विशेषांक १९७५ जैन सम्प्रदायके यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश।

है। इसमें सम्पूर्ण जन धर्म दर्शन और न्यायको सन्निविष्ट किया गया है। इस रचनामें साम्प्रदायिकताका समावेश न होनेसे इसे दोनो सम्प्रदायोंमें आदर प्राप्त है। इस ग्रन्थ पर दोनों सम्प्रदायोंमें लिखी गई विस्तृत और गंभीर टीकाएं इसकी महत्ता और लोकप्रियताकी सूचक हैं। इसे जन परम्पराका आद्य सूत्रग्रन्थ बहु मान्यका गौरव प्राप्त है।

दार्शनिक साहित्य

(क) सन्मति-तर्क

दार्शनिक ग्रन्थोंमें सिद्धसेन दिवाकर यापनीय संघके महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। इनकी प्रतिभा बहुमुखी तथा व्यक्तित्व तेजस्वी था। इनका सन्मतितर्क दर्शनका प्रभावक ग्रन्थ है, जिसका दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों परम्पराके आचार्योंने बहुमानपूर्वक उल्लेख किया है। अकलंकदेव वीरसेन विद्यानन्द आदि दिगम्बर आचार्योंने इनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख किया है। आचार्य हरिभद्र अभयदेव आदि श्वेताम्बर आचार्योंने भी इनका निर्देश किया है।

प्राकृत गाथाओंमें रचित इस ग्रन्थमें तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्डमें द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय तथा सप्तभंगीका विवेचन है। द्वितीय काण्डमें दर्शन और ज्ञानका विवेचन है। इसीमें केवलीके ज्ञान और दर्शनका अभेद प्रतिपादित किया है। तृतीय काण्डमें अनेकान्तवादका विवेचन है। ग्रन्थकी प्रत्येक गाथामें विपुल अर्थ तथा दर्शन निहित है। तत्त्वार्थसूत्रकी भाँति यह ग्रन्थरत्न भी जन परम्परामें बहुमान्य रहा है।

(ख) स्त्रीमुक्तिप्रकरण तथा केवलिभुक्तिप्रकरण

शाकटायनने दो स्त्रीमुक्ति तथा केवलिभक्ति नामके दार्शनिक ग्रन्थ लिखे हैं। यद्यपि मान्यताके रूपमें दोनों सिद्धान्त श्वेताम्बर तथा यापनीय दोनों सम्प्रदायोंको मान्य रहे हैं तथापि इनका सर्वप्रथम व्यवस्थित विवेचन शाकटायन द्वारा ही किया गया है। शाकटायनके नैयायिक शैलीमें रचित इन सिद्धान्तोंकी समीक्षा दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रने अपने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डमें की है।

आचार-ग्रन्थ

(क) मूलाचार

यह मुनि आचारका प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। दिगम्बर सम्प्रदायमें इसे बहुत आदर एवं मान्यता प्राप्त है। मूलाचारके धवला-टीकामें आचार्य वीरसेनने आचाराङ्गके रूपमें उल्लिखित किया है। मूलाचारकी आचारवृत्ति संस्कृत टीकाके रचयिता वसुनन्दिके अनुसार यह आचाराङ्गके आधारपर निर्मित संक्षिप्त ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ बारह अधिकारोंमें विभक्त है। आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें अवश्य मुनि आचारका प्रतिपादन है उन्ह छोडकर दिगम्बर परम्परामें मूलाचारके अतिरिक्त मुनि आचारका सम्पूर्णतया प्रतिपादक और कोई प्राचीन एव स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है।

(ख)भगवती-आराधना

यह भी मनि आचारका प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण और दिगम्बर सम्प्रदायमें मान्य प्राचीन ग्रन्थ है। इसम कुल २१६६ गाथाए हैं। इसमें दर्शन ज्ञान चारित्र और तप रूप इन चार आराधनाओंका विस्तत और अपूव वर्णन है। ग्रन्थके अन्तमें जो प्रशस्ति उपलब्ध है उसम पाणितलभोजी शिवार्यने अपने ज्ञानदाता गुरु आर्य जिननन्दिगणि आर्य सर्वगुप्तगणि और आय मित्रनन्दिके चरणोके निकट मूल सूत्र और उसके अभिप्राय को अच्छी तरह समझकर पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की गई रचनाके आधारसे इसे अपनी शक्तिके अनुसार लिखा प्रकट किया है।

जैनधर्ममें समाधिमरणका विशेष महत्त्व है। मरणकी सफलतापर जीवनकी सफलता तथा सुन्दर भविष्यकी आशा निर्भर रहती है। भगवती आराधनामें मरणके भेद प्रभेदों तथा उसम मरणसम्बन्धी शिक्षाए हैं। समाधिमरणका इतना व्यवस्थित और विस्तृत विवचन इसी ग्रन्थम प्राप्त होता है।

(ग) श्रीविजयोदया-टीका

भगवती आराधनापर कई टीकाय ह। इनमेसे एक अपराजितसूरि द्वारा लिखित श्रीविजयोदया नामकी बहद् टीका ह। इस टीकाकी प्रशस्तिमें अपराजितसूरिने अपने को बलदेवसूरिका शिष्य और चन्द्रनन्दि महाप्रकृत्याचार्यका प्रशिष्य बतलाया है। नागनन्दिगणिकी चरणसेवासे उन्ह ज्ञान प्राप्त हुआ था और श्रीनन्दिगणिकी प्रेरणासे उन्होन यह टीका लिखी। व आरातीय सूरियोम श्रेष्ठ थे।[1]

प आशाधरजीने अपराजितका अपने ग्रन्थोंमें श्रीविजयाचार्यके नामसे भी उल्लेख किया ह। इसी नामपर उनके द्वारा रचित दशवैकालिक तथा भगवती आराधनाकी टीकाओके नाम भी 'श्रीविजयोदया' हैं।

दिगम्बर सम्प्रदायम आरातीय पद विजयदत्त श्रीदत्त शिवदत्त तथा अर्हद्दत्त इन चार आचार्योंके अतिरिक्त किसीके लिए व्यवहृत नहीं किया गया है।[2] सर्वार्थ

---

१ एतच्च श्रीविजयाचार्यविरचितसंस्कृतमूलाराधनाटीकायां सुस्थितसूत्रे विस्तरत समर्थित द्रष्टव्यम।

अनगारधर्मामृत टीका पृ ६७३।

२ विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते।

आरातीयाः यतयस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वदेशधराः॥

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार श्लोक २४।

सिद्धिमें दशवैकालिक आदिको उपनिबद्ध करने वाले आचार्योंको आरातीय कहा गया है।[1]

अपराजितसूरिका अध्ययन विस्तृत और गम्भीर था। वे गम्भीर आगमवेत्ता थे। उनकी इस टीकामे उद्धरणोका बाहुल्य है जिससे उनका अन्य ग्रन्थोंके स्वाध्यायका ज्ञान होता है। भगवती आराधना तथा यापनीयोंके आचार विचारोको समझनेके लिए यह टीकाग्रन्थ महत्त्वपूर्ण ह।

लाक्षणिक ग्रन्थ

(क) शाकटायन व्याकरण

शाकटायन प्रसिद्ध व प्रतिभाशाली आचाय ह। शाकटायन व्याकरणकी चिन्ता मणि टीकाके कर्ता यक्षवर्माने तो इन्ह सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान कहा है। इनके व्याकरणका नाम शब्दानुशासन ह जिसपर इनकी अमोघवृत्ति नामक स्वोपज्ञ वृत्ति है। राजशेखरकी काव्यमीमासासे इनके किसी साहित्य शास्त्रविषयक ग्रन्थके प्रणेता होनेकी सभावना प्रतीत होती ह। उन्होने इति पाल्यकीर्ति कहकर इनके मतको उद्धृत किया है। इनका यह व्याकरण सस्कृत व्याकरणकी शृखलामे महत्त्वपूर्ण कडी है। शाकटायन वयाकरणके साथ-साथ तार्किक व सद्धान्तिक भी थ।

(ख) स्वयभू छद

यह छदशास्त्रका ग्रन्थ है। इसम आरभके तीन अध्यायोंम प्राकृत छन्दोंका वर्णन है और शेष पाँच अध्यायोमें अपभ्रश छदोका विवचन किया गया ह।

पउमचरिउसे स्वयभूके व्याकरण ग्रन्थका पता चलता है—

तावच्चिय सच्छंदो भमइ अवब्भस-मच्चमायगो।
जाव न सयभु वायरण-अंकुसा तच्छिरे पडई॥
सच्छन्द-वियड-दाढो छदोलकार-णहर दुप्पेच्छो।
वायरण-केसरड्ढो सयभु पचाणणो जयउ॥

कथात्मक

(क) पद्मचरित

कथात्मक साहित्य-ग्रन्थोमें आचाय रविषेणका पद्मचरित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ह, जिसमें राम-कथाकी विमलसूरिके पउमचरिउकी परम्पराको ग्रहण किया गया है। यह सस्कृतमे रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

---

१ आरातीय पुनराचाय कालदोषात्सक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्ध तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजल घटगृहीतमिव।
सर्वार्थसिद्धि अध्याय सूत्र २ ।

(ख) हरिवंश पुराण

पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेनकृत महापुराणमें ६६ सर्ग हैं। इसकी रचना वर्द्धमानपुरमें हुई।

(ग) पउमचरिउ

साहित्य संसारको स्वयम्भूकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं। पउमचरिउ रिट्ठणेमिचरिउ और स्वयम्भूछंद। इनमें पउमचरिउ और स्वयम्भूछंद प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भूने रिसिपचमी और सुद्धयचरित नामक दो ग्रन्थोंका और उल्लेख किया है।

स्वयम्भकी प्रबन्ध-प्रतिभा अप्रतिम है। अपनी इसी प्रतिभाके बलपर उन्होंने पउमचरिउ और रिटठणमिचरिउ इन दो अमर महाकाव्योंकी रचनाकर अपभ्रंश भाषाको अभतपूर्व गौरवसे मडित किया है।

कथाकोश

आचार्य हरिषेणने भगवती आराधनाके आधारपर आराधनाके महत्त्वको प्रदर्शित करन वाली कथाओंकी रचना की है जिसे उन्होने कथाकोश कहा है। उसे ही बृहत्क थाकोश कहा जाता है। ये भी पुन्नाटसघीय आचार्य हैं। इन्होंने भी अपने ग्रन्थकी रचना वर्द्धमानपुरमे की है।

यापनीयोंके उपलब्ध साहित्यके इस परिचयको देखते हुए कहा जा सकता है कि यापनीय आचार्योंने विविध एव विपुल साहित्यकी रचनाकर जैन साहित्यके भण्डारको समृद्ध किया है। इनका पर्याप्त साहित्य साम्प्रदायिक उपेक्षाके कारण नष्ट हो गया प्रतीत होता है। विभिन्न शास्त्रभडारोंमें अनुसंधान करनेपर अभी भी उनका बहुत-सा साहित्य उपलब्ध हो सकता है।

तत्त्वार्थसूत्रकारकी परम्परा

यहाँ विचारणीय है कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताकी परम्परा क्या है?

उद्भव-स्रोतके समान होनेके कारण जैन तत्त्वज्ञानमें सैद्धान्तिक मतभेद नगण्य सा है। श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदायोंमें मुख्य भेद बाह्य आचारविषयक है अत एव तत्त्वज्ञानविषयक कृतिको देखकर कृतिकारकी परम्पराका निर्धारण एक जटिल समस्या है। विशेषत ऐसी कृतिके विषयमें जिसे दोनों सम्प्रदायोंमें समान समादर प्राप्त है यह समस्या और अधिक जटिल बन जाती है। तत्त्वार्थसूत्र ऐसी ही रचना है जिसका आद्यन्त वाचन उसे एक साम्प्रदायिक अभिनिवेशसे रहित आचार्यकी कृति घोषित करता है।

श्वेताम्बर विद्वान् भाष्य और प्रशस्ति आदिके आधारपर उन्हें श्वेताम्बर

परम्पराका मानते रहे हैं किन्तु भाष्य और प्रशमरतिके आधारपर सूत्रकारकी परम्पराका निर्धारण गलत दिशामें प्रयत्न होगा क्योंकि इन ग्रन्थोंकी एककर्तृकता स्वयं विवादास्पद है। सूत्रके टीकाकार भी सूत्रकारकी परम्पराके निर्धारणमें सहायक सिद्ध नहीं होते हैं। श्वेताम्बर टीकाकार इन्हें श्वेताम्बराचार्य मानते रहे हैं और दिगम्बर टीकाकार दिगम्बर। श्वेताम्बराचार्य रत्नसिंहके टिप्पणसे अवश्य यह ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परामें कुछ लोग इन्हें दिगम्बर निह्नव समझते रहे हैं।[2] भाष्यके आधारपर ही पं नाथूरामजी प्रेमीने सूत्रकारको यापनीय स्वीकार किया है।[3]

तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंपर ही विचार करके सूत्रकारकी परम्पराका निर्धारण अधिक योग्य होगा। तत्त्वार्थसूत्रके वर्तमानमें दो सूत्रपाठ उपलब्ध हैं। एक भाष्यसम्मत और दूसरा (पूज्यपादकी टीका तत्त्वार्थवृत्ति) सर्वार्थसिद्धिसम्मत। इन दोनोंमें कुछ पाठभेद हैं। समान सूत्रपाठोंमेंसे भी कुछ सूत्र सूत्रकारकी परम्पराके निर्धारणके लिए विचारणीय हैं।

प सुखलालजी द्वारा विवेचित तत्त्वार्थसूत्र हिन्दी विवेचन की प्रस्तावनामें जापानी विदुषी कु सुजुको ओहिराका एक निबन्ध प्रकाशित हुआ है— तत्वार्थसूत्रका मूल पाठ'।[4] इस निबन्धमें उन्होंने अपने अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि श्वेताम्बर पाठ मूल है। इनके अध्ययनके तीन पहलू हैं —१ भाषागत परिवर्तन २ प्रत्येक आवृत्तिमें सूत्रोंका विलोपन ३ सूत्रगत मतभेद। उनका कथन है कि इस समस्याके समाधानमें मुख्यतया अन्तिम दो साधनोंका उपयोग किया गया है परन्तु तार्किक दृष्टिसे समुचित निर्णयके लिए वे पूर्णत सक्षम सिद्ध नहीं हुए है। आश्चर्य

---

१ पं सुखलालजी संघवी तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान तृतीय संस्करण १९७६।

२ जैन साहित्यका इतिहास भाग २ प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री पृ २३९

परमैतावच्चतुरं कर्तव्यं श्रृणुत वच्मि सविवेक ।
शुद्धे यौऽस्य विधाता स दूषणीयो न केनापि ।
टीका—एवं चाकर्ण्य वाचको ह्य मास्वातिर्दिगम्बरो निह्नव इति
केचिन्मावमन्नत् सितार्थं परमैतावच्चतुरैरिति पद्यं सूक्तं—शुद्ध
सत्त्वप्रथमः इति वाचक कोऽप्यस्य ग्रन्थस्य विधाता स तु
केनापि प्रकारेण न निन्दनीय एतच्चातुर्यमेवेति।

३ जैन साहित्यका इतिहास प नाथूरामजी प्रेमी—पृ ५२ -५४७।

४ तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पं० सुखलालजी संघवी, तृतीय संस्करण १९७६।

की सका यह है कि [illegible] भी विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ, यद्यपि यह [illegible] सर्वथा प्रामाणिक है।"......अब हम मतभेदके दो प्रकरणोंकी छानबीन करेंगे। वे इस प्रकार है—१ पौद्गलिक बन्धका नियम और २ परीषह। ये दो प्रकरण जिनमें दोनों परम्पराओंके सैद्धान्तिक मतभेदका समावेश है विचाराधीन मूलपाठकी यथार्थताकी सिद्धिके लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार इस निबन्धके अनुसार मुख्य विचारणीय दो प्रकरण हैं। पुद्गल बन्धके नियम २ परीषह विधायक सूत्र। सूत्रकारकी परम्पराके निर्धारणके लिए यहां हम भी इन्हीं प्रकरणोंका विचार प्रस्तुत करते हैं।

बन्ध-विचार

तत्त्वार्थसूत्रम पौद्गलिक बन्धके निरूपक सूत्र इस प्रकार हैं—

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध ५ ३३

न जघन्यगुणानाम् ५ ३४

गुणसाम्ये सदृशानाम ५ ३५

द्वयधिकादिगुणानां तु ५ ३६

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ ५ ३७ दिगम्बर पाठ

बन्ध समाधिकौ पारिणामिकौ ५ ३६ श्वेताम्बर पाठ

इन सूत्रोमें प्रथम चार सूत्र दोनो सूत्रपाठोमें समान हैं। अन्तिम सूत्रमें किंचित् भेद है। सूत्रोके समान होने पर भी दोनोके अर्थमें पर्याप्त भिन्नता है। समान सूत्रोके अर्थमें भिन्नता होना आश्चर्यजनक है।

सर्वार्थसिद्धिके अनुसार बन्ध विचार

स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके कारण ही पुद्गलपरमाणु परस्पर बन्धको प्राप्त होते हैं जिन परमाणुओमें स्निग्ध या रूक्ष गुणांश जघन्य हो उनका बन्ध नहीं होता। मध्यम या उत्कृष्ट गुणांशवाले परमाणओमें बंधनेकी योग्यता है पर वे भी सर्वत्र बन्धको प्राप्त नही होते इनमें भी अपवाद है। गुणांशोंकी समानता होने पर सदृश (तुल्यजातीय) परमाणुओका बन्ध नही होता। पूज्यपादके अनुसार इसका अर्थ है कि सम गुणांश वाले सदृश और विसदृश दोनो ही परमाणुओंका बन्ध नही होता है। चौथे (३६ वें) सूत्र द्वारा बन्धकी मर्यादा निश्चित की गयी है। इस सूत्रका अर्थ यह है कि दो गुणांश अधिक होने पर ही बन्ध होता है। परमाणुओंकी बन्धयोग्यता सर्वत्र द्वयधिकता मानी गयी है।

आचार्य पूज्यपादकी व्याख्याका निष्कर्ष यह है कि जघन्य गुणांशवाले पुद्गलोंका परस्पर बन्ध नहीं होता। एक पुद्गल परमाणु जघन्य तथा दूसरा मध्यम या उत्कृष्ट हो तो भी बन्ध नही होता। यह द्वितीय सूत्रका अर्थ है। मध्यम तथा उत्कृष्ट गुणांशोमें

भी सम गुणांश होने पर सदृश या विसदृश परमाणुओंका परस्पर बन्ध नहीं होता यह तृतीय सूत्रका अर्थ है। 'गुणसाम्ये सदृशानाम्' में सदृशोंके प्रतिषेधसे विसदृशोंका ग्रहण नहीं किया गया है। सदृशका सदृश या विसदृशके साथ बन्ध होनेके लिए दो गुणांश अधिक होना आवश्यक है। एक या तीन आदि अधिक होने पर बन्ध नहीं होता है। यह चौथे सूत्रका अर्थ है। बन्ध होने पर दो अधिक गुणांशवाला दो कम गुणांशवालेको अपने रूप परिणमा लेना है यह पाँचवें सूत्रका अर्थ है।

आचार्य अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें एवं आचार्य विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धिकारके अनुसार व्याख्यान किया है। उसके समर्थनमें युक्तियाँ दी हैं।

पूज्यपाद स्वामी अकलंकदेव तथा आचार्य विद्यानन्द तीनोंके ही समक्ष षट्खण्डागमकी पौद्गलिक बन्धकी विधायक गाथा रही है। आचार्य अकलंकदेव उस गाथाके 'विसमे समे वा' का अर्थ अतुल्यजातीय और तुल्यजातीय करते हैं किंतु उनका यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि गाथाकी प्रथम पंक्तिमें स्निग्धका स्निग्धके साथ तथा रूक्षका रूक्षके साथ द्व्यधिक होने पर बंध होता है इस कथनमें तुल्यजातीय बन्धका कथन आ हो गया है और दूसरी पंक्तिमें स्निग्ध और रूक्षका बन्ध बताया गया है। यहाँ अतुल्यजातीय बन्धका कथन आ ही गया है। इस स्थितिमें 'विसमे समे वा' का अर्थ अधिक और पुनरुक्त हो जाता है। साथ ही 'विसम समे वा' का अर्थ दूसरी पंक्तिके साथ है तो इसका अर्थ हुआ स्निग्ध और रूक्षका बन्ध जघन्यको छोड़कर अतुल्यजातीय अथवा तुल्यजातीय दोनों ही स्थितियोंमें होता है। यह अर्थ नितान्त दोषपूर्ण है क्योंकि स्निग्ध और रूक्षका बन्ध तो अतुल्यजातीय ही होता है तुल्यजातीय नहीं। षट्खण्डागमके बन्ध नियम पर आगे विचार किया जायेगा।

भाष्यानुसार बन्ध–विचार

स्निग्ध व रूक्ष अवयवोंका परस्परमें बन्ध होता है। जघन्य गुणवाले परमाणुओंका पारस्परिक बन्ध नहीं होता अर्थात् दो जघन्य गुण वाले परमाणुओंका पारस्परिक बन्ध नहीं होता परन्तु एक जघन्य गुणांशका अन्य मध्यम या उत्कृष्ट गुणांशके साथ बन्ध होता है। मध्यम तथा उत्कृष्ट गुणांशोंमें भी समान गुणांशवाले सदृश अवयवोंका पारस्परिक बन्ध नहीं होता। असमान गुणांशवाले सदृश अवयवोंका बन्ध होता है। दो तीन चार आदि गुणांश अधिक होने पर ही सदृशोंका बन्ध होता है।

---

१ एतदुक्तं भवति द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षैः त्रिगुणस्निग्धानां त्रिगुणरूक्षैः द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणस्निग्धैः द्विगुणरूक्षैरूक्षैरित्येवमादिषु नास्ति बन्ध इति। यद्येवं सदृशानामपि किमर्थम् ? गुणवैषम्ये सदृशानामपि बन्धनिषेधप्रतिपत्त्यर्थं सदृशग्रहणं क्रियते। सर्वार्थसिद्धि ५।३५।

दोनो परम्पराओंकी भिन्नता इस प्रकार है :—

१ भाष्यके अनुसार दोनों परमाणु जब जघन्य गुणवाले हो तभी उनका बन्ध निषिद्ध है। जघन्यगुण और अजघन्यगुण वालोका बन्ध निषिद्ध नही है। पर सर्वार्थसिद्धिके अनुसार एक जघन्यगुण परमाणुका दूसर अजघन्यगुण परमाणुके साथ भी बन्ध नही होता।

२ गुणसाम्य सदृशानाम से भाष्यकारने यह फलितार्थ माना है कि विसदृशोंमें सम और विषम दोनों स्थितियोंमें बन्ध होता है। सर्वार्थसिद्धिकारने गुणांशोंकी समानता होने पर सदृश और विसदृश दोनोंका बन्ध नही माना है।

३ भाष्यानुसार द्व्यधिकादिगणानां तु म आदि पदका अर्थ तीन आदि सख्या लिया गया है सर्वार्थसिद्धिकारके अनुसार आदि प्रकारवाची है।

४ द्व्यधिकादि सूत्रसे विहित बन्धविधान भाष्यानुसार केवल सदृशो पर लागू होता है सर्वार्थसिद्धिम वह विधान असदृश परमाणओं पर भी लागू होता है।

सर्वार्थसिद्धिके अथकी दृष्टिसे यहा गणसाम्य सदशानाम सूत्र विचारणीय है। इसके अनुमार सदश अथवा विसदश दोनो स्थितियोम द्व्यधिक गुणाश होना आवश्यक है और यह विधान द्व्यधिकादिगणानां तु स हो ही रहा है अत गुणसाम्ये यह सूत्र यहाँ अनावश्यक लगता है। सदश शब्द भ्रान्तिमलक ह और इसी प्रभावके कु सजुको ओहिरान श्वताम्बर पाठको मल माना ह।

षटखण्डागमके अनुसार बन्ध–विचार

इस प्रसगमे षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डगत पुद्गलबन्धके निरूपक सूत्रोपर भी विचार किया जाता है—

वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बधो। ३२
समणिद्धदा समल्हुक्खदा भेदा। ३३
णिद्धणिद्धा ण बज्झंति ल्हुक्खल्हुक्खा य पोग्गला।
णिद्धल्हुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला॥ ३४॥
वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बधो। ३५॥
णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण ल्हुखस्स ल्हुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स ल्हुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥ ३६॥

इन सूत्रोंका अर्थ इस प्रकार है–विसदृश स्निग्धता तथा विसदृश रूक्षता बन्ध है। समस्निग्धता तथा समरूक्षता भेद (बन्धका कारण नही) है। स्निग्धका स्निग्धके साथ तथा रूक्षका रूक्षके साथ (समगुण) बन्ध नही होता है किन्तु सदृश और विसदृश ऐसे स्निग्ध और रूक्ष पुद्गल परस्पर बन्धको प्राप्त होते हैं। द्विमात्रा स्निग्धता और द्विमात्रारूक्षता बन्ध है। दो गुण अधिक स्निग्धका स्निग्धके साथ

और दो गुण अधिक रूक्षका रूक्षके साथ तथा स्निग्ध पुद्गलका रूक्ष पुद्गलके साथ जघन्य गुणको छोड़कर सम अथवा विषम गुणांश होने पर बन्ध होता है।

षट्खण्डागमके उक्त प्रतिपादनके अनुसार पुद्गल-बंधकी स्थितिको निम्न-तालिका द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

क्रमांक	गुणांश	सदृशबंध	विसदृशबन्ध
१	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२	जघन्य + एकादि अधिक	नहीं	नहीं
३	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	है।
४	जघन्येतर + एकाधिकजघन्येतर	नहीं	है।
५	जघन्येतर + द्वयधिकजघन्येतर	है।	है।
६	जघन्येतर + त्र्यादि-अधिकजघन्येतर	नहीं	है।

सर्वार्थसिद्धिकार तत्त्वार्थवार्तिककार और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककारके अनुसार पुद्गल बंधकी स्थितिकी तालिका इस प्रकार ह—

क्रमांक	गुणांश	सदृशबंध	विसदृशबंध
१	जघन्य + जघन्य	नही	नही
२	जघन्य + एकादि अधिक	नही	नहा
३	जघन्येतर + समजघन्यतर	नही	नही
४	जघन्येतर + एकाधिकजघन्यतर	नही	नहीं
५	जघन्येतर + द्वयधिकजघन्यनर	है	ह
६	जघन्यतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नही	नही

भाष्यानुसा ी तालिका इस प्रकार ह—

क्रमांक	गणांश	सदृशबन्ध	विसदृशबन्ध
१	जघन्य + जघन्य	नही	नहीं
२	जघन्य + एकादि अधिक	नही	है
३	जघन्येतर + समजघन्येतर	नही	है
४	जघन्येतर + एकाधिकजघन्येतर	नहीं	है
५	जघन्येतर + द्वयधिकजघन्येतर	है	है
६	जघन्येतर + त्र्यादिअधिकजघन्येतर	है	है

१ षट्खण्डागम खण्ड ५; भाग ६, पुस्तक १४ सूत्र ३२ ३३ ३४ ३५ व ३६।

तत्त्वार्थसूत्रोंसे जो अर्थ व्यक्त होता है वह इस प्रकार है—

१ स्निग्धता और रूक्षताके कारण पुद्गलोंका परस्परमें बन्ध होता है।

२ जघन्यगुणवाले पुद्गलोका बन्ध नही होता।

३ गुणसाम्योंके समान होने पर समान गुणवाले पुद्गलोंका भी बन्ध नहीं होता। (अर्थात् विसदृश गुणवाले पुद्गलोंका बन्ध होता है)।

४ किन्तु द्वयधिक गुणवाले सदृश पुद्गलोका बन्ध होता है।

५ बन्ध होने पर दो अधिक गुणवाला पुद्गल दो कम गुणवाले पुद्गलको अपने रूप परिणमा लेता है। श्वेताम्बर पाठके अनुसार समगुणांश होने पर विसदृशबन्धमें कोई एक सम गुणांश दूसरे समगुणांशको अपने रूप परिणमा लेता है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रमें निबद्ध पुद्गलबन्धकी प्रक्रियाकी अथसंगति दिगम्बर परम्पराको आर्षरूपमें मान्य षट्खण्डागमगत पुद्गलबन्धसे हो जाती है। अत इस दृष्टिसे तत्त्वार्थसूत्रके पुद्गलबन्धको दिगम्बर मान्यताके विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। षट्खण्डागम यापनीयोंको भी मान्य था अत तत्त्वार्थसूत्रगत पुद्गल-बन्ध नियम यापनीय सम्मत भी कहा जा सकता है।

परीषह प्रकरण

तत्त्वार्थसूत्रकारने दश सूत्रोंमें परीषहोंका विचार किया है। उनके अनुसार जिनो-पदिष्ट मार्गसे च्युत न होने और कर्मोंकी निर्जराके लिए परीषह सहन आवश्यक है। ये परीषह २२ हैं। सूक्ष्मसाम्पराय तथा छद्मस्थ वीतरागके चौदह परीषह तथा जिन भगवानके ११ परीषह कहे गये हैं। बादर साम्पराय तक सभी होते हैं।

ये परीषह भिन्न-भिन्न कर्मोंके उदयसे सम्बद्ध हैं। ज्ञानावरणकर्मके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं। दर्शनमोहसे अदर्शन अन्तरायसे अलाभ तथा चारित्र-मोहसे नाग्न्य अरति स्त्री निषद्या आक्रोश याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं। शेष ग्यारह परीषह वेदनीय कर्मके उदयसे होते हैं।

परीषहोंसे सम्बद्ध इन सूत्रोंका यह सरलार्थ है।

पूज्यपाद स्वामी तथा आचार्य अकलक आदिने छद्मस्थ वीतरागमें चौदहों परी-षहोंके सद्भावका शक्तिमात्रकी विवक्षासे माना है। जिनेन्द्रके ११ परीषहोंके विधायक सूत्रके टीकाकारोंने विभिन्न अर्थ किये हैं। सर्वार्थसिद्धिमें 'न सन्ति' और राजवार्तिक 'कैश्चित कल्प्यन्ते' का अध्याहार किया गया है।

सर्वार्थसिद्धिके अनुसार मोहनीयकर्मकी सहायताके अभावमें क्षुधादि वेदना रूप भावपरीषहोंका अभाव होनेपर भी वेदनीय कर्मके उदयरूप द्रव्य-परीषहका

१ त सू ९/११ की वृत्ति

सद्भाव मानकर जिन भगवानमें उपचारसे ११ परीषह कहे गये हैं। उक्तं च मोहनीयोदयाभावसहायात् क्षुधादिवेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परीषहोपचारः क्रियते।

राजवार्तिककारने उदाहरण दिया है कि जब मन्त्रबलके द्वारा विषद्रव्यकी मारण शक्तिका क्षय कर दिया जाता है तब विषद्रव्य मरण करानेमें समर्थ नहीं होता। उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्निसे घातियाकर्मोंका क्षय हो जाने पर वेदनीयकर्म अपना फल दिखानेमें असमर्थ हो जाता है।

आधुनिक विद्वानोंमें प० फूलचन्द्रजी शास्त्रीने परीषहोंपर विस्तारसे विचार किया है। उनका कथन है कि परीषहोंका विचार छठवें गुणस्थानसे आरम्भ होता है क्योंकि श्रमणपदका आरम्भ यहीं से होता है। छठवें गुणस्थानमें प्रमादके सद्भाव से वेदनीयके निमित्तसे जो वेदनकार्य छठवें गुणस्थानमें होता है वह आगे कथमपि संभव नहीं है।

परीषह-जयका अर्थ बाधाके कारण उपस्थित होने पर उनमें जाते हुए चित्तको रोकना और आवश्यक कार्योंमें लगाना है। प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही जीव चित्तवृत्ति को रोकनेके लिए उद्यमशील होता है। आगेके गुणस्थानोंमें चित्तका बाह्य कारणोंके रहते हुए भी उनमें रंचमात्र भी प्रवेश नहीं होता। अगले गुणस्थानोंमें न बाह्य कारण ही रहते हैं और न चित्तवृत्ति ही रहती है।

तत्त्वार्थसूत्रमें इन गुणस्थानोंमें केवल अन्तरंग कारणोंको ध्यानमें रखकर ही परीषहोंका निर्देश किया है। तत्त्वार्थसूत्रमें भी वे अन्तरंग कारण ज्ञानावरण वेदनीय दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय और अन्तरायके उदयरूप कहे गये हैं।

प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरणके उदयसे होते हैं व ज्ञानावरणका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है। अदर्शनपरीषह दर्शनमोहनीयके उदयमें और अलाभपरीषह अंतरायके उदयमें होते हैं। इसलिये अदर्शनपरीषहका सद्भाव अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तथा अलाभपरीषहका सद्भाव क्षीणमोह गुणस्थानतक होता है।

क्षुधा आदि ग्यारह परीषह वेदनीयकर्मके उदयसे होते हैं। इसप्रकार अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें सूत्रकारने जो परीषहोंका सद्भाव कहा है उसमें उनकी दृष्टि कारणको ध्यानमें रखकर विवेचन करनेकी रही है। कार्यरूपमें ये परीषह छठवें गुणस्थानसे आगे नहीं होते।

सर्वार्थसिद्धिकारने पहले तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार व्याख्यान किया है फिर विपर्यास

---

२ तत्त्वार्थसूत्र ९।११ का वार्तिक।

करने वालेको यह बतानेके लिए कि केवलीके कायरूपमें ग्यारह परीषह नहीं होते 'न सन्ति' पदका अध्याहार कर दूसरा अर्थ फलित किया है।[1]

पण्डितजीका उक्त विवेचन सर्वार्थसिद्धि आदिकी भाँति दिगम्बर परम्पराके अनुसार परीषहोंकी व्याख्या है।

तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टिसे भी क्या इन सूत्रोंका यही आशय है यह विचारणीय है।

डॉ॰ हीरालाल जैनने एक निबन्धमें इस विषयमें अपनी कुछ युक्तियाँ दी हैं। प्रकृतमें उपयोगी होनेसे हम उन्हें उद्धृत कर रहे हैं—

१ सूत्रोंमें वाक्यशेषकी कल्पना तभी की जा सकती है जब वे अपने रूपमें अधूरे हों और बिना कुछ जोड उनका ठीक अर्थ ही न लगता हो। ऐसी अवस्थामें दो प्रकारसे वाक्यशेषकी कल्पना की जा सकती है। पूर्व निर्दिष्ट सूत्रोंसे शब्दोंकी अनुवृत्ति और दूसरे कदाचित् ऐसे शब्दोंकी कल्पना जो सूत्रकारकी विशेष शैलीके अनुसार हों और वह शैली अनेक स्थलोंपर स्पष्ट दिखाई दे रही हो। प्रस्तुत स्थलमें 'न सन्ति' तथा 'कैश्चित् कल्प्यन्ते' अध्याहार करनेका कोई आधार दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत इन वाक्यांशोंके अध्याहारसे कतिपय आशंकाओंको जन्म मिलता है कि शेष ११ कौनसे हैं तथा दूसरी आशंका यह है कि सूत्रकारके समक्ष दो मतभेद थे जिसका उन्होंने उल्लेख किया है तथा उनका मत उसीके पक्षमें है।

२ यदि हम कर्मसिद्धान्तानुसार मोहनीय और वेदनीय कर्मोंके स्वरूपपर विचार करें तो ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्मकी स्थिति और अनुभागबन्ध मोहनीय-कर्मोदयके अधीन हैं। जब मोहनीयकर्मका उदय मन्द मन्दतर होने लगता है तब उसीके अनुसार वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है और जब सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें मोहके उदयका सर्वथा अभाव हो जाता है तब वेदनीयका स्थितिबन्ध भी समाप्त हो जाता है। यहाँ तक तो वेदनीयकर्म मोहनीयके अधीन है किन्तु बँधे हुए कर्मकी सत्ता और उसके उदयमें वेदनीयकर्म मोहनीयसे सर्वथा स्वतंत्र है। मोहनीयका उदयाभाव ही नहीं उसकी सत्ताभावके क्षय हो जाने पर भी वेदनीयके बँधे हुए कर्मकी सत्ता जीवमें बनी रहती है और वह बराबर उदयमें आती रहती है एवं उसकी तीव्रता व मंदता उसके अनुभागोदयपर अवलम्बित रहती है। जब मोहनीय कर्मका उदय रहता है तब उसके योगसे वेदनीयोदयके अभावमें रागद्वेष परिणतिका भी अभाव माना जायगा पर उससे वेदनीयोदयजन्य क्षुद्र वेदना कम नहीं होगी अभाव तो बहुत दूरकी बात है। हाँ वेदनीय कर्मका उदय जितनी मात्रामें कम होगा उतनी ही मात्रामें क्षुधादि वेदनायें कम होती

---

१ सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना पृ २१ और आगे।

जायेगी किन्तु वेदनाका सर्वथा अभाव तो तभी माना जा सकता है, जब [illegible] उदयका सर्वथा अभाव हो जाए। इस प्रकार कर्मोदय वेदना और परीषहकी तीव्रता व मन्दताका तरतमभाव व अभाव उत्तरोत्तर आनुषंगिक रूपसे होता है।

३ जब वेदनीयकर्मकी फलदायिनी शक्ति मोहनीयकर्मके अधीन नहीं है, तब अन्य घातियाकर्मोंके अधीन तो हो ही कैसे सकती है? दर्शनावरणकर्मके अभावसे उनकी समझदारी परिपूर्ण होगी एव मोहनीय कर्मके अभावसे रागद्वेष प्रवृत्ति नहीं होगी पर इनसे वेदनीयकर्मजन्य वेदनाम तो कोई परिवर्तन न होगा। अन्तरायकर्म के अभावसे न केवल वेदनीयके उदयमे कोई बाधा नही आयेगी बल्कि दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य इन शक्तियोंके विकासकी रुकावट दूर हो जाएगी अत एव यह कहना ठीक नहीं जान पडता कि घातियाँ कर्मोंके अभावम वेदनीयकी फलदायिनी शक्ति नष्ट या जर्जरित हो जाती है। सूक्ष्मसाम्परायके अ त समयम जब ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायका स्थितिब ध अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है उसी समय वेदनीय-का स्थितिबन्ध थोडा नही असख्यातवर्ष प्रमाण होता है जो क्षीणकषाय और सयोगी एव अयोगी गुणस्थानोमें बराबर अपनी स्थितिके अनुसार अनुभागका उदय दिखाया करता है। सयोगी जिन विहार करते हुय कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा करते हैं पर वे भी उक्त कर्मस्थिति बहुत नही घटा पाते। उसकी स्थितिको आयुप्रमाण करनेके लिए उन्हे समद्‌घात करना पडता है। वेदनीयका उदय अभाव व मोक्ष आयुके अन्तके साथ ही हो पाता है।

४ शक्तिका सद्‌भाव होते हुय भी उसके उपयोगका अभाव वही माना जा सकता है जहाँ उसका कोई प्रतिबन्धक कारण विद्यमान हो वीतरागम कोई प्रतिबन्धक कारण नही है। साथ ही वेदनीयज य चर्यादि क्रियायें स्पष्टत मानी ही जाती हैं।

५ म त्रबलसे विषद्रव्यका प्रभाव अवश्य नष्ट होता है किन्तु घातियाँ कर्मोंके नाश और वेदनीय आदि अघातिया कर्मोंके उदयाभावमें उस प्रकारका कोई कारण कार्य सम्बन्ध नही है।

६ केवलीके योग निरोध रूप ध्यान वास्तविक होता है इस दृष्टान्तमें भी उपचार घटित नही होता। दार्ष्टान्तमे तो बिलकुल ही नही होता। वेदनीयकर्मका उदय होते हुए द्रव्यपरीषहका अभाव और वेदनारूप भावपरीषहका अभाव कैसे घटित होगा?

इस प्रकार टीकाकारोका विवेचन न तो सूत्रकारके वचनोंकी सार्थकता सिद्ध करनेमें समर्थ होता है और न कर्मसिद्धान्तके नियमोंके अनुसार बैठता है।[1]

---

१ क्या तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारोंका अभिप्राय एक ही है? —शीर्षक निबन्ध, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १, किरण २।

एकादश जिने सूत्रसे यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्रकार जिनके ११ परीषह मानते हैं। यदि वे जिनके ११ परीषह नहीं मानते तो वे ऐसे सत्रकी रचना नही करते जो उनके अभिप्रायके विपरीत हो और विवादका कारण बने। व अपने अभिप्रायको स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित करते। उनके परीषह-विषयक सत्रोका अर्थ यही है कि जिनके ११ परीषह होते हैं और यह मान्यता दिगम्बर परम्पराकी विरोधिनी है।

तत्त्वार्थसूत्रकी श्वेताम्बर श्रतसे तुलना करनपर प्रतीत होता है कि परीषहोंका विचार श्वेताम्बरश्रुतगत विचारसे भिन्न है। वहाँ दसणपरोसह अथवा सम्मत्त परीसह मानी गयी है जबकि त वार्यसूत्रम अदर्शन परीषहका उल्लेख है। भद्र-बाहुने उत्तराध्ययन नियु क्तिम एक जोवके एक समयमें अधिक से अधिक २ परीषहो का सद्भाव स्वीकार किया है तत्त्वार्थसूत्रमें एक समयम १९ परोषह माने गय हैं।

यापनीय अपराजितसूरिको २२ परीषह मान्य हैं। तत्त्वाथसूत्रके परीषह सम्बन्धी विचार दिग तथा श्व प म्पराके विरुद्ध है। परीषहोंकी स ख्या २२ एक समयमें १९ परीषह मानना व एक परोषहका नामभेद ये तोन बात श्वेताम्बर परम्पराके विरुद्ध हैं। इससे इनको यापनोय होना प्रतोत होता है।

कालद्र य

तत्त्वाथसूत्रसे प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार कालको स्वतत्र द्रव्य माननें/न माननेके विषयम तटस्थ हैं। श्वेताम्बर पाठ कालश्चेत्येके (५/३८) तो निश्चित रूपसे कालके स्वतत्र द्रव्यत्वके विषयम सत्रकारको तटस्थताको द्योतित करता है। दिगम्बर सूत्रपाठ कालश्च के द्वारा भी सूत्रकारको मान्यताका विश्लेषण कर तो कह सकते हैं कि सूत्रकार इस विषयमे तटस्थ थे।

अजोवद्रव्योंके वर्णनसे पाँचव अध्यायका आरम्भ होता है। यहाँ प्रथम सूत्रम धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल इन चारोंको अजीवकाय कहा गया है। यहाँ कालके कायत्वका अभाव होनेसे उसका परिग्रहण नहो किया गया। द्रव्याणि व जोवाश्च इन दोनो सूत्रोके उपरान्त कालद्रव्यका उल्लेख सभव तथा अवसरप्राप्त था किन्तु यहाँ कालद्रव्यका वर्णन नहीं है।

जीवद्रव्यका वणन पहलेके अध्यायोमें हो चुका। पाँचवेम कालव्यतिरिक्त चार अजोवद्रव्योका वर्णन कर चुकनेके पश्चात सत्रकार द्र यका सामा यलक्षण करते हु— गुणपर्ययवद् द्र यम्।

---

१ भगवती आराधना—गाथा ८४ की व्यख्या क्षुधादयो बाधविशेषा द्वाविंशतिप्रकारा।

इसके उपरान्त वे कालद्रव्यका वर्णन करते हैं। यदि वे कालको भी पृथक स्वतन्त्र द्रव्य मानते तो उसका उल्लेख भी अजीवद्रव्योंकी गणनाके साथ अर्थात् अजीवकाया धर्माधर्माकाश-पुद्गला के तुरन्त बाद द्रव्याणि सूत्रके पहले करते अथवा जीवाश्च के साथ अथवा तुरन्त बाद करते। इतना नहीं तो कम-से कम द्रव्यका सामान्यलक्षण करनेके पूर्व अवश्य करते।

आ आकाशादेकद्रव्याणि निष्क्रियाणि च इन सूत्रों द्वारा धर्म अधर्म और आकाश द्रव्योंको एक एक तथा निष्क्रिय कहा है। कालद्रव्य भी निष्क्रिय है पर उसकी निष्क्रियताका सूत्रोंमें कहीं संकेत नहीं है। द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्या विचार करते समय नाणो सूत्रके द्वारा अणुको अप्रदेशी कहा है। काल भी अप्रदेशी है परन्तु उसका उल्लेख नहीं है। कालद्रव्यकी इस उपेक्षासे प्रतीत होता है कि वे काल स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते और उनकी कालद्रव्यके सम्बन्धमें की गयी उपेक्षासे यह भी लगता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार यापनीय परम्पराके हो सकते हैं क्योंकि वे भी आगम ग्रन्थोंको मानते थे। और अवशिष्ट आगमोंको प्रमाण मानने वाली श्वेताम्बर परम्परामें ये कालको स्वतन्त्र द्रव्य मानने तथा न माननेकी दोनों परम्पराएँ हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है भगवती आराधना तथा विजयोदयामें कालको स्वतंत्र द्रव्य माना गया है।

तीर्थङ्कर प्रकृतिक बन्धक कारण

तीर्थङ्कर प्रकृति-बन्धके कारणोंमें दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें काफी मतभेद है। दिगम्बर परम्परा १६ कारण मानती है तथा श्वेताम्बर परम्परा २ कारण मानती है। षट्खण्डागमगत प्रश्नोत्तरितविषयक स्वरूपपूर्वक तीर्थङ्करप्रकृतिके बन्धके कारणोंका नाम-निर्देश इस प्रकार किया गया है —

दसणविसुज्झदाए विणयसपण्णदाए सील वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तथा तव साहूण पासुअपरिचागदाए साहूण समाहिसंधारणाए साहूण वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खण अभिक्खण णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधति।

श्वेताम्बर आगम नायाधम्मकहाओके अनुसार तीर्थङ्करत्वके २ कारण ये हैं—

---

१ भगवती आराधना गाथा ३६ मूलाराधना स भागचन्द पाटनी कलकत्ता १९७६।

२ षट्खण्डागम खण्ड ३ पुस्तक ८ सूत्र ४१।

अरहंत सिद्ध पवयण-गुरुथेर बहुस्सुए तवस्सीसुं।
वच्छलया य तेसिं अभिक्खनाणोवओगो य ॥
दसण विणए आवस्सए सीलव्वए निरइयारं।
खणलव-तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥
अप्पुव्वनाणगहण सुयभत्ती पवयणे पभावणा ॥
एएहिं कारणहिं तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥[1]

तत्त्वार्थसत्रम तीथडकरनामकर्मके बधके कारण इस प्रकार दिय हैं– दर्शनविशु-द्धिविनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधसमाधिर्वैयावृत्त्यकरण महदाचार्य बहुश्रतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थङ्करत्वस्य ।[2]

तत्त्वाथसूत्रकारके तीर्थङ्करप्रकृतिके बन्धके ये कारण दिगम्बर परम्परासे मेल खाते हं। दिगम्बरश्रत षट्खण्डागममे भी यही १६ कारण प्रतिपादित हैं। तुलनाके लिये तत्वाथसूत्र षटखण्डागम और नायाधम्मकहाओकी तालिका प्रस्तुत है–

तत्त्वार्थसत्र	षटखण्डागम	नायाधम्मकहाओ
१ दर्शनविशद्धि	१ दशनविशुद्धता	१ दर्शननिरतिचारिता
२ विनयसम्पन्नता	२ विनयसपन्नता	२ विनयनिरतिचारिता
३ शालव्रतानतिचार	३ शीलव्रतनिरतिचारिता	३ शीलव्रतनिरतिचारिता
४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग	४ अभीक्ष्ण-अभीक्ष्णज्ञा पयोगयक्तता	४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग
५ सवेग	५ लब्धिसवेगसपन्नता	५ त्यागसमाधि
६ शक्त्यनुसार त्याग	६ साधुप्रासुकपरित्यागता	६ तप समाधि
७ शक्त्यनुसार तप	७ यथाशक्ति तप	७ वैयावत्यसमाधि
८ साधसमाधि	८ साधसमाधिसधारणता	८ अरिहतवत्सलता
९ वयावृत्यकरण	९ साधुवयावृत्ययोग यक्तता	९ गुरुवत्सलता
१ अर्हद्भक्ति	१ अरहतभक्ति	१ बहुश्रुतवत्सलता
११ आचायभक्ति	११ बहुश्रतभक्ति	११ श्रतभक्ति
१२ बहुश्रतभक्ति	१२ प्रवचनभक्ति	१२ आवश्यकनिरतिचारिता
१३ प्रवचनभक्ति	१३ आवश्यकापरिहीनता	१३ प्रवचनप्रभावना

१ नायाधम्मकहाओ अ ८ सू ६४ तथा आवश्यकनियुक्ति गाथा १७९-८१
२ तत्त्वार्थसूत्र ६।२४

तत्त्वार्थसूत्र	षट्खण्डागम	नायाधम्मकहाओ
१४ आवश्यकापरिहाणि	१४ प्रवचनप्रभावना	१४ प्रवचनवत्सलता
१५ मार्गप्रभावना	१५ प्रवचनवत्सलता	१५ क्षणलवसमाधि
१६ प्रवचनवत्सलत्व	१६ क्षणलवप्रतिबोधनता	१६ सिद्धवत्सलता
		१७ स्थविरवत्सलता
		१८ तपस्विवत्सलता
		१९ व्रतनिरतिचारिता
		२ अपूर्वज्ञानग्रहण

तत्त्वार्थसूत्रमें प्रतिपादित आचार्यभक्ति षट्खण्डागमम उपलब्ध नही है इसके स्थानपर क्षणलवप्रतिबोधनता दिया गया है जिसका अर्थ धवलाकारके अनुसार काल विशेषमे सम्यग्दर्शन ज्ञान व्रत और शील गुणोको उज्जवल करना है[१]। नाया धम्मकहाओमें छह कारण तो बिलकुल ही पथक और अधिक है शष भा पूर्णतया नही मिलते हैं पर तत्त्वार्थसूत्रम प्रतिपादित तीर्थङ करप्रकृतिके कारण षट्खण्डागमके प्राय अनुसार हैं पूर्णतया व हो नही।

श्रीविजयोदया टीकाम अपराजितसूरिन दशनविशद्धि आदिको तीथङ्करत्वप्राप्तिका कारण बताया है[२]। यद्यपि यहाँ उन्होने कारणोकी सख्या नही दी ह तथापि दशन विशुद्धयादि शब्दके उ लेखसे प्रतीत होता है उन्हें तत्त्वाथसूत्र अथवा दिगम्बर सम्प्रदायसम्मत १६ कारण ही मान्य होग श्वताम्बरमान्य बीस कारण नही क्योकि श्वताम्बरश्रुत नायाधम्मकहाओ आदिम तीर्थङ्करपद प्राप्तिका प्रथमकारण अरिहत वत्सलता दिया गया है। इससे भी अनमानित होता ह कि त वार्थमत्र श्वताम्बर ग्रथ नहीं है। इसके तीथकरप्रकतिबन्धके कारण दिगम्बर तथा यापनीय दोनो परपराओ के अनुकल हैं।

वाह्य तप

व्याख्याख्याप्रज्ञप्तिमें बाह्य तपके निम्नलिखित छह भद बतलाय गय हैं—

---

१ खणलवा णाम कालविसेसा। मम्मददसण णाण वद सील गुणाणमु जालण कलकपक्खालण सधुक्खण वा पडिब ज्झण णाम तस्स भावो पडिब ज्झणा।

भगवती आराधना गा १७१२ की टाका।

क लाणपावगाण उपाय विचिणादि जिणमदमवच्च।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभेय असुभ य॥

टीका—कल्लाणपवागाण उपाये तीथङ्करपददायकाना दर्शनविशुद्धयादीनामपायान् विचिनोति जिनमत जिनकथित उपदेश।

अणसण ऊणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो पडिसंलीणता बज्झो तवो होई ॥[1]

नियुक्तिकार भद्रबाहुने दशवकालिकनियुक्तिमें बाह्य तपोंके यही छह भेद माने हैं—१-अनशन २ ऊनोदर ३ वृत्तिपरिसख्यान ४-रसत्याग ५-कायक्लेश और ६-सलीनता ।

तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रतिसलीनता (सलीनता) के स्थानपर विविक्तशय्यासन तप माना है ।[2] मूलाचार और भगवती आराधना नामक ग्रथोमें यही तत्त्वार्थसूत्रोक्त छह बाह्य तप बताये गये हैं ।[3]

सम्यक्त्व हास्य रति व पुरुषवेदकी पुण्यरूपता

भाष्यसम्मत सूत्रपाठ तथा उसके भाष्यमे सम्यक्त्व हास्य रति तथा पुरुषवेदको पुण्यरूप माना गया है ।

सद्वेद्य सम्यक्त्व-हास्य रति पुरुषवेद-शुभाय नामगोत्राणि पुण्यम् ।(८/२६)

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनो ही परम्पराओंमे सम्यक्त्व हास्य रति और पुरुषवेदको पुण्य प्रकृति नही माना गया है किन्तु यापनीय इन्हे पुण्यरूप मानते हैं । अपराजितसूरिने इन्हे पुण्यरूप माना है । तथा तत्त्वार्थसूत्रका यही भाष्यसम्मत सूत्रपाठ उद्धृत किया है ।

सूत्रकारको यापनीय सिद्ध करनेवाला यह एक प्रबल प्रमाण है । भाष्यकार स्वय श्वेताम्बर परम्पराके विद्वान हैं तथा उक्त चारोकी पुण्यरूपता श्वेताम्बर परम्पराको भी इष्ट नही है तथापि उन्होने इस सूत्रका सग्रह किया है क्योंकि उन्हें यही सूत्रपाठ उपलब्ध हुआ होगा ।

---

१ व्याख्याप्रज्ञप्ति श २५ उ ७ स ८ ।

२ त स ९।१८ ।

३ भगवती—आराधना गा २ ८ ।

अणसण अवमोयरिय चाओ य रसाण वुत्तिपरिसखा ।
कायकिलेसो सेज्जा य विवित्ता बाहिरतवो सो ॥

४ विजयादया पृ ८१४ गाथा १८२८ की व्याख्या

सद्वेद्य सम्यक्त्व रतिहास्यपु वेदा शुभे नामगोत्रे शुभंचायु पुण्य एतेभ्योऽन्यानि पापानि ।

मूलाचारमे भी सम्यक्त्वको पुण्यरूप कहा गया है—

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं ।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पाव तु ॥ ५/३७

यापनीय टीकाका अस्तित्व

उपयु क्त ८/२६ सत्रकी वृत्तिमें सिद्धसेनगणिने लिखा है कि इस मन्तव्यको (अर्थात उक्त चारोको पुण्यरूप माननेका) रहस्य सम्प्रदायका विच्छेद होनेसे हमें मालम नही पडता। चौदहपूर्वधारी जानते होगे। उन्होन अपरस्त्वाह कहकर इन चारोको पुण्य प्रकृति मानने वाली कारिकाए उद्धृत की ह—

> रति-सम्यक्त्व-हास्याना पु वदेस्य च पुण्यताम्।
> मोहनीयमिति भ्रान्त्या केचिन्नेच्छन्ति तच्च न॥
> शुभायुर्नामगोत्राणि मद्वद्य चेति चे मतम्।
> सम्यक्त्वादिषु तथवास्तु प्रमादनमिहात्मन॥
> मोहो राग स च स्नेही भक्तिराग स चाहृति।
> रागस्यास्य प्रशस्तत्वा मोहत्वेनापि मोहता॥

ये कारिकाएँ तत्त्वाथसत्रकी किसी यापनीय टीकाको ही हो सकती ह जो रवि सम्यक्त्व हास्य और पुरुषवदको पण्यरूप मानती ह।

श्रावकके बारह व्रतोके अतिचाराका वर्णन

तत्त्वाथसत्रकारने ही सवप्रथम श्रावकके बारह व्रतोके पाँच-पाँच अतिचारोका वर्णन किया है। इससे पूर्व दि पर पराम अतिचाराका वणन किसीन नही किया। ये अतिचार श्वेताम्बर आगम उपासकदशासत्रम मिलत ह। उपासकदशासत्रकी भाँति ही यहाँ आठ मलगुणोका भी काई वर्णन नही ह।

श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओका अनु लेख

सभी दिगम्बर श्रावकाचारोम यारह प्रतिमाओका वणन मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्दने तो चारित्तपाहुडम श्रावकाचारका वर्णन प्रतिमाओके आधार पर ही किया है।

परन्तु यापनीयग्र थो-पद्मपुराण हरिवशपुराण पउमचरिय आदिम ग्यारह प्रतिमाओका वर्णन नही है। भगवती आराधना और उसकी यापनीय टीकामे जहाँ प्रसगवशात श्रावकाचारका वणन ह वहाँ भी श्रावककी प्रतिमाओका उ लेख नही है।

तत्त्वाथसत्रम भा श्रावककी प्रतिमाओका उ लेख नही है कि तु श्वताम्बर आगम उपासकदशासत्रम ग्यारह प्रतिमाओका वर्णन ह।

उक्त सूत्रोपर विचार करनपर हमारा झकाव तत्त्वाथसूत्रकारको यापनीय मानने की ओर ह क्योंकि परीषह-प्रकरण तथा कालद्रव्यके प्रकरणके विवेचनमें हमने पाया कि सूत्रकार जिनके ११ परीषह मानते ह और कालद्रव्यके प्रति अपनी तटस्थता

प्रदर्शित करते है जबकि दिगम्बर परम्परा एकमतसे जिनके ११ परीषहका निषेध करती है।

इन्हें श्वेताम्बर परम्पराका भी नही माना जा सकता क्योकि इनके परीषह विषयक विचार श्वेताम्बरश्रुतगत विचारोसे भिन्न है। तीर्थङ्करप्रकृतिके कारणोमें भी भिन्नता है। बाह्यतपके भेद भी श्वेताम्बरमान्य नही है।

भाष्यसम्मत सूत्रपाठ जिसमें सम्यक्त्व हास्य रति तथा पुरुषवदको पुण्यरूप प्रतिपादित किया गया है सूत्रकारकी यापनीयताका पोषक है।

एकादश जिने (सत्र) इसके दिगम्बर न होनेका प्रमाण माना जाना चाहिए। साथ ही पुद्गल बन्धके नियामक मत्रोको जो व्याख्या पू यपादने की है उससे भी यही प्रतीत होता है सर्वार्थसिद्धिकारके अनुसार दिगम्बर परम्परामें पुद्गल ब धके नियम अ य ही थे और उन्ही नियमोका प्रतिपादन इन सूत्रों द्वा । करनेका उन्होने प्रयत्न किया है।

तत्त्वार्थभाष्यकी स्वोपज्ञतापर विमर्श

श्वेताम्बर परम्परा तत्त्वार्थभाष्यको स्वोपज्ञ मानती है। प सुखलाल निम्न लिखित कारणोसे भाष्यको स्वोपज्ञ मानते ह—

१ भाष्यके प्रारंभमें जो ३१ कारिका य ह व मूल सत्ररचनाके उद्देश्यको जतलानकी पूर्ति करती हुई मलग्र थको ही लक्ष्य करके कही गयी मालम होती हैं। ग्र थकारने अन्तम सूत्र और भाष्यकार दोनोके कर्ता रूपसे अपना परिचय देनेवाली प्रशस्ति भी लिखी है।

२ प्रारम्भिक कारिकाओमें तथा कुछ स्थानों पर भाष्यम भी वक्ष्यामि वक्ष्याम आदि प्रथम पुरुषका निर्देश है।

३ किसी भी स्थलपर सत्रका अर्थ करनेमें शब्दोंकी खोचातानी नही हुई है। कही भी मूल मत्रका अर्थ करनेमें संदेह या विकल्प करनम नही आया। सत्रकी किसी दूसरी व्याख्याको मनम रखकर सत्रका अर्थ नही किया गया और न कही पाठभेदका अवलम्बन किया गया है।

४ कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन आचार्य नही पाये जात जिन्होन दिगम्बर आचार्योंकी भाँति भाष्यको अमान्य रखा हो।

प नाथूरामजी प्रेमीने भी प्राय इन्हीं कारणोसे भाष्यको स्वोपज्ञ माना है।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र हिन्दी विवेचन सहित— उमास्वातिकी परम्परा (तृतीय संस्करण) १९७६ पृ० १५ और आगे।

२ जैन साहित्यका इतिहास द्वितीय संस्करण उमास्वातीका सभाष्यतत्त्वार्थसूत्र पृ ५२१ और आगे।

भाष्यकी स्वोपज्ञताका खण्डन पं जुगलकिशोरजी मुख्तार पं लाल बहादुरजी शास्त्री[2] तथा प फूलचन्द्रजी शास्त्री[3] आदि विद्वानोने प्रमाणपुरस्सर किया है।

स्व पं जुगलकिशोर मुख्तारने श्वेताम्बर वि ान रत्नसिंहके टिप्पणका विवरण देते हुये बताया है कि श्वे प म्पराम भाष्यको असदिग्धरूपसे स्वोपज्ञ नही माना गया है। टिप्पणकार भाष्यकार और सूत्रकारको पथक समझते थे।

टिप्पणके अन्तमे दुर्वादापहार रूपसे जो सात पद्य दिय हैं उनमसे प्रथम पद्य और इसके टिप्पणम साम्प्र ायिक क टरताका कुछ प्रदशन करते हुये उन्होंने इन शब्दोंमें भाष्यकारका स्मरण किया ह—

प्रागवेतद्दक्षिणभषणगणादास्यमानमिति मत्वा।
त्रात समूलचल स भाष्यकारश्चिर जीयात्॥

टिप्पण—दक्षिग मरलोदाराविति हैम अदक्षिणा असरला
स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव भषणा
कुक्कुरास्तेषा गण रादास्यमान ग्रहिष्यमान स्वायत्ती–
करिष्यमाणमिति यावत्तथाभतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्र
प्रागव पूर्वमेव म वा ज्ञात्वा यनति शष।
सहमलचूलाभ्यामिति समलचल त्रात रक्षित स कश्चिद्
भाष्यकारो भाष्यकर्ता चिर दोघ जोया जय
गम्यादि याशीर्वचोऽस्माक लेखकाना निमलग्र थरक्षकाय
प्राक्वचनचौरिकायामशक्याय इति।

टिप्पणकार उस भाष्यकारकी मगलकामना करते ह जिसन समलचल तत्त्वार्थ सूत्रकी रक्षा की। इससे यह भी ध्वनित है कि भाष्यकी रचना उस समय हुई जब कि तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि आदि कुछ प्राचीन दिगम्बर टाकाय बन चुकी थी और उनके द्वारा दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका अच्छा प्रचार प्रारम्भ हो गया था। उस प्रचारको देखकर किसो श्वताम्बर वि ानको भाष्य रचनेका प्ररणा मिली ह।

प फलच द्रजो शास्त्रीन इस सटिप्पण प्रतिके भाष्यसम्मत तत्त्वार्थसूत्रसे पाठभेद तथा अधिक सूत्रोंका उ लेख किया ह। वे लिखत हैं—

---

१ श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यका जाँच जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश प्रथम स १९५६।

२ क्या भाष्य स्वोपज्ञ और उसके कर्ता यापनीय हैं? जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १३ किरण।

३ सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना।

प्रतिमें पाये जाने वाले अधिक सूत्र ये हैं—

तैजसमपि (२/५०)। धर्मा वशाशैलाञ्जनारिष्टा माघव्या माधवीति च। (/२) उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्या (४/२३)। स द्विविध (५/२४)। सम्यक्त्व च (६/२१)। धर्मास्तिकायाभावात्। (१ /७)

तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें सूत्ररूपमें स्वीकार नहीं करते। साथ ही तत्त्वार्थभाष्यके मुख्य टीकाकार हरिभद्रसूरि और सिद्धसेनगणि भी इन्हें सूत्र नहीं मानते फिर भी टिप्पणकारने इन्हें सूत्र माना है। यदि हम इनके सूत्र होने और न होनेके मतभेद की बातको थोडी देरको भुला भी दें तो भी इनके मध्यमें पाया जाने वाला सम्यक्त्वं च सूत्र किसी भी अवस्थामें भुलाया नहीं जा सकता। तत्त्वार्थभाष्यमें तो इसका उल्लेख ही नहीं अन्य श्वेताम्बर आचार्योंने भी इसका उल्लेख नहीं किया है फिर भी टिप्पणकार किसी पुराने आधारसे इसे सूत्र मानते हैं। इतना ही नहीं वे इसे मूल सूत्रकारकी ही कृति मान कर चलते हैं।

यह तो हुई सूत्रभेदकी चरचा। अब इसके एक पाठभेदको देखिये। दिगम्बर परम्पराके अनुसार तीसरे अध्यायमें सात क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रके आदिमें तत्र पाठ उपलब्ध नहीं होता किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमान्य उक्त सूत्रके प्रारम्भमें तत्र पद उपलब्ध होता है। फिर भी टिप्पणकार यहाँ तत्त्वार्थभाष्यमान्य पाठको स्वीकार न कर दिगम्बर परम्परा मान्य पाठको स्वीकार करते हैं। इस टिप्पणसे यह स्पष्ट है श्वे परम्परामें भी भाष्यकारको असंदिग्ध रूपसे तत्त्वार्थसूत्रकार नहीं कहा गया है।

भाष्यकी स्वोपज्ञताके प्रमाणमें दी जाने वाली युक्तियोंमें महत्त्वपूर्ण युक्ति यही दी गयी है कि सूत्रार्थके साथ भाष्यके अर्थमें कहीं विरोध या असंगति नहीं है। मुख्तारजीको इस पर विचार करने पर कतिपय असंगतियाँ प्राप्त हुई हैं।

१ इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।

इस ६/६ सूत्रके भाष्यमें भाष्यकारने उक्त क्रमका उल्लंघन कर अव्रत कषाय और इन्द्रिय इस क्रमसे व्याख्यान किया है।

२ इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीक प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः।

---

१ सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ २२ २३ तथा तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति नामक निबन्ध—जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश। लेखक पं जुगलकिशोर मुख्तार।

त सू ४/४के भाष्यमे इनके अतिरिक्त अनीकाधिपति नामकभेद अधिक गिनाया है। इसके विषयम सिद्धसेनगणिका कथन है कि अनीक और अनीकाधिपतियोको एकताका विचार करके ही ऐसा विवरण किया है अन्यथा दशकी संख्याका विरोध आता ह। पर यह कथन भी ठीक नही है क्योकि यदि देव और देवाधिपति एक ही हैं तो फिर इ द्रका पृथकग्रहण अनावश्यक है तथा भाष्यकारने अनीक और अनीकाधिपति दोनोकी अलग अलग व्याख्या की है।

अनीकाधिपतयो दण्डनायकस्थानीया अनीका यनीकस्थानीया यव।

३ सारस्वतादि यवह्न्रुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च ४/२६ सत्रम लौका तिक देवोके नौ भद बताये हैं पर तु भाष्यकारने पूर्व सत्रके भा य तथा इस सत्रके भाष्यमे भी लौकान्तिक देवोके आठ भेद बताये हैं—

ब्रह्मलोक परिवृत्याष्टामु दिक्षु अष्टविकल्पा भवति।
तद्यथा—एते मारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य
पूर्वोत्तरादिषु दिक्ष प्रदक्षिण भवति यथासख्यम्।

प सुखलालजीने दिगम्बर पाठके आधार पर मरुत श दको प्रक्षिप्त माना ह।

भाष्यकी स्वोपज्ञता तथा भा यकारके यापनीय त्वका खण्डन करते हुये प बहादुर शास्त्रीन भा यको स्वोपज्ञताम दो जान वालो इस युक्तिके विषयम यह लिखा है कि भाष्यम प्रथम पुरुष का निदश है—

१ भारतीय टोकाकारोका शला रही है कि उन्होने मल ग्रथकारोमें अपनेको मिला-सा दिया ह। कलाकी दष्टिसे यह उचित भी ह। विषयका प्रतिपादन सिलसिलेवार और सुमबद्ध होना चाहिय। मूल ग्रथकार जिस बातको आग रखना चाहता है चतुर टोकाकारका कर्त्तव्य है कि उस विषयकी चर्चा वह पहलेसे छेड दे और दानो कथनोका इस तरह मिला दे कि मानो टीकाकारको यही कहना था।

समस्यापूरकका जो स्थान ह उससे मिलता जुलता ही टीकाकारका स्थान है। आचार्य विद्यानन्दन अकलकका अष्टशतीप अष्टसहस्री टीका इसी नमून पर लिखी है। पू यपाद अकलकदव हरिभद्र आदि सभी टाकाकारोको टीकाओम प्रथमपुरुष परक निदश मिलत ह।

२ इसके अतिरिक्त भाष्यमे अ य पुरुषकी क्रियाओके प्रयोग भी बहुलतासे मिलत हं। आद्ये परोक्षम (१/११) का भाष्य करत हुये भाष्यकार कहते है आदौ भवमाद्यम सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीय शास्ति। यहाँ शास्ति पदप्रयोगसे सूत्रकार की भि नता सूचित होती ह। स्वय सिद्धसेनगणि इस पर टीका करते हैं—शास्तीति

ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मान विभज्य सूत्रकार-भाष्यकाराकारेणैवमाह शास्तीति सूत्रकार इति शेष अथवा पर्यायभेदात् पर्यायिणो भेद इत्यन्य सत्रकारपर्याय अन्यश्च भाष्यकारपर्याय इत्यत सूत्रकारपर्याय शास्तीति ।

भाष्यकार द्वारा स्वय सूत्रकारसे अपना पार्थक्य प्रकट करने पर भी सिद्धसेनगणि ने पूर्वाग्रहवश इस भाँतिका समाधान किया है ।

३ औदारिकवक्रियिकाहारकतैजसकामणानि शरीराणि । (२/३७)

सत्रका भाष्य इसी अध्यायके उन्चासवें सत्रमें किया है । सिद्धसेनगणिको भी अन्यत्र कथनीय बातके अन्यत्र कथनके कारण इसे असमार्थ कहकर आचार्यकी भल स्वीकार करनी प ी है ।

४ सत्रार्थोंमें सन्देह भी विद्यमान है ।

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष (२/५२)

भाष्यकार सूत्रम उत्तमपुरुषके अर्थके लिय सदिग्ध रहे हैं । अपने सदेहका निवारण नही होते देख उन्होंने सत्रका अथ दोनों तरहसे किया है अन्यथा कोई कारण नहीं कि सामान्य अर्थ करते समय तो सत्रस्थ अन्य पदोंके साथ उत्तमपुरुष का अथ कर दिया जाय और विशेष अथ करते समय सत्रस्थ सम्पूर्ण पदोका अर्थ करते हुये उत्तमपुरुषको छोड दिया जाय ।

५ ३/१ सत्रम घन शब्द की सार्थकता बतलाते हुये भाष्यकार लिखते हैं—

अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा अति सिद्ध घनग्रहण क्रियते तेनायमथ प्रतीयते घनमवाम्बु अध पथिव्या । यहाँ तेनायमथ प्रतीयते यह सन्देहपरक वाक्य उनके पार्थक्यको स्पष्ट घोषित कर रहा है ।

ज्योतिष्का सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च । ४/१३

यहाँ सूर्याश्चन्द्रमसो का शेष पदसे समास न करन तथा आषविरुद्ध क्रम भग करनेकी आपत्तिका समाधान करते हुये भाष्यकार लिखते है—असमासकरणमार्षाच्च सूर्याश्चन्द्रमसा क्रमभद कृत यथा गम्यतैतदेवषामूर्ध्वनिवेशआनुपूर्व्यमिति ।

यहाँ भी यथा गम्येत शब्द सन्देहको द्योतित करता है । प फलचन्द्रजी शास्त्रीका कथन ह कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सत्रपाठको उत्तरकालवर्ती सभी दिगम्बर टीकाकार प्राय आधार मानकर चले ह । किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है । हरिभद्रसरि और सिद्धसेन गणिने तत्त्वाथभाष्यके आधारसे अपनी टीकाए लिखी अवश्य ह और इन दोनो आचार्योंने तत्त्वाथभाष्यके साथ तत्त्वाथ भाष्यमान्य सत्रपाठकी रक्षा करनेका भी प्रयत्न किया है । किन्तु उनके सामने हो-

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर भाग. १३ किरण १ ।

सूत्रपाठमे इतने अधिक प ठभेद और अर्थभेद हो गये थे जिनका उल्लेख करना उन्हें आवश्यक हो गया। उदाहरणके लिये पाँचव अध्यायके तीसरे सूत्र नित्यावस्थितान्य रूपाणि सत्रको उपस्थि करते ह। सिद्धसेनगणिने इस सूत्रको व्याख्या करते हुये अनेक मतभेदोका उल्लेख किया ह। (ये मतभे पाँच हैं।)

जब तत्त्वार्थसत्र और तत्त्वार्थभाष्य एक ही व्यक्तिकी कृति थी और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्यको भलीभाँति समझते थ तब स त्रपाठके विषयमें इतना मतभेद क्यों हुआ और खासकर उस अवस्थाम जबकि तत्त्वार्थभाष्य उस द्वारा स्वीकृत पाठको सुनिश्चित कर देता है। हम तो इस समस्त मतभेदको देखते हुये इस निष्कर्ष पर पहुँचत ह कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सत्रपाठ स्वीकृत होनके पहले श्वे परम्परा मान्य सत्रपाठ निश्चित करनके लिय छोटे बड अनक प्रयत्न हुये हैं और व प्रयत्न पीछ तक होत रह ह। यही कारण ह कि वाचक उमास्वाति द्वारा तत्त्वार्थभाष्य लिखकर सत्रपाठके सुनिश्चित कर देन पर भी उस वह मान्यता नही मिल सकी जो दिगम्बर परम्पराम सर्वार्थसिद्धि औ उसक द्वारा स्वीकृत सत्रपाठको मिली ह।

दिगम्बरीय पाठकी कल्पना तथा श्वेताम्बरीय पाठकी अनकल्पताको प सुखलालजीने भी स्वीकार किया ह।

प फलचन्द्रजीन तत्त्वार्थभाष्यक कुछ एसे स्थल भी निर्दिष्ट किये हैं जिससे उसकी स्वोपज्ञतापर प्रश्नचिह्न लग जाता ह।

तत्त्वार्थभाष्यकारके निम्नलिखित एक स्खलनके विषयमे उनका कथन है कि १।२ सत्र तत्त्वार्थभाष्यम इस रूपमे उपलब्ध होता है—

मतिश्रतयोर्निबन्ध सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।

किन्तु जब व ही तत्त्वार्थभाष्कार इस सत्रक उत्तरार्धको भाष्यमे उद्धृत करत हैं तब उसका रूप सर्वार्थसिद्धिमान्य सत्रपाठ ले लेता है। यथा अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्य विषयत्व वक्ष्यति— द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष इति।

कदाचित कहा जाय कि स उल्लेखमसे लिपिकारकी असावधानीवश सर्व पद छट गया होगा किन्तु यह कहना ठीक नही ह क्योकि अपनी टीकाम सिद्धसेन गणि और हरिभद्रन तत्त्वार्थभाष्यक इस अशको इसी रूपमें स्वीकार किया है। प्रश्न यह ह कि जब तत्त्वार्थभाष्यकारन उक्त सत्रका उत्तरार्ध सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेष स्वीकार किया तब अन्यत्र उसे उद्धृत करत समय व उसके सर्व पदको क्यो छोड गये पदका विस्मरण हो जानस एसा हुआ होगा यह बात बिना कारणके कुछ जची

१ सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना प २१ २२ २३

२ पाठान्तर विषयक भेद तत्त्वार्थसत्र हिन्दी विवेचन प्रथम संस्करण पृ ८४।

तुकी प्रतीत नहीं होती। यह तो हम मान लेते हैं कि प्रमादवश या जान-बझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया होगा फिर भी यदि विस्मरण होनेसे ही यह व्यत्यय मानी जाय तो इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिय। हमारा तो ख्याल है कि तत्त्वार्थ भाष्य लिखते समय उनके समय सर्वार्थसिद्धि मान्य सत्रपाठ अवश्य रहा है और हमने क्या पाठ स्वीकार किया है इसका विशेष विचार किये बिना उन्होंने अनायास उनके सामने होनेसे सर्वार्थसिद्धिमान्य सत्रपाठका अंश यहाँ उद्धृत कर दिया है। यह भी हो सकता है १।२ का भाष्य लिखते समय तक व यह निश्चय न कर सक हो कि क्या इसमें सर्व पदको द्रव्य पर्का विशेषण बनाना आवश्यक होगा या जो पुराना सत्रपाठ है उसे अपने मलरूपम ही रहने दिया जाय और सम्भव है ऐसा कुछ निश्चय न कर सकनेके का ण यहाँ उन्होंने पुरान पाठको ही उद्धृत कर दिया हो। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वाथभाष्य प्रारम्भ करनके पहले ही वे तत्त्वार्थसत्रका स्वरूप निश्चित कर चके थे फिर भी किसी खासमत्रके विषयमे शकास्पद बने रहना तथा तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उसमें परिवर्तन करना मंभव है। जो कुछ भी हो उस उल्लेखसे इतना निश्चय करनेके लिये तो बल मिलता हो है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वातिके सामने सर्वाथसिद्धिमान्य सत्रपाठ अवश्य होना चाहिये।

तत्त्वार्थभाष्यमें सर्वार्थसिद्धिकी अपेक्षा अर्थविकासके दर्शन भी होते हैं इस विषयमें भी प फलचन्दजीने तीन उदाहरण दिय हैं।

दसव अध्यायमे धर्मास्तिकायाभावात सत्र आया है। इसके पहले (सत्रकार) यह बतला आये हैं कि मक्त जीव अमक अमक कारणसे ऊपर लोकके अन्त तक जाता है। प्रश्न होता है कि वह इसके आग क्यो नहो जाता ह और उसीके उत्तरस्वरूप इस सूत्र की रचना हुई है। किन्तु यदि टीकाको छोडकर केवल सत्रोका पाठ किया जाय तो यहाँ जाकर रुकना पडता है और मनम यह शका बनो ही रहती ह कि धर्मास्तिकाय न होनसे आचार्य क्या बतलाना चाहते हैं। सत्रपाठकी यह स्थिति वाचक उमास्वाति के ध्यानमे आई और उन्होन इस स्थितिको माफ करनेको दष्टिसे ही उसे सत्र न मानकर भाष्यका अग बनाया ०। यह क्रिया स्पष्टत बादमें की गई जान पडती है।

१ /१ सूत्रमें मोहनीय आदि कर्मोके अभावसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका विधान किया गया है किन्तु इनका अभाव क्या होता है। इसका समुचित उत्तर उस सत्रसे नही मिलता और न ही सर्वाथसिद्धिकार इस प्रश्नको स्पर्श करते हैं किन्तु वाचक उमास्वातिको यह त्रुटि खटकती है। फलस्वरूप वे सर्वाथसिद्धिमान्य बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इस सत्रके पूर्वार्द्धको स्वतन्त्र और उत्तरार्ध

१ सर्वाथसिद्धिकी प्रस्तावना पृ ४४ ४५

को स्वतन्त्र सत्र मानकर इस कमीकी पूर्ति करते हैं। सर्वार्थसिद्धिमें जबकि इसका सम्बन्ध केवल कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष पदके साथ जोड़ा गया है यहाँ वाचक उमा स्वाति इसे पूर्वसत्र और उत्तरसत्र दोनोके लिये बतलाते हैं।

५/२२ व कालके उपकारके प्रतिपादक सत्रम परत्व अपरत्वका प्रकरण है। ये दोनों कितने प्रकारके होते हैं इसका निर्देश सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य दोनोमें किया है। सर्वार्थसिद्धिम इनके प्रकार बतलाते हुए कहा है— परत्वापरत्व क्षेत्रकृते कालकृते च स्त किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें ये त्रिविध कहे गये हैं— परत्वापरत्वे त्रिविधे प्रशसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति।

१/९ के भाष्यम आभिनिबोधिक ज्ञानीको सम्यग्दर्शनी तथा केवलज्ञानीको सम्य दृष्टि कहा गया है। यह कथन तत्त्वार्थसत्रके अनुरूप नही है।

१/१३ सत्रम मति स्मृति और सज्ञा आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची नाम है किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें पर्यायवाची नाम न मानकर मतिज्ञान स्मृतिज्ञान आदिको स्वतन्त्र मानते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पर तत्त्वार्थभाष्यकी व्याख्या मूल-सत्रका अनु सरण नही करती।

१ /९ के भाष्यमे शब्द समभिरूढ ओर एवभत इन तीनको मूल नय मान लिया गया है जब कि वे प्रथम अध्यायन उस सत्रपाठको स्वीकार करते हैं जिसमे मूल नयोंमें केवल एक शब्दनय स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त विद्वानोंकी उल्लिखित युक्तियोपर विचार करने पर यही प्रतीत होता है भाष्य स्वोपज्ञ नही है। भाष्यम अन्यपक्षका भी निदेश है। भाष्यकारका सत्रकारसे विरोध अर्थ करनेमें सन्देह आदि भी प्राप्त होता है। श्वेताम्बर आचार्य भी एकमतसे भाष्यको स्वोपज्ञ स्वीकार नही करते। रत्नसिंहका टिप्पण इसम प्रमाण है। स्वय सिद्धसेनगणि भी भाष्यकी स्वोपज्ञतामें सदिग्ध रहे हैं।[3] ८/६ सत्रकी वृत्तिमें वे लिखते हैं— भाष्यकारोप्येवमेव सूत्रार्थमावेदयत।

भाष्यकारके समक्ष पूर्ववर्ती व्याख्याए विद्यमान थी। इसका निदश एक स्थल सवस्य २/४३ सूत्रकी व्याख्याम मिलता है। यहाँ उन्होंने अपनसे पूर्ववर्ती किसी अन्यकृत व्याख्याका सकेत किया है। — सवस्य चैते तजसकार्मणे शरीर ससारिणो जीवस्य भवत एके त्वाचार्या नयवादापेक्ष व्याचक्ष। कार्मणमेवैकमनादिसम्बन्धम्।

---

१ सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना अथविकास प ४५ ६

२ सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ ७ ७१

३ तत्त्वार्थसूत्र सिद्धसेनीय टीका पृ० ६८ ६९

सेनैवैकेन जीवस्यानादि सम्बन्धो भवतीति। तैजसं तु लब्ध्यपेक्षं भवति। सा च तैजसलब्धिर्न सर्वस्य कस्यचिदेव भवति।"

यहाँ सर्वस्य सूत्रका भाष्य प्रथम पंक्तिके द्वारा करनेके उपरान्त भाष्यकार दूसरों द्वारा किया हुआ अर्थ उपस्थित करते हुये कहते हैं कि कुछ आचार्य इस सूत्रका अर्थ नयवादकी अपेक्षा करते हैं। भाष्यकारसे पूर्व भी तत्त्व० सूत्रकी अन्य कोई व्याख्या की जा चुकी थी जिसका वे यहाँ उल्लेख करते हैं। इससे स्पष्ट मालम होता है कि भाष्य स्वोपज्ञ नही है तथा भाष्यकारसे पूर्व भी सूत्रको स्पष्ट करने वाली टीका टिप्पणी तथा प्राचीनतम टीकाग्रंथ तथा व्याख्याय विद्यमान थी। यदि भाष्य स्वोपज्ञ होता तो भाष्य ही प्राचीनतम टीकाग्रंथ होता।

अध्याय पाँचवम पुद्गलद्रव्यके वर्णन (५/२३ ३७) म दिगम्बर पाठ सम्मत चार (५/२९ ३२) तथा भाष्यसम्मत तीन (५/२९ ३१) सूत्रोकी समायोजना की गयी है। पुद्गलद्रव्यके वर्णनके मध्यमें सद्द्रव्यलक्षणम् उत्पाद-व्यय ध्रौव्य-युक्त सत् तद्भावाव्यय नित्यम अर्पितानर्पितसिद्धे इन द्रव्य-सामान्यके लक्षणादिके प्रतिपादक सूत्रोंका क्या औचित्य ह? इसे सर्वार्थसिद्धिकारकी ही तरह भाष्यकारन भी स्पष्ट नही किया है। यदि भाष्यकार स्वय सूत्रकार होन तो अवश्य ही इन सूत्रोकी समायोजनाका औचित्य निर्दिष्ट करते।

सकषायत्वाज्जीव कमणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते। ८।२

म कर्मणो योग्यान के स्थान पर कर्मयोग्यान क्यो नही कहा इसका समाधान सर्वार्थसिद्धिकारने किया है भाष्यकारने नही जबकि भाष्यको स्वोपज्ञ माननेकी स्थितिमें उनके द्वारा वह समाधान होना आवश्यक था।

आचार्य अकलकने तत्त्वार्थवार्तिक (१ /९) के अन्तमें भाष्यकी ३२ कारिकायें उद्धृत करके लिखा है—इति तत्त्वार्थसत्राणा भाष्य भाषितमुत्तमै। अर्थात तत्त्वार्थके सत्रोका भाष्य उत्तम पुरुष द्वारा कहा गया है। इस उल्लेखसे स्पष्ट विदित होता है कि वे तत्त्वाथसत्र और भाष्य दोनोका कर्ता अलग अलग मानत हैं—भाष्यको स्वोपज्ञ न मान कर उत्तरवर्ती आचार्यकी व्याख्या स्वीकार करते हैं और उनके उस भाष्यसे उन्होंने ये ३२ श्लोक उद्धृत किये हैं।

भाष्यकी स्वोपज्ञताके भ्रमको पल्लवित करने वाली भाष्यकी आरम्भिक कारिकाय तथा अन्तिम प्रशस्तिके कतिपय श्लोक हैं। वे आरम्भिक कारिकाय इस प्रकार हैं—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥

महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य ।
क शक्त प्रत्यासं जिनवचनमहोदध कर्तु म् ॥
नर्ते च मोक्षमार्गाद्धितापदशो ऽस्ति जगति कृत्स्नऽस्मिन् ।
तस्मा परमिममेवेति मोक्षमाग प्रवक्ष्यामि ॥

प्रशस्तिगत विचारणीय श्लोक ये हैं—

अर्हद्वचन सम्यग्गुरुक्रमणागतं समुपधार्य ।
दु खार्त्त च दरागमविहितमति लोकमवलोक्य ॥
इदमच्चनागरवाचकन सत्त्वानकम्पया दृ धम् ।
तत्वार्थाधिगमाख्य स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥

इनका अर्थ ह कि मैं शिष्योके हितके लिय इस तत्वार्थाधिगम नामक शास्त्रको कहता हूँ जो बहुत अथवाला ओ सग्रह रूप लघुग्रन्थ है।

अहद् वचनोके कदेश अति महान विषय वाले भाष्य द्वारा ही जिसका पार पाया जा सकता ह एसे दुर्गम ग्रथरूप जिनवचनमहोदधिका स्पष्टाथ करनेमे कौन समथ हो सकता है ?

मोक्षमागको छोडकर इस सम्पूण जगतमे हितोपदेश नही है इसलिये इसी मोक्षमार्गका प्रवचन करूगा।

सम्यक गुरुक्रमसे आत हुए अहद्वचनको धारण कर दु खसे पीडित तथा मिथ्या आगमके निमित्तसे नष्ट बद्धि वाले लाकको देखकर प्राणियोंकी अनुकम्पासे उच्चैनगिर वाचक उमास्वातिने इस तत्वार्थाधिगम नामक शास्त्रको स्पष्ट किया।

इसम तत्वार्थाधिगमको सग्रहरूप लघुग्रथ कहा गया है। जिनवचनमहोदधिके तीन विशेषण दिय गय है अहद्वचनोका एकदेश अति महान विषय वाला एसा दुर्गम ग्रन्थ जिसका भाष्य द्वारा ही पार पाया जा सके। इन विशेषणोसे प्रतीत होता है कि यहाँ सामान्य द्वादशाग रूप जिनवचनमहोदधिको नही अपितु किसी ग्रन्थ विशेषकी चर्चा है जो अहद्वचनोका एकदेश ह तथा महान विषय वाला ह साथ ही दुगम ग्रथ है जिसके लिय भाष्यका अत्यत आवश्यकता है।

गुरुक्रमसे आते हुए प्रशस्तिके इस शब्दसे यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि अहदवचन (ग्रथविशेष)को धारण कर उमास्वातिने तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्रको स्पष्ट किया। इन्होने स्वयको तत्वार्थाधिगम नामक शास्त्रका स्पष्टकर्ता (व्याख्याता) बताया है।

अध्यायोकी समाप्ति पर भी अहद्प्रवचनसग्रहका उल्लेख किया गया है।

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसग्रह प्रथमोध्याय समाप्त ।
इति तत्त्वार्थसग्रह अर्हत्प्रवचन पचमोऽध्याय ।

भाष्यके आरम्भमें तथा अध्यायोंकी समाप्तिपर अपने ग्रन्थको संग्रह कहनेसे प्रतीत होता है कि अर्हद्प्रवचन अथवा अर्हद्वचन नामक कोई ग्रथविशेष था।

हमारे अनुमानकी पुष्टि अन्य उल्लेखोंसे भी होती है।

आचार्य अकलंकने तत्वार्थवार्तिक तथा उसके भाष्यमें गुणपर्ययवद् द्रव्यम् इस सूत्रके विवेचनके सन्दर्भमें शका उठाते हुये कहा है—

गुणाभावादयुक्तिरिति चेन्नाहृत्प्रवचनहृदयादिष गुणोपदेशात्

भाष्य— गुण इति सज्ञा तत्रान्तराणाम् आर्हताना तु द्रव्य पर्यायश्चेति द्वितय मेव तत्त्वम्। अतश्च द्वितयमेव नयद्वयोपदेशात्।

अर्थात् गुण यह सज्ञा आर्हतमतकी नहीं है यह तो अन्य मतावलम्बियों (वैशिषकों) की है। आर्हतमतमे तो द्रव्य और पर्याय ये दो ही तत्त्व प्रसिद्ध हैं। इसीसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयोका उपदेश है।

इस शकाका समाधान करते हुये तत्वाथवार्तिककारने कहा है कि अर्हत्प्रवचन हृदयादिम गुणका उपदेश है। जैसा कि अर्हत्प्रवचनमें द्रव्याश्रया निगु णा गुणा इस सूत्र द्वारा गुणका निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त गुण इति दव्वविधाण इस पुरातन गाथामे भो गुणका स्पष्ट निरूपण मिलता है।

इस उल्लेखम अकलकदेवने अहत्प्रवचन नामक ग्र थका स्पष्ट निर्देश किया है। इसीसे पं जुगलकिशोर मुख्तार आदि विद्वानोंने भी इसे अहत्प्रवचन नामक एक विशष ग्रन्थका उल्लेख माना है।

तत्वार्थभाष्य की प्रारम्भिक एव प्रशस्तिपरक कारिकाओ एव आचाय अकलकके कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नामका एक ग्रन्थ था।

विचारणीय है कि क्या तत्वार्थसूत्रका ही अपर नाम अहत्प्रवचन/अर्हत्वचन तो नही है? मुख्तारजोका कथन है कि तत्वाथसूत्र को शंकाका समाधान उसी सूत्रसे करना उचित नही हैं अत यह दूसरा ग्र थ होना चाहिये।

अह प्रवचन एक विशिष्ट ग्र थ था इस बातको दृष्टिम रखकर जब हम भाष्य की कारिकाओको पढ़ते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता ह कि भाष्य स्वोपज्ञ नही है। अर्हत्प्रवचन एक विशाल ग्र थ था जिसके एकदेश वचनोका संग्रह करके यह विपुल अर्थवाला लघुग्र थ रचा गया है। इस महान विषय वाले दुर्गम ग्रन्थ—जो भाष्य द्वारा ही समझा जा सकता है—का स्पष्टोकरण भी अत्यत दुष्कर कार्य है। गुरुक्रमसे आते हुये इस अर्हत्प्रवचन नामक ग्रन्थको धारण करके लोकपर अनकम्पा करके उमास्वातिने यह तत्वार्थाधिगम नामक शास्त्र स्पष्ट किया है। इस प्रकार भाष्यकार तत्वार्थाधिगम शास्त्रके रचयिता है जो अहत्प्रवचनके सूत्रोंके संग्रहपर भाष्य है।

अर्हत्प्रवचन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था। इस तथ्यको यदि मान लें तो श्वेताम्बर दिगम्बर पाठोमें जो भेद हैं उनका कारण भी ज्ञात हो जाता है। पू यपाद स्वामीने भी अर्हत्प्र वचनके प्रमख सूत्रोपर वृत्ति लिखी है। पू यपाद स्वामी द्वारा सकलित पाठ दिगम्बर सूत्रपाठ है तथा वाचक उमास्वाति द्वारा सकलित पाठ श्वताम्बर पाठ है। इन पाठोके सकलनम सम्प्रदाय व रुचिभदके कारण यह वभिन्य है। यही कारण है कि दिगम्बर पाठमें जम्बद्वीप आदिके सम्ब धम जो सूत्र हैं भाष्यकारने उन्ह भाष्यमे सम्मिलित कर लिया है।

यहाँ यह शका उत्प न होनी है कि यदि अर्हत्प्रवचन नामक विशाल ग्रन्थ था तब इस विशिष्ट और प्राचीन ग्र थके रहत हुये भी तत्त्वार्थसत्र जो परवर्ती ह उसे इतनी महत्ता प्रसिद्धि व आदर क्यों प्राप्त हुआ ? साथ ही अर्हतप्रवचन ग्रन्थका नाम भी शेष क्यो नही रहा ?

तत्त्वार्थसूत्रकारकी परम्पराके निर्धारणम हमन पाया ह कि सूत्रोसे सूत्रकार याप नीय प्रतीत होत हैं अत अर्हत्प्रवचन एक यापनीय ग्र थ था। श्वताम्बर तथा दिगम्बर दोनो हो सम्प्रदायोने इस महत्त्वपूण ग्र थरत्नको अपन सम्प्रदायमें स्थान दिलानेके लिय इसके सत्रोका सग्रह किया तथा व्याख्याग्र थ लिखकर अपने सम्प्रदायोमे प्रवेश व मह व दिलाया। अ यथा जब अर्ह प्रवचन आचाय अकलकके समय तक विद्यमान था तो फिर अकलकके पूववर्ती आचार्योन उक्त ग्र थका उल्लेख क्यो नही किया ?

अह प्रवचनमे उद्धृत सत्र वही ह जो तत्त्वार्थसत्रम ह। इससे इस मान्यताकी पुष्टि होती ह कि अह प्रवचनका ही सक्षिप्त सग्रह त वार्थसत्र ह इसी कारण आचार्य अकलकन पहले उसका ही सत्र उप यस्त किया फिर यदि कोई उसी ग्र थकी शकाका समाधान उसी ग्र थसे न माने क्योकि अह प्रवचनका ही सक्षिप्त रूप होनके कारण तत्त्वार्थसत्रको ग्र थाश ही मानना होगा तो अन्य एक प्राचीन एव उस समय प्रसिद्ध ग्र थकी गाथा उपस्थित की है— गुण इति दव्वविधाण आदि।

अहत्प्रवचनका सग्रह होनेसे त वार्थसत्रका नाम अहद्सूत्र भी था क्योकि राजेन्द्र मौलिभटटारककृत टीकाका नाम अहदसत्रवृत्ति ह। साथ ही परवर्ती कालमे तत्त्वार्थ सत्रके अनुकरण पर छोट-छोट सत्रग्र थ भी लिखे गये जिनमेंसे प्रभाच द्रकृत तत्त्वाथ सूत्रका नाम अहद्वचन ही है।

इस विवचनसे भाष्य स्वोपज्ञ नही है यही प्रतीत होता है।

---

१ जन साहित्यका इतिहास दसरा भाग पं कैलाशचन्द्रजी शास्त्री पृ २३२।
२ यह अहत्प्रवचन मा ग्र बम्बईसे प्रकाशित सिद्धान्तसारादि-सग्रहमें प्रकाशित है।

प्रशमरतिप्रकरण, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यके कर्त्ताओंपर विमर्श

श्वेताम्बर परम्परा तत्वाथसूत्र तथा उसके भाष्यके अतिरिक्त प्रशमरतिप्रकरणको भी वाचक उमास्वातिकृत मानती है।[1] यहाँ इन तीनो ग्र थोके साम्य और वैषम्यपर विचार किया जाता है। इससे उनके कर्ताओके सम्बन्धमें सही सही अवगति होगी।

प्रशमरतिप्रकरण ३१३ कारिकाओमें रचित जैन सिद्धान्तका ग्रन्थ है।

तत्त्वार्थसूत्र सस्कृत-गद्य-सूत्र शैलीम रचा जैन तत्त्वज्ञानका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। तत्त्वाथसूत्रकार हो एसे प्रथम आचार्य हं जिन्होने प्राकृत भाषाको छोडकर संस्कृतमें अपने इस ग्र थ की रचना की है। उनके पूर्व प्राय सम्पूर्ण प्राचीन जन साहित्य प्राकृतभाषामें ही प्रणीत उपलब्ध होता है।

तत्त्वार्थभाष्य श्वताम्बर परम्पराकी मान्यतानुसार स्वोपज्ञ माना जाता है। प्रस्तुत में हमे यह देखना है कि इन तीनोके कर्ता भिन्न भिन्न हैं अथवा एक इसके लिये इन तीनो ग्र थोका अ न्तपरीक्षण विशेष सहायक सिद्ध होगा। अतएव इन तीनोंके साम्य और वषम्यपर विमश करना उपयुक्त होगा।

तत्त्वाथसूत्रसे प्रशमरतिप्रकरणका साम्य

तत्त्वाथसूत्रसे प्रशमरतिप्रकरणमें अनेक स्थलोंपर साम्य है। यहाँ दोनोंके कुछ तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत है—

१ तत्त्वा उपयोगो लक्षणम् २/८ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद २/९

प्रशम सामान्य खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ॥ का १९४

२ त वा उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्त सत् ५/३ तद्भावाव्यय नित्यम् ५/३१
अर्पितानर्पितसिद्ध ५/३१।

प्रशम उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि।
सदसद्वा भवतीत्य यथार्पितानर्पितविशेषात् । का २ ४

३ त वा तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् १/२ तन्निसर्गादधिगमाद्वा १/३

प्रशम एतेऽवध्यवसायो योऽर्थेषु विनिश्चयेन तत्त्वमिति।
सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ का [illegible]।

---

१ प सुखलालजी त सू हिन्दी विवेचन सहित प्रथम संस्करण पृ० १७।

४ तत्त्वा 'एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्य ॥ १/३ ।
प्रशम एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्य इति ॥ का० २२६ ।

५ तत्त्वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमाग १/१
प्रशम सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पद साधनानि मोक्षस्य ।
तास्वेकतराभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकर ॥ का २३

ये कुछ उदाहरण ह जो दोनोंके साम्यको प्रकट करते है। प्रशमरतिकी कारिकाओमें कही कही सूत्र ज्योके यो समाविस्ट हैं। इस साम्यके कारण इन दोनोको एककर्तृक माना जाता है।

तत्त्वार्थसूत्रस प्रशमरतिप्रकरणका वषम्य

जहाँ इन दोनो ग्रन्थोमे साम्य उपलब्ध होता है वहाँ वषम्य भी पाया जाता है जैसाकि नोचेके उदाहरणोसे स्पष्ट है—

१ तत्त्वार्थसत्रमे जीवद्रव्यके वणनके उपरान्त पाँचवे अध्यायम अजीवद्रव्योका वर्णन करते हुये कहा है कि धम अधर्म आकाश और पुदगल य चार द्रव्य अजीव काय हैं।[1] यहाँ अजीव कालको छोड दिया गया है। इसका कारण उसमे कायपने (बहुप्रदेशीपने) का अभाव जान पडता है किन्तु इसी अध्यायम द्रव्यका सामान्य लक्षण गुणपययवद्द्रव्यम् करनेके पश्चात कालश्चत्येके (५/७८) इस सूत्रके द्वारा कालद्रव्यका उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे प्रतीत होता है कि श्वताम्बर मान्यतानुसार तत्त्वाथसूत्रकार कालद्रव्यको स्वीकार नही करते थे इसीलिय एके कहकर दूसरोके मतानुसार उसका उल्लेख करते हैं। यही कारण है कि तत्त्वाथसूत्रकारने निष्क्रियाणि च (५/७) इस सूत्र द्वारा धर्म अधम और आकाश इन द्रव्योंको निष्क्रिय कहा है किन्तु कालद्रव्यके विषयम उसकी निष्क्रियता या सक्रियता के सम्बन्धमे पूरे ही अध्यायम कुछ नही कहा—बिलकुल मौन ह। हाँ उपकार प्रकरण (५/१७ २) म अवश्य कालके उपकारोका वणन किया ह। सभवत यहाँ भी उन्होन अन्य आचार्योकी मान्यतानसार कालद्रव्यके उपकारोका प्रतिपादन किया है।

प्रशमरतिप्रकरणकारने छहो द्रव्योका एकसाथ प्रतिपादन किया है। तत्त्वाथसत्रकी तरह प्रशमरतिप्रकरणम कालके विषयम अपनी तटस्थता प्रदर्शित नही की है। इससे प्रतीत होता है कि प्रशमरतिप्रकरणकार छहो द्रव्योके अन्तगत काल द्रव्यको भी समान रूपसे स्वीकार करते है जैसा कि उनकी निम्नलिखित कारिकाओसे प्रकट है—

धर्माधर्माकाशानि पद्गला काल एव चाजीवा ।
पु[illegible]लवजमरूपं त रूपिण पुद्गला प्रोक्ता ॥

---

१ तत्त्वार्थसत्र— अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला । ५/१

जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्।
वैशाखस्थानस्थ पुरुष इव कटिस्थकरयुग्म ॥
का २ ६ व २१

२ तत्त्वार्थसूत्रमें जीवके पाँच भाव माने गये हैं—
औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च
(२/१)।

इसके विपरीत प्रशमरतिप्रकरणमें छह भावोंका प्रतिपादन किया गया है। उक्त पाँचके अतिरिक्त छठे भावके रूपमें सान्निपातिक भावका भी प्रतिपादन है—

भावा भवन्ति जीवस्यौदयिक पारिणामिकश्चैव।
औपशामिक क्षयोत्थ क्षयोपशमजश्च पञ्चत ॥
त चकविंशतित्रिद्विनावाष्टादशविधाश्च विज्ञेया।
षष्ठश्च सन्निपातिक इत्यन्य पञ्चदशभद ॥
(का १९६ ९७)।

३ तत्त्वार्थसूत्र (२/१४) म तेजस्कायिक और वायुकायिकको त्रसकाय कहा गया है किन्तु प्रशमरतिप्रकरणम उन्ह त्रस नही कहा गया है। वहाँ जीवोंके छह भेद बताते हुए कहा है कि क्षिति अम्बु वह्नि पवन तरु इन पाच एकेन्द्रियके अतिरिक्त द्वीन्द्रिय आदिको त्रस कहा ह— इस प्रकार एकेन्द्रिय तेजस्कायिक व वायुकायिक भी त्रस—भिन्न स्थावर हुए। क्षित्यम्बुवह्निपवनतरवस्त्रसाश्च षड् भेदा ॥ १९२

वैषम्यके य तीनो उदाहरण सैद्धान्तिक हैं। यदि इन दोनोंका कर्ता एक होता तो ये सैद्धान्तिक विषमता उनमें नही हो सकती थी। यह ऐसी विषमता है जो भिन्नक र्तृक कृतियोमें ही सभव है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता प्रशमरतिप्रकरणके कर्तासे भिन्न हैं और व उनके उत्तरवर्ती हैं।

अब तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरतिप्रकरणके साम्य एव वैषम्यपर भी यहाँ विचार किया जाता है।

तत्त्वार्थभाष्यसे प्रशमरतिप्रकरणका साम्य

तत्त्वार्थभाष्यसे प्रशमरतिप्रकरणमें निम्न प्रकारका साम्य उपलब्ध होता है—

१ तत्त्वार्थभाष्यम ज्ञानोपयोगको साकार तथा दर्शनोपयोगको अनाकार कहा गया है।[1]

प्रशमरतिप्रकरणमे भी उपयोगको साकार और अनाकार बताया है।[2] इन दोनों ग्रन्थोंमें इनकी शब्दावली भी एक-सी है।

१. तत्त्वार्थभाष्य २/१
२ प्रशमरतिप्रकरण का १९४

२ तत्त्वार्थभाष्य (१/१) में प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुये कहा गया है कि एकतराभावेऽप्यसाधनानि (१/१)—उनमेंसे एकका भी अभाव रहने पर ये तीनों मोक्षके असाधन हैं—साधन नहीं हैं।

प्रशमरतिप्रकरणमे भी इसी प्रकारके शब्दोमें प्रतिपादन है। उसकी यह कारिका पूर्वमें दी जा चुकी है। (का २३)

३ तत्त्वार्थभाष्यमें कहा गया है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके होने पर चारित्र होता भी ह और नही भो किन्तु चारित्रके होन पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका लाभ निश्चित है। जैसा कि त वार्थभाष्यके निम्न उदाहरणसे विदित है—

एषा च पूवलाभे भजनीयमुत्तरम् उत्तरलाभे तु नियत पूर्वलाभ १/१

यही प्रशमरतिप्रकरणमे भी कहा गया है। यथा—

पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषा भजनीयमत्त र भवति
पूवद्वयलाभ पुनरुत्तरलाभ भवति मिद्ध । (का २३१)

४ भाष्यमें अधिगमके आगम अभिगम श्रवण शिक्षा और उपदेश ये सब पर्यायवाची शब्द बतलाये गय हु। तथा परिणाम स्वभाव और अपरोपदेश इन्हें निसर्गके पर्याय शब्द कहा गया है। यथा—

आगम अभिगम आगमो निमित्त श्रवण शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम्। निसर्ग परिणाम स्वभाव अपरोपदेश इत्यनर्थान्तरम ।। (१/३)

प्रशमरतिप्रकरणमें भी इसी प्रकार अधिगम और निसर्गके पर्यायशब्दोकी परिगणना की गयी है। यथा—

शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थका यधिगमस्य ।
एकार्थं परिणामो भवति निसर्ग स्वभावश्च ।। का २२३

५ भाष्यम ससारानुप्रेक्षाका निम्नप्रकार कथन किया गया है—

माता हि भूत्वा भगिना दुहिता भार्या च भवति। भगिनी भत्वा माता भार्या दुहिता च भवति। (२/६)

प्रशमरतिप्रकरणमे भी इसी प्रकारका वणन है। यथा—

माता भूत्वा दुहिता च भवति भार्या च भवति ससारे।
व्रजति सुत पितृता पुत्र शत्रता चैव ।। (का २२५)

इस प्रकार तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरतिप्रकरणमे अनेक स्थलोपर साम्य उपलब्ध होता है।

तत्त्वार्थभाष्यसे प्रशमरतिप्रकरणका वषम्य

१ तत्त्वार्थभाष्यमें पाँच द्रव्योंका ही कथन है। उसमें कालद्रव्यका कथन सूत्रकार के कालश्चेत्येके इस सूत्रके अनुसार किया है। इससे स्पष्ट अनुमान होता है कि सूत्रकारकी तरह उन्हें भी कालद्रव्य मान्य नहीं है।[1]

परन्तु प्रशम तिप्रकरणकारने षट द्रव्योंका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। अर्थात् उन्हे कालद्रव्य मान्य है। जैसा कि हम तत्त्वार्थसूत्र और प्रशमरतिप्रकरणके साम्य एव वैषम्यमें देख चुके हैं।

२ तत्त्वार्थभाष्यमें सूत्रकारकी तरह जीवके पाँच भाव प्रतिपादित हैं।

किन्तु प्रशमरतिप्रकरणकारन उल्लिखित पाँच भावोंके अतिरिक्त सान्निपातिक भावका प्रतिपादन किया है। अर्थात् उ होन जीवके छह भावोका निरूपण किया ह।

४ त वार्थभाष्य और प्रशमरतिप्रकरणमे सयमके १७ भेद प्रदर्शित किये गये हैं किन्तु सख्या समान होने पर भी दोनोमें उनके नाम अलग अलग बताये गये ह।

तत्त्वाथभा यमे इस प्रकार ह—

योगनिग्रह सयम। स सप्तदशविध। तद्यथा पथिवीकायिक सयम अप्कायिक सयम तजस्कायिकसंयम वायुकायिकसयम वनस्पतिकायिकसयम द्वीन्द्रियसयम त्रीन्द्रियसयम चतुरिन्द्रियसयम पंचन्द्रियसयम प्रक्ष्यसयम उपदेक्षसयम अप हृत्यसयम प्रमृज्यसयम कायसंयम वाक्संयम मन सयम उपकरणसयम इति संयमो धम (९/६)।

पर प्रशमरतिप्रकरणमें सयमके १७ भेद इस प्रकार बतलाये हैं—

पचास्रवाद्विरमण पंचेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजय।
दण्डत्रयविरतिश्चेति सयम सप्तदशभेद ॥ (का १७२)

अर्थात पाँच आस्रवोसे विरति पाँच इन्द्रियोंका निग्रह चार कषायोंपर विजय तथा तीन दण्ड (मन-वचन-कायका निग्रह) इस प्रकार संयमके १७ भेद हैं।

यहाँ पाँच इन्द्रिय विजय और तीन दण्ड विजय दोनोके समान हैं किन्तु बाकी भेद दोनोके भि न भिन्न हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों रचनाय एककर्तृक

---

१ तत्त्वार्थभाष्य ५/५ (क) आ आकाशाद् धर्मादीन्येकद्रव्याण्येव भवन्ति। पुद्गल—जीवास्त्वनेकद्रव्याणि।
(ख) एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति न हि कदाचित् पंचत्वं भतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति। ५/६

नहीं हैं—उनके भिन्न भिन्न कर्ता हैं। अन्यथा इस प्रकारका भिन्न कथन अपने ही ग्रन्थोंमें एक ही कर्ता नहो करता।

५ त वार्थभाष्य (२/१४) में ही तेजस्कायिक और वायुकायिकको त्रस कहा गया है इसके विपरीत प्रशमरतिकारने (का १९२) में इन्हें स्थावर निरूपित किया है।

उपयुक्त साम्य और वषम्यके उदाहरणोसे स्पष्ट ज्ञात होता ह कि तत्त्वार्थसूत्र तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरतिप्रकरण ये तीनों एककर्तृक नही हैं आपितु वे भिन्न आचार्यों द्वारा निर्मित हुये ह। अ यथा उनम इस प्रकारका सैद्धान्तिक अन्तर न होता। इनम जहाँ साम्य मिलता है वह अपनी पूर्वपरम्परासे प्राप्त तत्त्वज्ञानकृत है। और इस प्रकारका साम्य श्वे और दिग परम्पराओमें भी अनेक स्थलोपर दिखाई देता है क्योकि दोनों ही परम्परायें एक ही तीर्थङ्कर म ावीरके श्रुतकी आराधक रही हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थभाष्यकारने ग्र थके अन्तमे अपन परिचयपरक एक प्रशस्ति दी है जबकि प्रशमरतिकारन अपना नामोल्लेख भी नही किया है। यह कम मह वकी बात नही ह। इससे भी दोनो कृतियोकी भि नता जानी जा सकती है।

इन ग्रन्थोके सक्ष्म अन्त परीक्षणसे हम तो यही अवगत होता है कि प्रशमरति प्रकरणकारके समक्ष तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य विद्यमान थे। यह इसलिय कह सकते हैं कि प्रशमरतिप्रकरणकारने पूर्वकवियो द्वारा रचित प्रशमजननशास्त्रपद्धतियोके आधा -ग्रहणका उल्लेख किया है। इससे वे निश्चय ही उत्तरक लीन और भिन्न समयवर्ती हैं।

इस सम्पूर्ण विवचनका निष्कर्ष यह है कि त वार्थसत्र पहले रचा गया है और उसका भाष्य उसके बहुत काल बाद रचा गया है और इन दोनोंका आधार लेकर प्रशमरतिप्रकरणकारने अपनी रचना प्रशमरनि लिखी है। यही कारण है कि उन्होने जिनवचनरूप समुद्रके पारका प्राप्त हुये म ामति कविवरोके वराग्योत्पादक शास्त्रोंका स्मरण किया है। और उनसे नि सृत श्रतवचनरूप कणोको द्वादशागके अर्थके अनुसार बतलाया है। इसके सिवाय उनका यह उल्लख भी महत्त्वपूर्ण है कि—

बहुभिर्जिनवचनार्णवपारगतै कविवृषर्महामतिभि ।
पूवमनेका प्रथिता प्रशमजननशास्त्रपद्धतय ॥ ५ ॥

ताभ्यो विसृता श्रुतवाक्पुलाकिका प्रवचनाश्रिता काश्चित् ।
पारम्पर्यादुत्सेषिका कपणकेन संहृत्य ॥ ६ ॥

तद्भक्तिबलार्पितया मयाप्यविमलाल्पया स्वमतिशक्त्या ।
प्रशमेष्टतयाऽनुसृता विरागमार्गैकपदिकेयम् ॥ ७ ॥

जिनवचनरूप समुद्रके पारको प्राप्त हुए महामति कविवरोंने पहले वैराग्यको उत्पन्न करने वाले अनेक शास्त्र रचे हैं। उनसे निकले हुए श्रुतवचनरूप कुछ कण द्वादशाङ्गके अर्थके अनुसार हैं। परम्परासे वे बहुत थोड़े रह गये हैं परन्तु मैंने उन्हें रङ्कके समान एकत्रित किया है। श्रुतवचनरूप धान्यके कणोंमें मेरी जो भक्ति है उस भक्तिके सामर्थ्यसे मुझे जो अविमल और थोड़ी बुद्धि प्राप्त हुई है अपनी उसी बुद्धि शक्तिके द्वारा वैराग्यके प्रेमवश मैंने वैराग्य-मार्गकी पगडंडी रूप यह रचना की है।

●

मूलाचारकी परम्परा

मूलाचार जैन मुनिके आचारका प्रतिपादक प्राचीन ग्र थ है। इसमें भगवती आराधना तथा आचाय कुन्दकुन्दकी कई गाथाय प्राप्त होती हैं। अत प्रारभमें इसे प० परमानन्द शास्त्रीने सग्रह-ग्रथ माना था[1]। पर बादम इसे मौलिक ग्रन्थ स्वीकार किया ह[2]। वटटकेरिका अथ कु दकुन्द मानकर तथा इसम आचार्य कुन्दकुन्दकी गाथाय देखकर कुछ विद्वानोने इसे आचार्य कुन्दकुन्दका ग्र थ माना है[3]।

प नाथरामजो प्रमीका कथन है कि यह ग्र थ आचाय कुन्दकुन्दका तो नही है उनकी विचार परम्पराका भी नही ह अपितु यह उस परम्पराका ग्र थ है जिसमें शिवाय और अपराजित हुय ह। इमके लिय उन्होन निम्नलिखित युक्तियाँ भी हैं—

१ मलाचार औ भगवती आराधनाकी पचासो गाथाय एक-सी और समान अर्थ वाली हैं।

२ भगवती आराधनाम प्राप्त होन वालो आचेलक्कुद्देसिय गाथा (४२१) जिसमे दश स्थितिक पोका चर्चा है मलाचारम भी प्राप्त होती है।

जीतक पभाष्य नाम श्वताम्बर ग्र यम भी यही गाथा (१९७२) प्राप्त होती है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अ य टीकाग्र थो और नियु क्तियोम भी यह गाथा है। प्रमेयक मलमातडके स्त्रीमक्तिविचारम प्रभाच द्रने इसका उल्लेख श्वताम्बर सिद्धान्तके रूपम किया है।

३ से जोगामणिसे जा गाथा भी मलाचार और भगवती आराधना दोनोंमें मिलती है[4]। इसम कहा गया है कि वयावृत्ति करने वाला मुनि रुग्ण मुनिका आहार औषधि आदिसे उपकार कर।

४ आचार-जीत-क प ग्रथोका उ लेख करने वाली भगवती आराधनाकी गाथा[5] भी यहाँ प्राप्त होती ह। ये ग्र थ यापनीय और श्वताम्बर पारम्परामें मान्य हैं।

---

१ मलाचार सग्रह ग्र थ ह अनेकात वष २ किरण ५।

२ मूलाचार संग्रहग्रथ न होकर आचारागके रूपम मौलिक ग्र थ है अनेकात वर्ष १२ किरण ११।

३ मूलाचारकी मौलिकता और उसके रचयिता श्री प हीरालाल सिद्धान्त-शास्त्री अनेकात वर्ष १२ किरण ११।

४ मूलाचार गा ३९१ तथा भगवती आराधना गा ३ ५

५ भगवती आराधना गा ४१४ तथा मूलाचार गाथा ३८७

५ बावीस तित्थयरा और सप्पडिकम्मो धम्मो इन गाथाओंमें जो तीथकरों के उपदेशोंमें भेद बताया गया है वह कुन्दकुन्दकी परम्परामें अन्यत्र कही नहीं कहा गया। ये गाथाय भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्तिमें हैं।

६ आवश्यकनियु क्तिकी लगभग ८ गाथायें मूलाचारमें मिलती हैं और मूलाचारमें प्रत्येक आवश्यकका कथन करते समय वट्टकेरिका यह कथन प्रस्तुत आवश्यकपर सक्षेपसे नियु क्ति कहूँगा अवश्य ही अर्थसूचक ह क्योंकि सम्पूर्ण मूला चारमें षडावश्यक अधिकारको छोडकर नियु क्ति शब्द शायद ही कही आया हो। षडावश्यकके अन्तमे भो इस अध्यायको निय क्ति नामसे ही निर्दिष्ट किया गया है।

मूलाचारमें सामाचार अधिकारमे (गा १८७) कहा गया ह कि अभी तक कहा हुआ यह सामाचार आर्यिकाओके लिए भो यथायोग्य जानना। यहाँ ग्रथकर्ता मनियो और आर्यिकाओको एक ही श्रेणीमें रख रहे हैं फिर १८४ वी गाथामें कहा ह कि आर्यिकाओका गणधर गभीर दुर्धर्ष अ पकौतूहल चिरप्रव्रजित और गृहीताथ होना चाहिये। इससे प्रतीत होता है कि आर्यिका म निसघके ही अन्तगत है तथा उनका गणधर मुनि ही होता है। १९६वी गाथामे स्पष्ट कहा गया है कि इस प्रकारकी चर्या जो मनि और आर्यिकाय करते ह व जगत्पूजा कीर्ति और सुख प्राप्त करके सिद्ध होते हैं।

एव विधाणचरिय करति जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्ति सहं च लद्धूण सिज्झति॥

श्री प्रेमीजीकी युक्तियाँ उचित प्रतीत होती हैं। उनके सिवाय कतिपय अन्य सन्दर्भ दृष्टव्य हैं—

सामाचार अधिकारमे कहा गया है कि—

सुहदुक्ख उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं।
तुम्ह अहं ति वयणं सुहदुक्खुवसपया णया॥ ४/२१

मुनियोको सुख दु खमें वसतिका आहार औषधि आदिसे परस्पर एक दूसरेका उपकार करना चाहिये। मैं आपका हूँ इस प्रकारके वचनोका प्रयोग सुखदु खोप सपत् है।

यह विचाधारा आचार्य कुन्दकुन्दकी विचारधाराके प्रतिकूल है। वे कहते हैं कि यदि वैयावृत्य करनमें लगा हुआ श्रमण कायको खेद पहुँचाता है तो वह श्रमण नही है। कायको क्लेश पहुँचाकर वैयावृत्य करना श्रावकोंका धर्म है।

१ जैन साहित्य और इतिहास पृ ५४८ ५५३

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥[1]

२ विरतोंका विरतियोंके उपाश्रयमें ठहरना युक्त नहीं है। वहाँ बैठना लेटना स्वाध्याय भिक्षा व्युत्सर्ग आदि उचित नहीं है। इस आशयकी गाथा मूलाचारमें दो बार प्राप्त होती है।

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चिट्ठदुं।
तत्थ णिसज्ज उवट्ठण-सज्झायाहारभिक्खवोसरणं ॥[2]

आहार और भिक्षाका भेद करते हुए टीकाकार वसुनन्दिने कहा है कि आर्यिकाओंका बनाया हुआ भोजन आहार तथा श्रावकों द्वारा प्रदत्त भोजन भिक्षा है।

यह गाथा दिगम्बर परम्पराकी दृष्टिसे विचारणीय है। दिगम्बर परम्पराका साधु श्रावकोंके घर पाणिपात्रमें आहार लेता है। भिक्षा लाकर अन्यत्र कहीं उपाश्रय आदिमें खानेका कोई विकल्प नहीं है अतः यह निषेध भी चिन्तनीय ही है। यापनीय साधु अवश्य अपवादरूपमें वस्त्र-पात्र रखते थे, उनकी दृष्टिसे पात्रमें भिक्षा लाकर उपाश्रय आदिमें खाना उचित हो सकता है और इसीलिये उस भिक्षाके आर्यिकाओंके के उपाश्रयमें ग्रहण करनेका निषेध है। श्वेताम्बर परम्परामें ऐसी प्रवृत्ति मिलती है।

३ मूलाचारमें मुनिके पाँच पद बताये गये हैं—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गणधर। दिगम्बर परम्परामें आचार्य व उपाध्याय इन दो पदोंका ही उल्लेख एवं विवरण मिलता है। तीर्थङ्करोंके वचनोंको गुम्फित करने वाले उनके साक्षात् शिष्य गणधर कहे गये हैं।

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झायापवत्तथेरा गणधरा य ॥[3]

४ मूलाचारके अनगारभावनाधिकारमें मुनियोंके लिये जो दश सूत्रहसूत्र बताये गये हैं उनमें जिन दश शुद्धियोंका वर्णन है उनमेंसे अधिकांश शुद्धियाँ उत्तराध्ययनके अनगार मार्गगति नामक ३५वें अध्ययनमें प्राप्त होती हैं। उत्तराध्ययनसे मूलाचारका यह साम्य उनके यापनीयत्वका ही समर्थक है।

---

१ प्रवचनसार गाथा २५
२ मूलाचार ४/१८
३ मूलाचार ४/३१

लिंगं वदं च सुद्दी वसदिविहारं च भिक्खं ठाणं च।
उज्झणसुद्दी य पणो वक्कं च तवं तथा झाणं ॥[1]

उपर्युक्त अनेक तथ्य मूलाचारको यापनीय-ग्रन्थ माननेकी ओर प्रेरित करते हैं।

भगवती आराधना यापनीय ग्रंथ

शिवार्यकी भगवती आराधना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमे आराधना तथा समाधिमरणका विशद विवेचन है। ग्रन्थकर्ताने प्रशस्तिमें अपना परिचय देते हुये लिखा है कि आर्य जिननदि गणि आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दिके चरणोके निकट सूत्रो और उनके अभिप्रायको अच्छी तरह समझ करके पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की हुई रचनाके आधारसे पाणितलभोजी शिवार्यने यह आराधना अपनी शक्त्य नुसार लिखी। आदिपुराणके कर्ता जिनसेनने उनका नाम शिवकोटि उल्लिखित किया है।

शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाऽऽराध्य चतुष्टयं।
मोक्षमार्गं स पायान्न शिवकोटिमुनीश्वरः ॥[2]

शीतीभूत विशेषणसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह भगवतीआराधनाकारका ही शिवकोटिके नामसे उल्लेख है क्योंकि यह कथन उनकी निम्नलिखित गाथाको लक्ष्य करके किया गया है—

सव्वगंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य।
पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहई ॥[3]

भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्यको प्रायः सभी विद्वानोने यापनीय माना है।

डॉ ज्योतिप्रसाद जैनने इनके विषयमे कहा है— शिवार्य सभवत श्वेताम्बर परम्पराके शिवभूति हैं। ये उत्तरापथकी मथुरा नगरीसे सम्बद्ध हैं और इन्होने कुछ समय तक पश्चिमी सिन्धमे निवास किया था। बहुत सभव है कि शिवार्य भी कुन्द कुन्दकी भाति सरस्वती आन्दोलनसे सम्बद्ध रहे हो। वस्तुत शिवार्य ऐसी जैन मुनियोकी शाखासे सम्बद्ध हैं जो उन दिनो न तो दिगम्बर शाखाके ही अन्तर्गत थी और न श्वेताम्बर शाखाके ही। यापनीय संघके ये आचार्य थे अतः मथुराके अभिलेखोसे प्राप्त संकेतोके आधार पर इनका समय ई सन्की प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।[4]

---

१ मूलाचार ९/३

२ आदिपुराण १/४९

३ भगवती आराधना गाथा ११७८

४ द जैन सोर्सेज ऑफ द हिस्ट्री ऑफ एन्सिएण्ट इण्डिया, पृ १२३–१

डॉ ज्योतिप्रसादका अभिप्राय यहां श्वेताम्बर परम्पराके शिवभूति बोटिक और शिवार्यका समीकरण करना रहा है। समीकरणका कोई ठोस आधार न होनेसे यह सभावनामात्र है। शिवार्य यापनीय आचाय थे इसे विद्वानाने भी स्वीकार किया है।

प नाथरामजी प्रेमीने भी शिवार्यको यापनीय माना ह। उनके तर्क इस प्रकार हैं—

१ दिगम्बर परम्पराकी किसी भी गुर्वावलिमें शिवाय तथा उनके गुरुओ (जिननन्दि सर्वगुप्त और मित्रनन्दि)के नाम नही मिलते।

२ अपराजितसूरि यदि यापनीय सघके थ तो अधिक संभव यही है कि उन्होन अपने ही सम्प्रदायके ग्रन्थकी टीका की है।

३ आराधनाकी गाथाय काफी तादादम श्वेताम्बर सत्रोमे मिलती हैं इससे शिवार्यके इस कथनकी पुष्टि होती है कि पर्वाचार्योकी रची हुई गाथाय उनकी उपजीव्य है।

४ सवगप्त गणि सभवत शाकटायन द्वारा उल्लिखित सर्वगुप्त हैं।[२] शाकटायन यापनीय थ अत सभव है कि सर्वगुप्त यापनीय सूत्रो तथा आगमोंके व्याख्याता हो।

५ स्वयको पाणितलभोजी कहना श्वेताम्बरोसे पाथक्य प्रकट करनेके लिय ही है।

६ आराधनाकी ११३२ वी गाथाम मेदाय मनिको कथा है। इसका अथ आचाय अमितगति पं सदासुखजी प जिनदास शास्त्री आदि किसीने भी नही किया सभवत य सब इस कथासे अपरिचित थे। मेदार्य मुनिकी कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रसिद्ध है। हरिषेणकृत कथाकोशमे यह कथा है।[३]

७ दशस्थितिक पवाली गाथा जोतक पभाष्यकी गाथा न १९७२ है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अन्य टोकाओ और नियु क्तियोम भी यह मिलती है। प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमें स्त्रीमुक्ति विचार प्रकरणमे उसका उ लेख श्वताम्बर सिद्धान्तके रूपमे ही किया है।

८ ल धियुक्त तथा मायाचाररहित चार चार मनि लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानक लाव। इस आशयकी गाथाय (६६२ ६६३) एव सेजजोगासणिसे जा (गा ३ ५) आदि गाथाए दिगम्बर सम्प्रदायसे मेल नही खाती हं।

---

१ देखिये प्रथम अध्यायके अन्तर्गत बोटिक सम्प्रदाय।

२ उपसवगुप्त व्याख्यातार शाकटायन-व्याकरण अमोघवृत्ति १।३।१ ४

३ हरिषेणकृत कथाकोशम भी अनेक दिगम्बर सम्प्रदाय विरोधी बात प्राप्त होती हैं। देखिये दूसरा अध्याय पुन्नाट सघ।

९ गा ११२३ में जिस तालपलंब सत्रका उल्लेख किया है वह कल्पसूत्रका है। विजयोदया टीकामें तथा चोक्त कहकर कल्पकी दो गाथाय और उद्धृत की गयी हैं। वे ही आशाधरजीने कल्पे कह कर दी है।

१ गा नं ७९-८३ में मुनिके उत्सग अपवाद लिंगका वर्णन है। भक्त प्रत्याख्यानके प्रसगमें कहा है कि उत्सर्गलिंगवाला जो मनि भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता है उसे उत्सर्गलिंगी ही चाहिये परन्तु जो अपवादलिंगी है उसे भी भक्त-प्रत्याख्यान के अवसर पर उत्सर्गलिंग ही प्रशस्त कहा है अर्थात उसे भी नग्न हो जाना चाहिये और जिसके लिंगसम्बन्धी तीन दोष दुर्निवार हों उसे वसतिमें सस्तरारूढ होन पर उत्सर्गलिंग धारण करना चाहिये।

११ आराधनाका चालीसवाँ विजहना नामक अधिकार विलक्षण ह जिसमे मनिके मत शरीरको रात्रिभर जागरण करके रखनेकी और दूसर दिन किसी अच्छे स्थानम वसे ही बिना जलाये छोड आने की विधि वर्णित है। श्वेताम्बर ग्रन्थ व्यव हारसूत्रमे मुनियोके शवसंस्कारकी यही विधि है।[1]

१२ दिगम्बर-सम्प्रदायकी किसी भी कथामे भद्रबाहु मुनिके ऊनोदर कष्टसे समाधिमरणका उल्लेख नही है। भगवती आराधनाम घोर अवमोदर्यसे बिना सक्लेश बुद्धिसे भद्रबाहुको उत्तम स्थानकी प्राप्तिका निदश है—

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असकिलिटठमदी।
घोराए तिगिछाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं॥ १५४४

१३ आधारवत्व गुणके धारक आचार्यको कप्पववहारधारी विशेषण दिया है। कल्पव्यवहार आदि ग्रन्थ श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें ही प्रसिद्ध ह।

१४ एक अन्य गाथामें आचारशास्त्र जीतशास्त्र तथा कल्पशास्त्र ग्रन्थोका उल्लेख है।[3]

---

१ व्यवहारसत्र सातवा उद्देश्य सूत्र २१

गामाणुगाम दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसभेजा त च सरीरग केई साहम्मिए पासेज्जा कप्पइसे त सरीरग न सागारियमिति कटट थडिले बहुफासुए पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेत्तए। अर्थात् ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भिक्षकी मृत्यु हो जाने पर उसके सहचर श्रमणको यह शरीर गहस्थ न छुये इस विचारसे एकान्तम भूमि प्रतिलेखित परिमार्जित करके रख देना चाहिये।

२ चोद्दस-दस णव-पुव्वी महामदी सायरोव्व गभीरो।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारव नाम॥ ४२८

३ आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झझा।
अज्जव-मद्दव-लाघव-तुट्ठी पल्हादण च गुणा॥ ४ ७

१५ बृहत्कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र आदिकी गाथायें भगवती आराधनामें उद्धृत हैं।

इस प्रकार प्रेमीजीने गवेषणापूर्वक भगवती आराधनाके यापनीय कृति होनेकी सिद्धि की है। उनके यापनीय होनेके कुछ और प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

उत्सर्ग और अपवाद लिंगसे सम्बन्धित तीन कारिकाएं भक्तप्रत्याख्यानमरणके अवसरपर आराधनामें आयी हैं।

> उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमस्सग्गियं चेव।
> अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गिय लिंग ॥
>
> जस्स वि अव्वभिचारो दोसो तिटठाणिओ विहारम्मि।
> सो वि हु संथारगदो गेहुणिज्जोस्सुग्गिय लिंग।
> आवसथे वा अप्पाउग्गो जो वा महढ्ढिओ हिरिम।
> मिच्छजणे सजणे वा तम्स हु होज्ज अववादिय लिंग ॥

प्राचीन और नवीन टीकाकारोंने इनका अर्थ करते समय मुनिके लिंगको उत्सर्ग लिंग तथा गृहस्थके लिंगको अपवाद लिंग माना है।

पं कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका इस विषयमें कथन है कि इसकी टीकामें अपराजितसूरिने औत्सर्गिकका अर्थ सकलपरिग्रहके त्यागसे उत्पन्न हुआ किया है क्योंकि यतियोंके लिये अपवाद होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आपवादिकलिंगका धारी गृहस्थ ही होता है। मुनि तो औत्सर्गिक लिंगका धारी होता है।[२]

अपराजितसूरिने यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवाद कहकर यतिके परिग्रह धारणको ही अपवाद कहा है। अपवाद उत्सर्ग सापेक्ष होता है। परिग्रहत्याग मुनिका उत्सर्गलिंग है अतः परिग्रहधारण यतिका ही अपवादलिंग होगा। गृहस्थ तो परिग्रही होता ही है। अपवादलिंगी मुनिके साथ भक्तप्रत्याख्यानके लिये उत्सुक गृहस्थके लिंगको भी अपवादलिंग कहा गया है।

इन गाथाओंका अर्थ है कि भक्तप्रत्याख्यानके अवसरपर जो उत्सर्गलिंगी मुनि है उसके लिये तो उत्सर्गलिंग ही युक्त है और जो अपवादलिंगी है उसके लिये भी इस अवसर पर उत्सर्गलिंग धारण करना योग्य है।

अगली दो गाथाओंमें अपवाद लिंगका वर्णन है। जिसके विहार करनेमें त्रैस्थानिक दोष निरंतर हो उसे भी संस्तरपर उत्सर्ग लिंग धारण करना चाहिये।

---

१ भगवती आराधना ७६-८

२ भगवती आराधना प्रथमभागकी भूमिका पृ ३०

यह अपवादलिंग मुनिका लिंग है। जिस मुनिके पुरुषलिंग तथा अण्डकोषोंमें (तीन स्थानोंमें) अनिराकार्य दोष हो वह अपवादलिंग धारण करता है। उसे भी संस्तरगत होते समय उत्सर्गलिंग धारण करना चाहिये।

जो सम्पत्तिशाली हैं लज्जालु हैं अथवा जिसके स्वजनबन्धुवर्ग मिथ्यादृष्टि हैं उन्हें सार्वजनिक व अयोग्य निवासस्थानमें आपवादिक लिंग ही धारण करना चाहिए।

सम्पत्तिशाली तथा मिथ्यादृष्टि स्वजन आदि विशेषणोंसे स्पष्ट है कि इस आपवादिकलिंगका धारी गृहस्थ है। इस प्रकार अपवादलिंगमें अपवादलिंगी मुनिके साथ भक्तप्रत्याख्यानके लिए तत्पर गृहस्थका भी संग्रह है।

आर्यिकाओंके लिंगको आराधनाकारने आपवादिक अथवा औपचारिक नहीं कहा है। तपस्विनियोंके लिंगको (आगममें) औत्सर्गिक लिंग कहा है। श्राविकाओंके लिंगको अपवादलिंग कहा है।

इत्थी वि य जं लिंगं दिठठ उस्सग्गिय व इदरं वा।
त तह होदि हु लिग परित्तमुवधिं करेंतीए॥

प्राचीन दिगम्बर परम्परामें एक ही मनि-परम्परा है। जिनकल्पी और स्थविरकल्पी श्वताम्बर तथा यापनीयोके मनिभेद हैं। प्राचीन दिगम्बर साहित्यमें जिनकल्प और स्थविरकल्प शब्दोंके प्रयोग नही हैं। भगवती आराधनामें जिनकल्पित (गा १६) तथा जिनकल्पी (गा २ ६) शब्दोंके भी प्रयोग हैं।

गाथा ७९ म तादी शब्दका प्रयोग है। तादी शब्दका अर्थ त्रायी न होकर मोक्षगमनेच्छु है। उत्तराध्ययनमें तायी तथा पालिसाहित्यमें तादी शब्द पाया जाता है। मनि दुलहराजका कथन है कि ताई शब्द जैन आगमोमे अनेक बार व्यवहृत हुआ है। उत्तराध्ययनमें पाँच बार (८/४ ११/३१ २१।२२ २३/१) दशवैकालिकमें सात बार (३/१ ३/१५ ६/२ ३६/६८ ८/६२) सूत्रकृतागमें भी यह अनेक बार आया है। टीकाकारोने इसके दो सस्कृत रूप दिय हैं तायी और त्रायी। तायीके दो अर्थ हैं। सुदृष्ट मार्गको देशना द्वारा शिष्योंका सरक्षण करने वाला (२) मोक्षके प्रति गमनशील।[२]

प्रस्तुत गाथामें प्रयुक्त तादी' शब्दका अर्थ मोक्षगमनेच्छु या मोक्षके प्रति गमनशील उचित प्रतीत होता है—

---

१ गाथा न ८ ।

२ तुलसी प्रज्ञा लाडनू जुलाई-सित १९७५ में मुनि दुलहराजका लेख उत्तराध्ययनके सन्दर्भमें भदन्तजीके चिंतनकी मीमासा —

पासितु कोइ तादो तीरं पत्तम्मिसमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणा होदि ॥[1]

समाधिमरणमें स्थित कोई क्षपक यति आहारको देखकर तीरप्राप्त (संसारसे किनारे आगये) मुझे इनसे क्या ? ऐसा विचार करता है और बराग्य प्राप्त करके संवेगपरायण होता है ।

अपराजितसरिने तादीका अर्थ यति किया है । हमें इस शब्दका अर्थ समाधिमरण में स्थित क्षपक मुनि प्रासगिक मालम पडता है । इस शब्दका प्रयोग श्वेताम्बर ग्रन्थों (उत्तराध्ययन दशवैकालिक आदि) के आधारपर किया गया प्रतीत होता है जिन्हें यापनीय भो प्रमाण मानते हैं और जिनका उ लेख मुनि दुलहराजने भी किया है ।

दश स्थितिकल्पोंकी विचारधारा आचार्य कुन्दकुन्दके विचारोसे मल नही खाती है । शय्यातरपिंड तथा राजपिंडके निषेधका विवरण आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोम नही मिलता है ।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वजा एरिसा भणिया ॥[2]

इस गाथामें उत्तम मध्यम तथा दरिद्र व सम्पन्न सभी जगह निरपेक्ष भावसे आहार ग्रहण करनेका विधान है । दिगम्बर सम्प्रदायम यदि शय्यातरपिंडत्याग का विधान होता तो पडित सदासुखजी इस अर्थसे परिचित होत । वे इसका अर्थ करते हैं शय्यागह अर्थात् स्त्री पुरुषोकी क्रीडाका मकान ।

दिगम्बर ग्रन्थोंम अनगार धर्मामृतमें यह गाथा मिलती है । पर अनगार-धर्मामृत (पं आशाधरजी) के समयमें भगवती आराधना और मलाचार जैसे ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित हो चके थे । साथ ही प आशाधरजी बहुश्रुत व समन्वयवादी थे । उन्होने भगवती आराधना तथा विजयोदयाका गहन अध्ययन किया है । वे भगवती आराधनापर मूलाराधना दर्पण नामक टीकाके रचयिता है ।

भगवती आराधना गा ६६२ ६६३ तथा ३ ५ में कहा गया है कि लब्धियुक्त मायाचाररहित चार-चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानक लाव तथा वैयावृत्य करने वाला मुनि अहार आदिसे मुनिका उपकार करे ।

आचार्य कुन्दकुन्दके विचार इस मतसे भी मल नही खाते । व श्रमणोंको शुद्धोप योगी तथा शुभोपयोगी दो प्रकारके मानते हैं । अरहतादिके प्रति भक्ति प्रवचनमें अभियुक्तके प्रति वा सल्य वदना नमस्कार आदर-सत्कार आदिको रागचरित मानते

---

१ भगवती आराधना गाथा ६९ ।

२ बोधपाहुड गाथा ४८ ।

है। दर्शन-ज्ञानका उपदेश शिष्योंका संग्रह-पोषण, जिनेन्द्रदेवकी पूजाका उपदेश आदि सरागी श्रमणोंकी चर्या स्वीकार करते हैं। कायकी विराधनारहित होकर भी जो नित्य चातुर्वर्ण श्रमणसंघका उपकार करता है वह रागप्रधान है। यदि वैयावृत्य करनेमें उद्युक्त श्रमण कायको खेद पहुँचाता है तो वह श्रमण नहीं है। कायको क्लेश पहुँचाकर वयावृत्य करना श्रावकोंका धर्म है। इस अंतिम गाथा द्वारा आचार्य कुन्द कुन्दने उक्त प्रकारके वैयावृत्यका स्पष्ट निषेध किया है।

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्मि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥

अरहंतादिसु भत्ति वच्छलता पवयणाभिजुत्तसु ।
विज्जदि जदि सामण्ण सा सुहजुत्ता भव चरिया ॥

वंदणणमंसणहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिया रायचरियम्मि ॥

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥

उवकुणदि जण वि णिच्च चादुव्वणस्स समणसघस्स ।
कायविराधणरहिय सो वि सरागप्पधाणो से ॥

जदि कुणदि कायखेदं वेच्चावच्चज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाण से ॥[1]

आचार्योंके ३६ गुणोंका उल्लेख भी दिगम्बर परम्परामें नहीं मिलता। भगवती आराधनामें उपलब्ध गाथामें आचारवत्व आदि आठ गुण दशविध स्थितिकल्प बारह प्रकारका तप तथा छह आवश्यक ये छत्तीस गुण बताये गये हैं।[2] अपराजितसूरिके समक्ष उसके स्थान पर दूसरी हो गाथा थी उन्होंने आठ ज्ञानाचार आठ दर्शनाचार द्वादशविध तप पाच समिति तथा तीन गुप्तियोंको ३६ गुणमें परिगणित किया है।

प्रेमीजीके उल्लेखानुसार शाकटायनके स्त्रीमुक्तिप्रकरणकी एक टीकामें शिवस्वामी के सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख आया ह जो अकलकदेवके सिद्धिविनिश्चयसे भिन्न है। हमारा अनुमान है ये शिवस्वामी संभवत शिवार्य हों।[3]

---

१ प्रवचनसार गाथा २४५ ५ ।

२ भगवती आराधना गा ५२८ ।

३ जैन साहित्यका इतिहास शाकटायनका शब्दानुशासन द्वितीय संस्करण पं नाथूरामजी प्रेमी पृ १५८ ।

पाणितलभोजीके रूपमें शिवार्यका स्वय अपना उल्लेख इनके यापनीय होनेकी ओर संकेत कर रहा है। दिगम्बर साधु तो पाणितलभोजी ही होते हैं। यापनीय साधुओंमें अपवादरूपसे पात्रभोजनकी व्यवस्था रही होगी।

उपर्युक्त प्रकारसे विचार करनेपर शिवार्य यापनीय सिद्ध होते हं।

●

विजयोदया टीका और अपराजितसूरि

भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकाके कर्ता अपराजितसूरिको विद्वानोंने यापनीय माना है।[1] इनकी यह टीका उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने दशवैकालिकपर भी विजयोदया नामक टीका लिखी थी।[2]

अन्य यापनीय आचार्योंकी भाँति इन्होंने भी अपने संघ आदिका कोई उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इन्हें यापनीय सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण हैं।

१ दशवैकालिक आचारांग सूत्रकृतांग कल्प उत्तराध्ययन आदि आगमग्रंथों से उद्धरण देनेके कारण यह स्पष्ट है कि ये आगम इन्हें मान्य थे।

२ अपराजितसूरिने अचेलताके गुणोका विस्तारसे वर्णन किया है। पूर्वागमोंमें जो वस्त्र-पात्र ग्रहणके उपदेश है उसके विषयमें उनका समाधान है कि आगमोंमें विशेष अवस्थामे वस्त्र-पात्र ग्रहणका उल्लेख है।

आर्यिकाणामागमे अनुज्ञात वस्त्र कारणापेक्षया भिक्षणा ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने अक्षम स गृह्णाति। तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणम्। यदुपकरण गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधि ग्रहीतस्य च परिहरणमवश्य वक्तव्यम। तस्माद् वस्त्र पात्र चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्त तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्।[3]

कारणविशेषसे वस्त्रग्रहणकी अनुज्ञा है। उनकी यह दृष्टि यापनीय दृष्टि है।

(३) इसी प्रसंगमें अपराजितसूरिने भगवान महावीरकी उन भिन्न भिन्न कथाओं-का वर्णन किया है जिनका दिगम्बर सम्प्रदायमें कोई संकेत तक नहीं है। वे कहते हैं

---

१ (अ) पं नाथूरामजी प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास पृ ६ और आगे।
(ब) प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री भगवती आराधना भाग १ प्रस्तावना पृ २९ और आगे।
(स) पं सुखलालजी संघवी तत्त्वार्थसूत्र विवेचनसहित तृतीय आवृत्ति प्राक्कथन प १४।

२ भगवती आराधनाकी टीकामें इसका उल्लेख किया है
दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां उद्गमादिदोषा नेह प्रतन्यते। भगवती आराधना भाग २ पृ ६ ४।

३ भगवती आराधना भाग १ पृ० ३२४-५।

कि भावना (आचारांगका चौबीसवा अध्ययन) में भगवान महावीरके एक वर्ष तक चीवर धारण और उसके बाद अचेलक होनेका उल्लेख है। इसमें बहुत-सी विप्रतिपत्तियां हैं। कोई कहते हैं उस वस्त्रको जो वीरजिनके शरीरपर लटका दिया गया था लटकाने वाले मनुष्यने ही उसी दिनसे लिया था। दूसरे कहते हैं कि वह काटो और शाखाओंमें उलझते उलझते छह महीनोमें छिन्न भिन्न हो गया था। कुछ लोग कहते हैं कि एक वषसे अधिक बीत जान पर खण्डलक नामक ब्राह्मणने उसे ले लिया था और दूसरे कहते है कि जब वह हवासे उड गया और भगवानने उसकी उपेक्षा की तो लटकाने वालेने फिर उनक कन्धोपर डाल दिया। इस प्रकार अनक विप्रतिपत्तियां होनेसे इस बातमें कि भगवान सचेल प्रव्रजित हुये थे कोई तत्त्व दिखाई नहीं देता। यदि सचेल लिंग प्रकट करनेके लिये भगवानने वस्त्र ग्रहण किया था तो फिर उसका विनाश उन्हे क्यों इष्ट हुआ ? उसे सदा ही धारण करना था। यदि उन्हें ज्ञात था कि नष्ट हो जायगा तो उसका ग्रहण निरर्थक था। यदि नही ज्ञात था तो वे अज्ञानी सिद्ध हुये। और यदि उन्ह चेलप्रज्ञापना वाछनीय थी तो फिर यह वचन मिथ्या हो जायगा कि प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करका धम आचेलक्य था। और जो यह कहा है कि जिस तरह मैं अचेलक हूँ उसी तरह पिछले जिन भी अचेलक होंगे इसमें भी विरोध आयेगा। इसके सिवाय वीर भगवानके समान यदि अन्य तीथकरोंके भी वस्त्र थे तो उनका वस्त्रत्यागकाल क्यो नही बतलाया गया ? इसलिये यही कहना उचित मालम होता है कि सब कुछ त्यागकर जब जिन (वीर भगवान) स्थित थे तब किसीने उनके ऊपर वस्त्र डाल दिया था और यह एक तरहका उपसग था।[1]

दिगम्बर परम्पराम महावीरके वस्त्रको लेकर इस प्रकारके ऊहापोहके लिये स्थान नही है उन्होन उन्हे, पूर्णतया निर्वस्त्र ही प्रव्रजित स्वीकार किया है। श्वताम्बर परम्पराम अवश्य भगवान महावीरके देवद ष्यकी चर्चा है।

(४) अर्हन्त अवर्णवादके अवसरपर दिगम्बर ग्रन्थोंम केवलीकवलाहारका उदाहरण दिया जाता है वह विजयोदयाम नही है इस अनुल्लेखसे भी वे यापनोय प्रतीत होते हैं।

(५) आलन्द परिहारसयम तथा जिनकल्पकी जिन विधियोंका इसम वर्णन है व वर्णन दिगम्बर साहित्यम नही मिलते हैं।[2]

---

१ भगवती आराधना विजयोदया सहित भाग १ पृ ३२५ ६।

२ भगवती आराधना (विजयोदया सहित) भाग १ पृ ९१।

सर्वज्ञतावीतरागते नाहति विद्येते रागादिभिरविद्यया च अनुगत समस्ता एव प्राणभृत इत्यादि अर्हतामवर्णवाद।

भगवती आराधना (विजयोदया सहित) भाग १ पृ० १९७-२ ५।

(६) रात्रिभोजनत्यागको छठा व्रत कहा है।[1] दिगम्बर परम्परामें इसे अहिंसाव्रत की आलोकितपानभोजन नामक भावनामें अन्तर्भावित किया गया है।[2]

(७) विजयोदयामें जिन ११ भिक्षुप्रतिमाओंका कथन है श्वेताम्बर परम्परामें तो उनका कथन है किन्तु वह दिगम्बर परम्परामें नही है।

(८) सद्वेद्य सम्यक्त्व रति हास्य पुरुषवेद शुभनाम शुभगोत्र तथा शुभ आयु को पुण्य प्रकृति माना गया है। सद्वेद्य सम्यक्त्व रतिहास्यपुवदा शुभे नामगोत्रे शुभ आयु पुण्य एतेभ्योऽन्यानि पापानि।[3] यह कथन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओंमें उपलब्ध नहीं है। केवल तत्त्वार्थभाष्यमें वह दिखाई देता है जिसकी आलोचना सिद्धसेनगणिने की है।

(९) शुक्लध्यानके प्रथम भेद पथक्त्ववितर्कसवीचारध्यानका अधिकारी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्तीका माना गया है।[4] सर्वार्थसिद्धिसम्मत पाठवाले तत्त्वार्थसूत्रम आठवें गुणस्थानसे ही पथक्त्ववितर्कविचारशुक्लध्यानको माना गया है।

(१) वृत्तिपरिसख्यान तपके अन्तर्गत अपराजितसूरि कहते हैं कि विविध नियम लेकर आहार ग्रहण करना वृत्तिपरिसख्यान तप है। लायी हुई भिक्षामें भी इतने ही ग्रास ग्रहण करूगा इस प्रकारका परिमाण उक्त तप है।[5]

वृत्तिपरिसख्यान तपके अतिचार बताते हुए कहा गया है कि सात ही घरोंमें प्रवेश करूगा अथवा एक ही दरिद्र घरमें प्रवेश करूगा। इस विशिष्ट प्रकारके दाता द्वारा प्रदत्त आहार ग्रहण करूगा इत्यादि नियम लेनके उपरान्त सातसे अधिक घरोमें प्रवेश अथवा दूसरे दरिद्र घरोम प्रवेश करना अथवा दूसरोको भोजन कराना है इस विकल्पसे अधिक ग्रहण करना वृत्तिपरिसख्यानतपके अतिचार बताये हैं। इससे आश्रय आदिमें भिक्षा लाकर ग्रहण करनेका विधान प्रतीत होता है।[6]

इस प्रकार इन्हें यापनीय सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण हैं।

टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिम अपराजितसूरिने अपनेको आरातीय चडामणि कहा है इससे ज्ञात होता है कि सभवत यह उनकी उपाधि थी। दिगम्बर परम्परामें यह उपाधि विजयदत्त श्रीदत्त शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्योके सिवाय और

१ भगवती आराधना (विजयोदया सहित) भाग १ पृ ३३ ।
२ सर्वार्थसिद्धि ६ १९ ।
३ भगवती आराधना (विजयोदया सहित) भाग २ पृ ८१४।
४ भगवती आराधना (विजयोदया सहित भाग २ पृ ८३६ ।
५ विजयोदया सहित (भगवती आराधना) भाग १ पृ २४१।
६ विजयोदया सहित (भगवती आराधना) भाग १ पृ० ३७१ ।

किसी आचार्यके लिए व्यवहृत नहीं की गई है। सर्वार्थसिद्धिके अनुसार भगवानके शिष्य गणधर और श्रुतकेवलि आरातीय कहे गये हैं।[2] दशवैकालिककी टीका लिखनेके कारण सम्भवतया इन्होंने अपनेको आरातीयचूडामणि कहा होगा।

शाकटायनकी परम्परा

शाकटायन शब्दानुशासन नामक व्याकरण-ग्रन्थके रचयिताके रूपमें प्रसिद्ध हैं। यह ग्रन्थ इनके नामपर शाकटायन-व्याकरण कहलाता है। दिग परम्परा इन्हे अपने सम्प्रदायका मानती रही ह क्योकि इस सम्प्रदायमें इस व्याकरण ग्रन्थका अत्यधिक प्रचार था। साथ ही मुनि दयापाल आदि दिग शास्त्रकारोने उसपर टीकाग्रन्थ लिखे हैं।

सर्वप्रथम बुलहरने इस ग्रन्थके कर्ताकी खोज करके इन्हें जैन घोषित किया है। डॉ के बी पाठकने इह श्वताम्बर प्रमाणित किया है।[3] प नाथूराम प्रमीने इन्हें यापनीय माना है[4]। प्रेमीजीके तक इस प्रकार हैं—

(१) मलयगिरि नामक श्वताम्बराचार्य (विक्रमकी १३वी शताब्दी) ने नन्दिसूत्र की टीकाम इन्हें यापनीय–यतिग्रामाग्रणी लिखा है।

शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणी स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तादौ भगवत स्तुतिमेवमाह–श्रीवीरममृत ज्योतिर्नत्वादिसर्ववेअसम ।[5]

२ इन्होने स्त्रीमक्ति तथा केवलिमक्ति प्रकरण लिखे हैं। य प्रकरण इन्हीं शाकटायनन लिखे हैं। इसका प्रमाण बहट्टिप्पणिकाका उल्लेख है जिसमें इन प्रकरणों को शब्दानुशासनकर्ता शाकटायनकी कृति बताया गया है।

केवलिभुक्तिस्त्रीमक्तिप्रकरणम्। शब्दानशासनकृतशाकटायनाचार्यकृत तत्सग्रह-श्लोकाश्च ९४

---

१ श्रुतावतार श्लोक २५।
विनयधर श्रीदत्त शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्त नामते।
आरातीया यतस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वधरा ॥

२ सर्वार्थसिद्धि १/२
आरातीय पुनराचार्ये कालदोषात्सक्षिप्तमायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थ दशवकालिका द्यपनिबद्ध तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमेव।

३ शाकटायन व्याकरण स शम्भूनाथ त्रिपाठी भूमिका पृ १३ और आगे।

४ जैन साहित्य और इतिहास द्वितीय सस्करण पृ १५५ और आग।

५ नन्दिसूत्र टीका पृ २३

(३) शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें आवश्यक छेदसूत्र निर्युक्ति कालिकसूत्र आदि ग्रन्थोंका जिस तरह उल्लेख किया है उससे ऐसा मालम होता है कि उनके सम्प्रदाय-में इन ग्रन्थोंके पठन-पाठनका प्रचार था और ये ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायके नहीं है जब कि यापनीयसघ इन ग्रन्थोको मानता था।

(४) अमोघवृत्तिमे उपसवगुप्त व्याख्यातार कहकर शाकटायनने सर्वगुप्त आचार्यको सबसे बड़ा व्याख्याता बतलाया है और य सर्वगुप्त वही जान पडते हैं जिनके चरणोंके समीप बैठकर आराधनाके कर्ता शिवार्यने सूत्र और अर्थको अच्छी तरह समझा था और चकि शिवार्य भी यापनीय सम्प्रदायके थे अतएव उनके गुरुको श्रेष्ठ व्याख्याता बतानेवाले शाकटायन भी यापनीय होगे।

(५) शाकटायनको श्रतकेवलिदेशीयाचार्य लिखा है। श्रतकेवलिदेशीय अर्थात् श्रतकेवलीके तुल्य। पाणिनिके अनसार देशीय शब्द तुल्यताका द्योतक है। चिन्ता मणिटीकाके कर्ता यक्षवमान तो उन्ह सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान् लिखा है।

प नाथूरामजीकी ये युक्तियाँ सबल हैं।

अन्य यापनीय आचार्य शिवाय वटटकेरि सिद्धसन स्वयभू तत्त्वाथसूत्रकार तथा अपराजितसूरि आदि किसीने भी स्वयको यापनीय नही कहा है। शाकटायनने भी स्वय कही भी अपन सम्प्रदायका उल्लेख नही किया [२]। यह प्रवृत्ति भी यापनीय ही प्रतीत होती है।

मगौली (जिला वेलगाँव मैसूर) से प्राप्त एक शिलालेखमे यापनीय मनिचन्द्रके शिष्य पाल्यकीर्तिके समाधिमरणका उल्लेख है।

शाकटायनका ही दूमरा अथवा वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति है। यह बात वादि राजसूरि के पार्श्वनाथचरितसे स्पष्ट है। इसमे इन्होने पाल्यकीर्तिका इस प्रकार स्मरण किया है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्ति पाल्यकीतेर्महौजस।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥[३]

---

१ जैन शिलालेख संग्रह भाग ४ ले स० ३ ।

२ डॉ उपाध्येका भी कथन है कि यापनीय साधु अपनेको पृथक सिद्ध करनेके लिए श्रुतकेवलिदेशीय जैसे विशेषणोसे घोषित करते थे—इसके लिए उन्होंने तत्त्वाथ सूत्रकारको भी श्रुतकेवलिदेशीय बताने वाला पद्य उद्धृत किया है। अनेकान्त निर्वाण विशेषांक १९७५।

३ प्रमीजी द्वारा जैन साहित्य और इतिहास में उद्धृत पृ १६५।

श्रीपदश्रवणं[1] अमोघवृत्तिके मगलाचरण श्रीवीरममृतं को लक्ष्य करके कहा गया है। पार्श्वनाथचरितकी पार्श्वनाथपजिका-टीकामें इस श्लोककी व्याख्या करते हुये शुभचन्द्र आचार्यने पा यकीर्तिको ही शाकटायनसूत्रोंका कर्ता माना है। शाक टायन प्रक्रिया-सग्रहके मगलाचरणम अभयचन्द्रने जिनेश्वरको मुनी द्र और पाल्यकीर्ति इन दो श्लिष्ट विशेषणोसे स्मरण किया है।

> मुनीन्द्रमभिवंद्याहं पाल्यकीर्ति जिनेश्वरम्।
> मन्दबुद्धयनुरोधेन प्रक्रियासंग्रह ब्रुवे॥

यहाँ श्लेषके द्वारा एक अर्थमें जिनेश्वर और दूसरे अर्थमे पाल्यकीर्तिको नमस्कार किया गया है।

कदम्बहल्लिके (शक स १ ४६) शिलालेखम भी पाल्यकीर्ति नामक व्याकरणका उल्लेख है।

इन उल्लेखोसे पा यकीर्ति ही शाकटायनका वास्तविक नाम प्रतीत होता है और मगौलीके शिलालेखम यापनीय पाल्यकीर्तिके समाधिमरणका जो उल्लेख है वह सभवत इन्ही पा यकीर्तिका हो सकता है।

कीर्तिनामा त पद भी यापनीयोके होते थ। नन्दिसघमे कीर्ति नामान्त पद मिलते थ। यह नन्दिसघ यापनीय संघका प्रमुख व प्रभावशाली सघ था।[3]

स्त्रीमुक्ति तथा केवलिभुक्तिका सिद्धान्त श्वताम्बर तथा यापनीय दोनो ही स्वीकार करते है तथापि स्त्रीमक्ति प्रकरणसे यह ध्वनित होता है कि व यापनीय साधु निवस्त्र रहते थे। तथा सवस्त्रताको अपवादमार्ग समझते थे जबकि श्वताम्बर जिनकल्पको व्युच्छिन्न मानकर सवस्त्रताको ही उ सर्ग मानते है।

निम्नलिखित कारिकाओसे ध्वनित होता है कि वे वस्त्रग्रहणको अपवादमार्ग मानते थे—

> वस्त्र विना न चरणं स्त्रीणामित्यर्हतोच्यत विनापि
> पु सामिति यवार्यंत तत्र स्थविरादिवद् मुक्ति॥

---

१ तस्य पा यकीत महौजस श्रीपदश्रवण। श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि तेषां श्रवण आकर्णनम।

२ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ पृ ४ ।
पल्लकीर्तिर्यथारूढ पुरा व्याकरणे कृती।
तथाभिमानदानेषु प्रसिद्ध पल्लपण्डित॥

३ देखिये दूसरा परिच्छेद यापनीय संघका अन्य विभ० सघोंसे संबन्ध।

अर्शोभगन्दरादिषु गृहीतचीरो यतिर्न मुच्यते।
उपसर्गे वा चीरो गदादि संन्यस्यते चान्ते ॥[1]

भगवानने स्त्रियोंकी चर्या वस्त्ररहित नही बतायी है। पुरुषोंकी चर्या वस्त्रके बिना बतायी है। यह प्रतिपादन इस बातका प्रमाण है कि वे उत्सर्ग रूपमे पुरुषकी चर्या निर्वस्त्र मानते हैं।

आगे वे कहते है स्त्रीकी मुक्तिका निषेध वस्त्रधारणमात्रसे नहीं माना जा सकता है। वस्त्रधारिणी साध्वीकी मुक्ति स्थविर मुनिके समान होगी। यदि केवल वस्त्रधारण करने मात्रसे स्त्रीमुक्तिको अस्वीकार करोगे तो अर्श भगन्दर आदि रोगसे ग्रस्त तथा उपसर्ग युक्त मुनि वस्त्र धारण करता है उसकी भी मुक्ति नहीं मान सकोगे।

इन कारिकाओंसे स्पष्ट है कि वे पुरुषोकी चर्या निर्वस्त्र ही स्वीकार करते हैं अपवादरूपसे रोग उपसग आदिमें वस्त्रग्रहणकी स्वीकृति है। उनकी यह मान्यता यापनीय है।

सिद्धसेन और उनका सन्मतिसूत्र

आचार्य सिद्धसेनपर काफी गवेषणापूण अध्ययन हो चुका है तथापि उनका सम्प्रदाय समय कृतियाँ आदि विषय विवादास्पद ही है।

स्व प जुगलकिशोरजी मुख्तार केवल सन्मतितर्कको ही सन्मतिकार सिद्धसेन की कृति मानते हैं। मुख्तारजीके विस्तृत विवेचनका साराश यह है कि प्रबन्धोंमें सिद्धसेनकी कृतिरूपमें सन्मतिसत्रका कोई उल्लेख कहीं भी उपलब्ध नही होता। अत प्रबन्धवणित सिद्धसेनसे सन्मतिकार सिद्धसेन भिन्न हैं। गम्भीर गवेषणा और ग्रन्थोंकी अन्त परीक्षाके बाद मुख्तारजीका निष्कर्ष है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन अनेक द्वात्रिशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनसे भिन्न हैं। सन्मतिसत्रके कर्ता न्यायावतारके कर्ता और कतिपय द्वात्रिशिकाओंके कर्ता तीन सिद्धसेन है। शेष द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता इन्हींमें से एक दो या तीन अथवा कोई अन्य भी हो सकते हैं। उनका यह भी कथन है कि प सुखलालजीने तीनोंका एककर्तृत्व प्रतिपादित करनेके लिये कोई विशिष्ट हेतु प्रस्तुत न कर उसका कारण प्रतिभाका समान तत्त्व माना है।[3]

---

१ स्त्रीमुक्ति प्रकरण कारिका १६–७।

२ डॉ ए एन उपाध्ये द्वारा सम्पदित— सिद्धसेनाज न्यायावतार एण्ड अदर वर्क्स की प्रस्तावना।

३ जन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश प्रथम सस्करण पृ ५२७।

सभी द्वात्रिंशिकाए सन्मतिकारकी नही हैं क्योंकि इनमें सन्मतिकारके विपरीत मान्यताएँ प्रतिपादित हैं।

१ प्रथम द्वितीय तथा पचम द्वात्रिंशिकाए केवलीके उपयोगकी युगपद्‌वादकी मान्यताको लिये हुये हैं जबकि सन्मतिकार अभेदवादी हैं।

२ १ वीं द्वात्रिंशिकामें युगपद्‌वादका समर्थन है। श्रुतज्ञानको मतिज्ञानसे और अवधिज्ञानको मन पर्ययज्ञानसे अभिन्न माना है।[3]
यह सब कथन सन्मतिसूत्रके विरुद्ध है।

३ १ वीं द्वात्रिंशिकाके प्रथम श्लोकमें ज्ञान-दर्शन-चारित्रको व्यस्तरूपसे हेतु कहा ह तथा ज्ञानको दशनके पूर्व रखा गया है। साथ ही ये सम्यक विशषणसे माना शून्य हैं।

४ उसी द्वात्रिंशिकाम धर्म अधर्म और आकाशकी मान्यताको निरर्थक मानकर मुख्यरूपसे दो ही तत्त्व जीव और पुद्‌गल मान ह।[5] सन्मतिकारको इन तीनों द्रव्योंके अस्तित्वकी मान्यता इष्ट ह।[6]

इस प्रकार पहली पाचवो और १९ वी द्वात्रिंशिकाए सिद्धसेनकी कृति नही हो सकती। शेषके विषयम स्पष्ट प्रमाणके अभावमे कुछ कहना शक्य नही है।

न्यायावतार सन्मतिसूत्रसे एक शता दी बादकी रचना है। इस पर पात्रस्वामी जसे जैनाचार्यो तथा धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर जैसे बौद्धाचार्योंका भी स्पष्ट प्रभाव है। यह मुख्तारजीका निष्कर्ष है। इनके अनुसार सिद्धसनके नाम पर जो भी ग्रन्थ चढ हुए हैं उनमेंसे सन्मतिसूत्रको छोडकर दूसरा कोई भी ग्रन्थ सुनिश्चतरूपसे स मतिकारकी कृति नही कही जा सकती। न्यायावतारके रचयिता श्वेताम्बर प्रतीत होते है क्योंकि उनकी दिगम्बर सम्प्रदायम वैसी मान्यता नही है जैसी सन्मतिकारकी ह।

सन्मतिकारको सेनगण (सघ) का आचार्य माना जाता है। सेनगणकी पट्टावलीम उनका उल्लेख ह। हरिवशपुराणकार आचार्य जिनसेनन पुराणके अन्तमें दी हुई गुर्वावलीमे सिद्धसनका उल्लेख किया ह।

---

१ प्रथम द्वात्रिंशिका श्लोक ३२ द्वितीय द्वात्रिंशिका श्लोक ३ पचम द्वात्रिंशिका श्लोक २१ व २२।

२ श्लोक न ९।

३ श्लोक न १३ व १७।

४ सन्मतिसूत्र काण्ड २ गाथा १६ १७ व २७।

५ १९वी द्वात्रिंशिका २४ २५ व २६।

६ सन्मतिसूत्र ३|३३।

स सिद्धसेनोऽभयभीमसेनको गुरू परौ तौ जिनशान्तिषेणको ।

रविषणाचार्यने पद्मचरितकी प्रशस्तिमें दिवाकर यतिका उल्लेख किया है—

आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः ।
तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम् ॥[२]

इस प्रकार मुख्तारजीके अनुसार दिगम्बर परम्परामें आदरपूर्वक उनका उल्लेख होनेसे वे दिगम्बर आचार्य ही प्रतीत होते हैं।[३] परन्तु ये दिवाकर यति सिद्धसेन ही हैं यह कैसे कहा जा सकता है अतः यह उल्लेख विचारणीय है।

डॉ. ए. एन. उपाध्येने भी सिद्धसेनाज न्यायावतार एण्ड हिज अदर वर्क्स की प्रस्तावनामें आचार्य सिद्धसेनपर विचार किया है। उनके अनुसार प्रबन्धोंमें जो सिद्धसेनका जीवन-परिचय मिलता है वह काफी परवर्ती है। इनमें दिवाकरके सन्मतिके कर्ता होनेका उल्लेख नहीं है।

डॉ. उपाध्येके अनुसार सन्मतिसूत्रकार यापनीय थे। इसके लिये उन्होंने निम्न लिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं।

१. हरिभद्रसूरिने सिद्धसेन दिवाकर तथा उनके सन्मतिसूत्रका उल्लेख किया है। उन्होंने इन्हें श्रुतकेवली तथा दिवाकराख्य कहा है। और श्रुतकेवली यापनीय आचार्योंका विशेषण है।

२. सन्मतिसूत्रका श्वेताम्बर आगमोंसे कुछ विरोध होनसे इन्हें श्वेताम्बर प्रबन्धोंमें स्थान नहीं मिला है।

३. दिवाकरका उपयोग-अभेदवाद दिगम्बर युगपद्वादके अधिक समीप है। अभेदवादका सिद्धान्त इनका श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रादायोंसे पार्थक्य सूचित करता है।

४. एक द्वात्रिंशिकामें महावीरके विवाहित होनेका संकेत उन्हें श्वेताम्बर घोषित नहीं करता क्योंकि यापनीयोंको भी कल्पसूत्र मान्य था।

---

१. हरिवंशपुराण ६६/२९।

२. पद्मचरित १२३/१६७।

३. जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश पृ. ५२८ तथा पुरातन जैन वाक्य सूची सिद्धसेनका सम्प्रदाय और गुणकीर्तन पृ. १५७–६८।

४. भण्णइ एगंतेणं अम्हाणं कम्मवायणो इट्ठो।
ण य णो सहाववाओ सुअकेवलिणा जओ भणियं ॥
आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअजसेणं।
दूसमणिसादिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥—पञ्चवस्तु गाथा १ ४७ व ४८।

५ निश्चय-द्वात्रिंशिकामें कुछ सैद्धान्तिक मतभेद हैं जो उनकी साम्प्रदायिक मान्यताये हो सकती हैं जिनके कारण उन्हें द्रव्यसितपट कहा गया है।

६ सिद्धसेनके परम्परासे भिन्न मतोको उनका प्रगतिशील होना ही मानना उचित नहीं है। अपितु सभव है कि वे मान्यतायें यापनीय सम्प्रदायसे सबन्ध रखती हों।

७ सिद्धसन दक्षिण विशेषत कर्नाटकके थे। यापनोयोका सम्बन्ध भी कर्नाटकसे रहा है। इसके कारण ये है—

(१) महावीरका सन्मति नाम धनजय नाममालामें है जो दक्षिण विशेषत कर्नाटकमें अति प्रसिद्ध है।

(२) इनका कुन्दकुन्दके ग्रन्थो तथा वटटकेरके मूलाचारसे साम्य है जो दक्षिण विशेषत कर्नाटकके आसपासके थे।

(३) सन्मतिके टीकाकार समति अथवा सन्मतिका पार्श्वनाथचरित्र तथा शिला लेखीय उल्लेख कर्नाटकम है।

(४) एक प्रबन्धमें इन्हें कर्नाटकीय दिवाकर ब्राह्मण कहा गया ह।

न्यायावतार सन्मतिसूत्रकारकी रचना नही है। इस विषयमें डॉ उपाध्येका कथन है–

(१) प्रबन्धोंसे हमें सन्मतिसूत्र तथा न्यायावतारके एककतत्वकी सूचना नहीं मिलती।

(२) हरिभद्रने अपने अष्टकमें न्यायावतारका रचयिता महामति बताया है। तथा पंचवस्तुमे सन्मतिकारको दिवाकर तथा श्रुतकेवली कहा है।

३ न्यायावतारकी तथाकथित हरिभद्रीय टीका उपलब्ध नही है। बृहद्टिप्पणिका में बतायी गयी इसकी श्लोकसख्या २ ७३ सिद्धर्षिकी विवृत्तिसे मिलती है।

४ न्यायावतारका चौथा व नवा श्लोक क्रमश हरिभद्रके षडदर्शनसमुच्चय तथा स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डश्रावकाचारसे लिये गये हैं। और इस तरह न्यायावतार द्वात्रिंशिकाके रूपमें परिगणित नही हो सकता।

५ सर्वप्रथम सिद्धर्षि (११ वी शताब्दी)ने न्यायावतारको दिवाकरकी कृति कहा है।

६ इस पर पात्रस्वामीका प्रभाव है।

इस प्रकार उपाध्येजीके अनुसार न्यायावतार व सन्मतिसूत्र भिन्नकर्तृक हैं। सन्मतिसत्रके रचयिता यापनीय सम्प्रदायके थे।

उक्त दोनो विद्वानोंके तर्क और निष्कर्ष देखत हुए हम भी इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सन्मतितर्कके आधारपर ही सिद्धसेनके सम्प्रदायका विचार करना योग्य है। सन्मतिसूत्र प्राचीन ग्रन्थ है तथा न्यायावतार उस समयकी रचना है जब जैन आचार्योंने प्राकृतके स्थानपर सस्कृत भाषाका माध्यम स्वीकार कर लिया था।

स्व मुख्तारजीने सन्मतिकार सिद्धसेनको दिगम्बर माननेमें जो तर्क प्रस्तुत किया है वह है हरिवंशपुराणकार जिनसेन तथा आचार्य रविषेण द्वारा सिद्धसेनका अपनी गुर्वावलीम उल्लेख। पर इस आधारपर हम सिद्धसेनको दिगम्बर आचार्य नहीं कह सकते क्योंकि आचार्य जिनसेन द्वारा उल्लिखित सिद्धसेनके गुरु हैं अभयसेन तथा रविषेण द्वारा उल्लिखित दिवाकर यतिके गुरु इन्द्र हैं। इस प्रकार य दोनों सिद्धसेन भी एक नहीं है। दूसरे हरिवंशपुराण तथा पद्मचरित स्वय भी यापनीय कृतियाँ हैं जिसका विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है।

मुख्तारजीके अनुसार सन्मतिसूत्रका अभेदवाद युगपद्वादके करीब है जिसके बीज आचार्य कुन्दकुन्दके साहित्यम मिलते हैं यह सत्य है तथापि इस अभेदवादके आधारपर इन्हें दिगम्बर या यापनीय नही कहा सकता क्योंकि यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधना आदिमें भी युगपद्वादका उल्लेख है। अत अभेदवाद इनकी मौलिक मान्यता है। परन्तु अन्य अनेक कारणोसे सन्मतिसूत्र यापनीय ग्रन्थ प्रतीत होता है। वे कारण इस प्रकार हैं–

(१) सन्मतिसूत्रका श्वेताम्बर ग्रन्थोमें भी आदरपूर्वक उल्लेख है। जीतकल्पचूर्णि में सन्मतिसत्रको सिद्धिविनिश्चयके समान प्रभावक ग्रन्थ कहा गया है। सिद्धिविनिश्चय भी सभवत यापनीय शिवार्यकृत ग्रन्थ है क्योंकि शाकटायन व्याकरणमें शिवार्यकृत सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थका उल्लेख है।[२] निशीथचूर्णिमें भी इसी प्रकार सिद्धिनिनिश्चय सन्मति आदिका दर्शन प्रभावक ग्रन्थके रूपमें उल्लेख है और यापनीय साहित्य यापनीय नामसे नही अपितु जैनसिद्धान्त ग्रन्थोके रूपमें दोनो सम्प्रदायोंमें मान्य रहा है।

(२) सन्मतिसूत्रसे सिद्धसेन अर्द्धमागधीमें सकलित आगमको मानने वाली परम्पराके प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ–सन्मतिसत्रके प्रथम काण्डकी उन्चासवीं गाथा मे स्थानांगसूत्रका उद्धरण है—

> एवं एगे आया एगे दंडे य होई किरिया य।
> करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धि वि अविरुद्धा ॥१/४९

अर्थात् ससारी जीवके जीव और देह दूध और पानीकी तरह अन्योन्य मिलित हैं इसलिये देहगत पर्याय पुद्गलके अतिरिक्त जीवके भी ह और जीवगत पर्याय देह

---

१ देखिये दसरे परिच्छेदमें पुन्नाटसंघ तथा तीसरेमें आचार्य रविषेण।

२ आ अकलकदेवका भी एक सिद्धिविनिश्चय है उसका भी यहाँ उल्लेख सभव है। शाकटायन व्याकरण (प ९४) में शिवार्यकृत सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख है। प्रेमीजीकी सूचनाक अनुसार मुनि पुन्यविजयको प्राप्त स्त्रीमुक्तिप्रकरणकी खडित टीकामें शिवस्वामीके सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थका उद्धरण है। (जैन साहित्य और इतिहास पृ २५८)

के भी है। जीव और पद्गलबन्धकी ओतप्रोतताके कारण ही ऐसे शास्त्रीय व्यवहार किये जाते है— एगे आया आदि। ये उद्धरण स्थानांगसूत्रसे लिये गये हैं। वहाँ यह कथन इस प्रकार है।

एगे आया।
एगे दडे
एगा किरिया॥

सन्मतिसूत्रके अध्ययनसे यह स्पष्ट मालम होता है कि उन्होंने संकलित आगमको आधार बनाकर ही सन्मतिसूत्रकी रचना की है। उदाहरणाथ अभदवादके सिद्धान्तका प्रतिपादन ही दृष्टव्य है।

सन्मतिसूत्रकार अभेदवादका प्रतिपादन करते समय क्रमवादका खण्डन करते हैं। व कहते हैं कि जिस समय केवली जानता है उस समय देखता नही है ऐसा सूत्रका अवलम्बन करने वाले कुछ आचार्य कहत हैं। ये आचार्य तीर्थंकरोंकी आशातनासे डरने वाले हैं।

केई भणति जइया जाणइ तइया न पासइ (जिणो) त्ति।
सुत्तमवलम्बमाणा तित्थयरासायणाभीरू॥ २/४

यदि ग्रन्थकार दिगम्बर होते तो उन्हें क्रमवादका खडन करते समय आचार्योंको सूत्रावलम्बी तथा तीर्थंङकराशातनाभीरू कहनको आवश्यकता नही होती क्योंकि व क्रमवादके समथक आगमोको नही मानते। सकलित आगमग्र थोको प्रमाण मानने वाले के लिये ही किसी सूत्रको न मानना तीथङ्कराशातनाभीरू कहना यही व्यक्त करता है कि वे भी सूत्रोको प्रामाणिक मानने वाली परम्पराके हैं।

अभेदवादकी सिद्धिसे आगम—सूत्र अप्रामाणिक हो जायेंगे इस बातको समझकर उन्होन आगमका उद्धरण देते हुये ही अभदवादकी सिद्धि की है। आगकी गाथाम आगम कथित अन्य सत्रका उल्लेख करते हैं कि आगमम ही केवलज्ञान-दर्शनको सादि—अपर्यवसित कहा गया है।[३] यदि सत्रोको आशातनाके भयके कारण ही क्रमवादको नहीं मानते हो तो सूत्रोंम ही केवल ज्ञान दर्शनको सादि अपयवसित भी कहा ह अत उसे यदि मानोग तो कैसे क्रमवाद सिद्ध होगा ?

सुत्तम्मि चेव साई -अपज्जवसिय ति केवलं वुत्तं।
सुत्तासायणाभीरूहि त च दट्ठव्वय होइ।

१ स्थानागसूत्र—२ ३ ४
२ भगवती सूत्र १८/८/१८१ में क्रमवादका वर्णन इस प्रकार है—
केवली णं मणस्से परमाणपोग्गलं ज समय जाणति नो त समयं पासति ।
३ भगवतिसूत्र ८/२/१९७ में केवलज्ञान-दशनको सादि अपर्यवसित कहा गया है।
४ सन्मतिसूत्र २/७।

सूत्र-विरोधको दूर करनेके लिये ही वे कहते हैं कि सब अर्थका स्थान है। सूत्रकी ज्ञान प्राप्तकर उसका अर्थ निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये—

सुत्तं अत्थनियेणं ण सुत्तमेत्तण अत्थपडिवत्ती।
अत्थगई उण णयवा यगहणलीला दुरभिगम्मा॥
तम्हा अहिगयसुत्त ण अ थसपायणम्मि जइयव्व।
आयरियधीरहत्था हृदि महाण विलबेंति॥[1]

शास्त्रमें प्रतीत होने वाले विरोध-परिहारका भी प्रयास किया है —

ताई अपज्जवसिय ति दो वि ते ससमयओ हवइ एवं।
परतित्थवत्तव्व च सगसमयततरुप्पाओ॥[2]

शास्त्रमें सादि अपयवसिन केवलज्ञानको ही स्वसमय कहा गया है। एक समयके अतरसे उत्पन्न ज्ञान-दर्शनके क्रमवा को परतीर्थ-वक्तव्य अर्थात् परसमयके रूपमें उल्लिखित मानी है।

शास्त्रके विरोध-परिहारका यह प्रयास ही उनकी सूत्रोंको प्रामाणिक मानने की सभावनाको दृढ़ करता है

(३) गुणापर्ययिका विचार करत समय एकगुणकालक दशगुणकालक इत्यादिका जो निर्देश किया है वहाँ इवे आगमोका स्पष्ट उ लेख किया है।

जं च पुण अरहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईण।
पज्जवसण्णा णियमा वागरिया तेण पज्जाया॥[3]
जपंति अत्थि समय एगगुणो दसगुणो अणतगुणो।
रूवाई परिणामो भण्णइ तम्हा गुणविससो॥[4]

(४) यापनीय ग्रन्थ मलाचारसे स मतितककी गाथाओमें साम्य है।[5]

(५) मदनूर (जिला ने लोर) से प्राप्त सस्कृत शिलालेखमे उ लेख है कि कोटि मडुवगणमें मुख्य पुण्यार्हनन्दिगच्छमें गणधरके सदृश जिननन्दि मुनीश्वर हुए उनके शिष्य पृथ्वीपर विख्यात केवलज्ञाननिधिके धारक गुणोंके कारण स्वयं जिनेन्द्रके सदृश दिवाकर नाम मुनिपु गव हुये। ध्यान रहे कोटिमड्डवगण यापनीय सघकी शाखा है।

यदि यही दिवाकर सिद्धसेन दिवाकर हैं तो उनके यापनीय होनेका निश्चित प्रमाण मिल जाता है। वैसे भी उनके स मतिप्रकरणसे इतना निश्चित है कि वे आगम को प्रमाण मानने वाले तो थे किन्तु स्वतत्र विचारक भी थे।

---

१ सन्मतिसूत्र ३/६४ ५।   २ सन्मतिसूत्र २/३१।
३ स मतिसूत्र ३/११।   ४ सन्मतिसूत्र ३/१३।
५ डॉ ए एन उपाध्येने अपनी पुस्तक सिद्धसेनाज "यायावतार एड अदर वर्क्स" की प्रस्तावनामें इनकी सूची दी है।

ध्यातव्य है कि अन्य यापनीय आचार्योंकी भाति उन्होंने भी अपने संघ आदिका विवरण नही दिया है ।

●

आचार्य रविषेण

आचार्य रविषण भी कई कारणोंसे यापनीय प्रतीत होते है । प्राय यापनीय आचार्योंन अपने सघ आदिका उल्लेख नही किया ह । आचार्य रविषेणने भी इस परम्पराका पालन किया है । गुरुपरम्परा देते हुए भी व संघादिके उल्लेखसे बचे हैं ।

स्वय आचार्य रविषेणके अनुसार उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—इन्द्र दिवाकरयति अर्ह मुनि लक्ष्मणसेन व रविषेण। शाकटायनसूत्रमें भी इन्द्रका उल्लेख है । शकटायन सूत्र यापनीय ग्रथ माना जा चुका है । गोम्मटसारमें इन्द्रको सशयी बताया गया है ।

एयत बुद्धदरसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ ।
इदो वि य ससइयो मक्कडियो चव अण्णाणी ॥ ।[३]

टीकाकार ने इन्द्रको श्वेताम्बर गरु बताया है । इस विषयमें प्रेमीजीका कथन है कि इन्द्र नामके श्वेताम्बराचार्यका अभी तक कोई उल्लेख नही मिला । बहुत सभव है कि वे यापनीय ही हो और श्वेताम्बरतुल्य होनेसे श्वेताम्बर कह दिय गये हो । द्विकोटि गत ज्ञानको सशय कहत ह जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमे घटित नही हो सकता । परन्तु यापनीयोको कुछ श्वेताम्बर तथा कुछ दिगम्बर होनेके कारण शायद संशयमिथ्या दष्टि कह दिया गया हो । बहुत सभव है कि शाकटायनसूत्रकारने इन्हीं इन्द्र गुरुका उल्लेख किया हो ।

इन्द्र और दिवाकरयति यदि यापनीय हो तो रविषण भी यापनीय ही होने चाहिये । यदि यह दिवाकर यति सन्मतिकार हैं तो उनका यापनीय होना निश्चित है ।

आचार्य रविषणने अपनी कथाके स्रोतके विषयमें लिखा है—वर्द्धमान जिनेन्द्र द्वारा कथित यह कथा इन्द्रभूति गौतमको प्राप्त हुई फिर क्रमसे धारिणीपुत्र सुधर्माको और

१ पद्मचरित १/६९—
आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयति शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि ।
तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरद शिष्यो रविस्तत्स्मृत ॥
२ शाकटायन व्याकरण श्लोक न १ ।
३ गोम्मटसार जीवकाण्ड गा १६ ।
४ जैन साहित्य और इतिहास द्वितीय संस्करण पृ १६७ ।

फिर उनसे प्रभवस्वामीको प्राप्त हुई । इसके पश्चात् अनुत्तरवाग्मी कीर्ति द्वारा लिखित कथा प्राप्त करके रविषणने यह प्रयत्न किया ।

ध्यातव्य है कि जम्बूस्वामीके पश्चात्से जैन सम्प्रदायकी दो धारायें प्राप्त होती हैं । दिगम्बर परम्परा आचार्य विष्णुको तथा श्वेताम्बर परम्परा आचार्य प्रभव स्वामी को जम्बूस्वामीका उत्तराधिकारी मानती है । रविषण द्वारा सुधर्माके पश्चात् प्रभवस्वामी का उल्लेख य दिगम्बर परम्पराके नही थे यह माननके लिये पर्याप्त प्रमाण है ।

रामकथाकी दो धारायें जैन-साहित्यमें मिलती हैं । एक धारा वह जो गुणभद्रके उत्तरपुराणमें मिलती है उसकी भी पूर्व परम्परा थी । परवर्ती कालमें पुष्पदंतने अपभ्रंशमें इस कथाको गूथा है ।

दूसरी कथाधारा विमलसूरिके पउमचरिय पद्मचरित तथा स्वयंभूके पउमच रिउम है ।[३] यही हेमचन्द्रके त्रिशष्टिशलाकापुरुषमे भी है ।

रविषण द्वारा दिगम्बर परम्पराम प्रचलित गुणभद्र वाली कथाको न अपनाकर विमलसूरिकी कथाको अपनाना भी उन्ह दिगम्बर भिन्न परम्पराका द्योतित करता है । यद्यपि आचार्य गुणभद्रका समय आचार्य रविषेणसे परवर्ती है । परन्तु गुणभद्र

---

१ पद्मचरित १/४१ ४२ व पर्व १२३/१६६

वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्त सोऽयमर्थो गणेश्वर ।
इन्द्रभूतिं परिप्राप्त सुधर्मं धारिणीभवम् ॥
प्रभव क्रमत कीर्तिं ततोनुत्तरवाग्मिनं ।
लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नोयमुद्गत ॥

२ आदिपुराणमें आचार्य जिनसेनने अपनी कथाको कविपरमेश्वरकी गद्यकथाके आधारसे लिखा बताया है । चामुण्डरायने भी अपने कन्नडमें लिखित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणमें इन चरित्रोंको कूचि भट्टारक नन्दिमुनीश्वर कविपरमेश्वर जिनसेन गुणभद्रके द्वारा क्रमश लिखा गया बताया है ।

३ दिगम्बर परम्परामें सर्वत्र नव बलदेव बलरामको पद्म कहा गया है न कि आठव बलभद्र रामको । उत्तरपुराणका श्लोक दृष्टव्य है—

रोहिण्या पुण्यभाक्पद्मनामासौ समजायत ।
प्रतोषं बन्धुवगष वर्धयन्नवमो बल ॥ ७ /३१९ ।

विशेषके लिए देखिए इसी परिच्छेदमे स्वयभूका सम्प्रदाय ।

४ आचार्य रविषण तथा गुणभद्रके समयके लिये देखिये—प्रेमीजी लिखित जैन साहित्य और इतिहासमें पद्मचरित तथा पउमचरिय एवं वीरसेन जिनसेन व गुणभद्र ।

की कथाकी एक पूर्वपरम्परा थी यह बात चामुण्डराय लिखित चामुण्डरायपुराण (त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण) से मालम होती है।

रविषणकी कथाको यापनीय स्वयभ द्वारा अपनाया जाना भी रविषणको यापनीय माननेका एक महत्त्वपूर्ण कारण ह। स्वयभने रामकथाकी परम्पराको वर्धमान इन्द्रभूति सुधर्मा प्रभव अनत्तरवाग्मी कीर्ति तथा रविषणसे क्रमश प्राप्त बताया है। रविषेण के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए कहा है—आचार्य रविषणके प्रसादसे प्राप्त कथा सरितामें कवि ाजने अपनी बद्धिसे अवगाहन किया है।

पद्मचरितम प्रभव स्वामीका उल्लेख तथा स्वयभ द्वारा आदरपूर्वक रविषेणके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन दोनों तथ्य रविषणको यापनीय माननको प्रेरित करते हैं।

रविषेणकी कथा पउमचरियकी कथा पर आधारित है तथापि रविषणने विमल सूरि अथवा पउमचरियका नामो लेख न करके अनुत्तरवाग्मी कीर्तिके लिखित प्रयत्नका उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विमलसरिके श्वेताम्बर होनेके कारण रविषणने उनका उ लेख नही किया है। विमलसरि श्वेताम्बर परम्पराके थ इसे हमने अन्यत्र प्रदर्शित किया है।

रविषणके कई उ लेख दिग बर परम्पराके विपरीत ह। ग धव देवोको मद्यपी[२] तथा यक्ष राक्षसादिकोको कवलाहारी मानना[३] दिगम्बर परम्प ाके विपरीत ह।

दिगम्बर परम्पराके अनुसार १२ व से १६ व स्वर्गके देव प्रथम नरकके चित्रा भागसे आग नही जाते। पर तु पदमचरितम सोलहव स्वर्गके प्रतीन्द्रके रूपमे ज मे सीताके जीवका रावणको सबोधित करनेके लिय नरकगमन बताया गया है।[५]

पद्मचरितम यह उ लेख है कि भरतचक्रवर्ती मनियोके निमित्तसे बने आहार को लेकर समवशरण पहुँचे और मनियोसे आहारके लिये प्राथना करने लगे। तब भगवान ऋषभदेवने बताया कि मुनि उद्दिष्ट भोजन नही करत और न आहारकी

---

१ क्या विमलसूरि यानीय थ? लेख महावीरस्मारिका जयपुर १९७७।

२ पद्मचरित १७/२६८—प्रमोदवानसौ मद्यं पीतवान सुमहागुणम्।

३ पद्मचरित १४ २७१

डाकिनी प्रतभूतादिकुत्सितप्राणिभि सम।
भुक्त तेन भवेद्येन क्रियते रात्रिभोजनम॥

४ धवला पुस्तक ४ प १२३ ९।

५ पद्मचरित पर्व १२३।

ऐसी रीति है ।[1] यह उल्लेख भी दिगम्बर परम्पराके विपरीत है ।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक बातें है जो गुणभद्रकी कथाके विपरीत हैं ।

१ सगर चक्रवर्तीके पूर्वभव तथा उनके पुत्रोंका नागकुमार देवके कोपसे भस्म होना ।

(२) हरिषेण चक्रवर्तीकी मोक्षगति ।[2]

(३) मघवा चक्रवर्तीको सौधर्म स्वर्गकी प्राप्ति तथा चक्री सनत्कुमारको तीसरे स्वर्गकी प्राप्ति ।

(४) भगवान महावीर द्वारा सौधर्मेन्द्रका शका निवारणार्थ पादागुष्ठसे मेरुको कम्पित करना ।[3]

(५) राम और कृष्णके बीच ६४ हजार वर्षोंका अन्तर । ये अनेक कारण रविषेण के दिगम्बर आचार्य होनेमे शंका उपस्थित करते हैं ।

हरिवंशपुराण की परम्परा

हरिवशपुराणके रचयिता जिनसेन तथा हरिषेण दोनोने अपनेको पुन्नाटसंघी कहा है । दोनोने अपने ग्रन्थकी रचना वर्द्धमानपुरमे की है । हरिवशपुराणमें तीर्थङ्कर नेमिनाथके हरिवशके वर्णनके प्रसगम सभी शलाकापुरुषोका वर्णन कर दिया गया है ।

कथाकोशकार हरिषेणने स्त्रीमुक्ति एव गृहस्थमुक्तिका स्पष्ट उल्लेख किया है । अत वे यापनीय होने चाहिए । इसके अतिरिक्त उसकी रचना यापनीय भगवती आराधनाके आधार पर हुई है । हरिवशपुराणकार भी पुन्नाटसघी है अत इन्हें भी यापनीय ही होना चाहिए ।

हरिवशपुराणकी भी कुछ बात विचारणीय हैं—

१ राजा जितशत्रुकी भगवान् महावीरसे अपनी पुत्री यशोदयाके विवाहकी उत्सुकता—

> यशोदयाया सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमंगलम् ।
> अनेककन्यापवरिवारयारुहत्समीक्षितु तु गमनोरथ तदा ॥ ६६/८ ॥

श्वेताम्बर-परम्परामें भगवान् महावीरके विवाहकी कथा मिलती है ।

---

१ पद्मचरित ४/९१ ।

२ पद्मचरित पर्व ८ ।

३ पद्मचरित २/७६ ।

४ हरिवंशपुराण ६६/५३-४ व कथाकोश प्रशस्तिपद्य ३-४

२ नन्दिषेण मुनिका रोगी मुनिको गोचरी बेलामें सिद्धियोके बलसे इच्छित आहार प्राप्त करना। नन्दिषण मुनिके वयावृत्यकी यह कथा श्वेताम्बर कथाग्रथ आख्यानकमणिकोशके शौरी आख्यानमें प्राप्त होती है। दो देव परीक्षाके लिए साध का वेश रखकर नन्दिषेण मुनिके पास आते ह उनके दुर्व्यवहार करनेपर भी नन्दि षेण मुनि इच्छित आहार व औषधिसे उनकी वयावृत्य करत ह। मुनिके द्वारा मुनिके इस वयावृत्यका कुछ समर्थन भगवती आराधनासे होता ह[३] जहाँ मुनि द्वारा रुग्ण ग्लान साधके लिए आहार-पानक लानेका विधान ह।

३ पद्मचरितकी भाति यहाँ भी तीथङ्करोके गभक-याणकम देवोंके आगमनका वर्णन नही है। यह यापनीय मा-यता है।

४ ब्रह्मस्वर्गसे बलदेवका जीव श्रीकृष्णके जीवको नरकसे लेन जाता है। उस समय श्रीकृष्णका जीव भरतक्षेत्रम बलदेव व श्रीकृष्णकी मर्ति-पूजाका प्रचार करनेके लिए कहता है। और बलदेवका जीव वही करता ह। श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों सम्यग्दष्टि जीव थे उनके द्वारा मिथ्या-वका प्रचार विचारणीय है।

५ दो स्थानोपर अन्त्यदेह कहकर उनकी मोक्षगति तथा एक स्थान पर स्वर्गगति[६] कही गई है। दिगम्बर परम्परामे तिलोयपण्णत्ति व त्रिलोकसारमे उनकी नरक गति मानी गई है।

परन्तु हरिवशपुराणम प्रथम व अन्तिम सगमे जो आचार्य परम्परा दी गई है उसमें विष्णु नन्दिमित्र अपराजित गोवर्द्धन तथा भद्रबाहु इस परम्पराका उल्लेख है जबकि रविषण तथा स्वयभू प्रभवका उल्लेख करत हैं। इसम चार आचाराग धारियोंका वर्णन ह जबकि यापनीय ११ अगोका अस्तित्व मानत हं।

---

१ वही १८/१५७-१६७ तथा महालब्धिमस्तस्य वयावृत्योपयोगि यत।
   वस्तु तच्चिन्तित हस्त भषजाद्याशु जायते ॥१८/१३८॥
२ आख्यानक मणिकोश प ७१।
३ भगवती आराधना गाथा ६६/१३।
४ हरिवशपुराण ६५/४१ ५६।
५ वही ४२/२२ (अन्त्यदह) ६५/२४।
६ वही १७/१६३।
७ कलहप्पिया कदाइ धम्मरया वासुदेवसमकाला।
   भव्वा णिरयगदिं ते हिंसादोसेण गच्छति ॥ त्रिलोकसार गाथा ८३५
   रुद्दावइ अइरुद्दा पावणिहाणा हवामि सव्वे मे।
   कलहमहा जुज्झपिया अधोगया वासुदेवव्व ॥

यापनीय साहित्यके दिगम्बर साहित्यमें अन्तर्भुक्त हो जानेके बाद दिगम्बरों द्वारा उसमें प्रक्षेपण संशोधन हुए हैं जिसका प्रमाण है कि विजयोदया टीकाके भगवती आराधना के वर्तमान स्वरूपसे मिलान करने पर स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। और फिर यह आचार्यपरम्परा इस ग्रंथमे प्रथम सर्ग (५६ ६५) साठवें सर्ग (४७९ ४८२) तथा ६६ व सर्ग (२२ २३) में तीन बार दी है। यह पुनरुक्ति अवसर मिलती ही प्रक्षेपांशको सम्मिलित करनेके कारण ही हो सकती है।

विचार करनेपर इनके यापनीय होनेकी ही सभावना प्रबल है।

आचार्य हरिषेणका बृहत्कथाकोश यापनीय ग्रथ है

पुन्नाटसंघी हरिषेणका आराधनाकथाकोश उपलब्ध कथाकोशोंमें सबसे प्राचीन है। इसका रचनाकाल वि स ९८९ और श्लोकसख्या १२५ है। अ य कथा कोशोंकी अपेक्षा बडा होनेसे इसे बृहत् कहा जाने लगा। स्वय हरिषणने इसे कथाकोश ही कहा है। इसमे कुल मिलाकर एक सौ सत्तावन कथाए हैं।

इस कथाकोशके कुछ श्लोक विचारणीय हैं—

एवं करोति यो भक्त्या नरो रामा महीतल।
लभते केवलज्ञानं मोक्षं च क्रमत स्वयम् ॥ ५७/२३५ ॥

यहाँ स्पष्ट रूपसे स्त्रीमक्तिका कथन है।

इसी कथामें गृहस्थमुक्तिका भी कथन है—

अणुव्रतधर कश्चित् गुणशिक्षाव्रतान्वित ।
सिद्धभक्तो व्रजेत् सिद्धि मौनव्रतसमन्वित ॥ ५७/५६७ ॥

स्त्रीके तीर्थङ्कर-नामगोत्रके बधका भी कथन है—

बद्ध्वा तीथङ्कर गोत्रं तप शुद्ध विधाय च।
रुक्मिणी स्त्रीत्वमादाय दिवि जातो सुरो महान् ॥ १ ८/१२५ ॥

इसी कथाकोशके ही एणिकापुत्र कथानकमें मुनि एणिकापुत्रके गगापार करते समय समाधिमरण करके मोक्ष जानका वणन है—

गंगानदीजलान्तेऽसौ नौर्निमग्ना निमूलत ।
समाधिमरण प्राप्य त्रिर्वाणमगमत् सक ॥ १३ /९

अग्निकापुत्रके नामसे यह कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमे प्रसिद्ध है।[1] मुनिद्वारा नावसे गंगा पार करना दिगम्बर परम्पराको स्वीकृत नही हो सकता। इसी प्रकार कथाकोशमें आई मेतार्य (मेदज्ज) की कथा भी दिगम्बर परम्परामें प्रचलित नहीं है।

---

१ भगवती आराधनामें यह उल्लेख है—णावाए णिब्बुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणमदी। आराधणं पवण्णो कालगदो एणियापुत्तो ॥ गा १५४३

उक्त उदाहरण दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल हैं तथा पुन्नाट संघ ही यापनीय संघ अथवा उसकी कोई शाखा होगी यह माननेके लिए प्रमाण हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल है। भद्रबाहुकी कथामें कहा गया है कि भद्रबाहुने बारह वर्षोंके घोर दुर्भिक्ष पड़नेका भविष्य जानकर अपने तमाम शिष्योंको अन्यत्र लवणसमुद्रके समीप जानेको कहा और अपनी आयु क्षीण जानकर वे स्वय वहीं रह गये। और वहाँ श्रीमद् उज्जयिनीभव भाद्रपद देशमें अनशन करके समाधिमरण किया तथा स्वर्ग प्राप्त किया।

भद्रबाहुमुनिर्धीरो भयसप्तकवर्जित।
पपाक्षुधाश्रम तीव्र जिगाय सहसोत्थितम्॥
प्राप्य भाद्रपद देश श्रीमदुज्जयिनीभवम्
चकारानशन धीर स दिनानि बहून्यलम्॥
आराधना समाराध्य विधिना स चतुर्विधाम्
समाधिमरण प्राप्य भद्रबाहुर्दिव ययौ॥ १३१/४२४॥

यह कथा श्वेताम्बर कथासे मिलती है जिसमें भद्रबाहुके दुर्भिक्षके समय नेपाल की तराईमे महाप्राण ध्यान करनेका उल्लेख है। नेपालके मानचित्रमे पूर्वमें असमकी सीमाके समीप भद्रपुर दिखाई देता है।

भगवती आराधनामे भी भद्रबाहुके अवमौदय तप द्वारा मरणका कथन है।
ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिटठमदी।
घोराए तिगिंछाए पडिव णो उत्तम ठाण॥ गा १५४४

इसी कथामें चन्द्रगुप्तका दूसरा नाम विशाखाचार्य बताया गया है। और इन्हींके नेतृत्वमे संघके दक्षिणदेशमें पुन्नाट राज्यमें पहुँचनेका उल्लेख है।

दिगम्बर परम्पराम चन्द्रगुप्तका अपरनाम प्रभाचन्द्र माना गया है। विशाखाचार्य उसी सघमे दूसरे आचार्य थे। संघ स्वय भद्रबाहुके नेतृत्वमें दक्षिणापथकी ओर गया था। भद्रबाहुका समाधिमरण चन्द्रगिरि पर्वतपर हुआ था।

भद्रबाहुकी कथाका यह भेद भी बृहत्कथाकोशकारके यापनीय होनेकी ओर संकेत कर रहा है।

भगवती आराधना यापनीय ग्रंथ है। इस ग्रन्थमे अनेक आराधकोंकी कथाओंके संकेत हैं। कथाकोशमे उन्हीं पर कथाए लिखी गयी हैं। कथाकोशकारने स्वयं इसे आराधनोद्धृत कहा है—

आराधनोद्धृत पथ्यो भव्याना भावितात्मनाम्।
हरिषेणकृतो भाति कथाकोशो महीतले॥—प्रशस्तिपद्य ८।

यापनीय ग्रन्थके आधारपर इसकी निर्मिति भी यापनीयताकी ओर संकेत करती है। स्त्रीमुक्ति तथा गृहस्थमुक्ति जैसे सिद्धान्तोंका समर्थन तो पुन्नाटसंघके यापनीय होनेका सबल प्रमाण है।

इस संभावनामें बाधक हो सकती है स्वयं बृहत्कथाकोशकी भद्रबाहुकी कथा जिसके अनुसार दुर्भिक्षके समय सिन्धदेश गये हुए मुनियोमें शिथिलता आ गयी थी। ये शिथिलाचारी अर्द्धफालक संघके साधु कहलाते थे। वलभी-नरेश वप्रवादकी आज्ञासे अर्द्धफालक सम्प्रदायसे काम्बलतीर्थकी उत्पत्ति हुई तथा काम्बल अथवा काम्बलिक-तीर्थसे दक्षिण देशमें स्थित सावलिपत्तनमें यापनीय संघ उत्पन्न हुआ—

लाटाना प्रीतिचित्ताना ततस्तद्दिवस प्रति।
बभूव काम्बल तीर्थं वप्रवादनृपाज्ञया ॥
तत काम्बलिकात्तीर्थान्नून सावलिपत्तने।
दक्षिणापथदेशस्थे जातो यापनसघक ॥ —भद्रबाहुकथा सख्या १३१

ये भद्रबाहुकथाके अन्तिम श्लोक हैं। इस अंशको पढनेसे प्रतीत होता है कि अर्द्धफालक सम्प्रदायसे काम्बलतीर्थकी उत्पत्ति बताकर यह कथा समाप्त हो गई है। समाप्त कथामें एक श्लोक जोडकर यापनीयोंकी उत्पत्तिका कथन प्रक्षिप्त लगता है क्योंकि जब हरिषेणने काम्बलतीर्थकी उत्पत्तिकी कथा अनेक पद्योंमें विस्तारसे दी है तो यापनीयोकी उत्पत्तिकी कथा भी विस्तारसे दी जानी चाहिए थी। अन्तिम श्लोक यापनीयविरोधी व्यक्ति द्वारा जोडा हुआ प्रतीत होता है अपने कथनको वजन देनेके लिए नून शब्द जोडा गया है। हरिषेणको यापनीय माननेके लिए स्त्रीमुक्ति तथा गृहस्थमुक्तिके उल्लेख प्रबल प्रमाण हैं। और इसी कारण पुन्नाटसघीय होनेसे जिनसेन भी यापनीय प्रतीत होते हैं।

स्वयभूका सम्प्रदाय

महाकवि स्वयभूने अपभ्रंशको स्थायी गौरवके आसन पर अधिष्ठित किया है। स्वयभूकी तीन कृतिया पउमचरिउ रिट्ठणेमिचरिउ एवं स्वयभूछन्द उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त पउमचरिउकी प्रशस्तिमें सिरिपचमी तथा रिट्ठणेमिचरिउ में सुद्धयचरिउ का उल्लेख भी मिलता है।

स्वयंभूने स्वयं अपने सम्प्रदायका कोई उल्लेख नहीं किया है। पुष्पदन्तके महापुराणके टिप्पणमें स्वयभूको आपुलीसघीय बताया गया है।[1] इससे ये यापनीय मालूम पडते हैं।

---

१ महापुराण पुष्पदन्त १ ९ ५ का टिप्पण 'स्वयभू पार्श्वबद्ध रामायणकर्ता आपुली-संघीय।

प्रेमीजीने भी इन्हें यापनीय माना है।[1] श्री एच सी भायाणी भी यही लिखते हैं कि यद्यपि इस सन्दर्भमें हमें स्वयंभू की ओरसे कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष वक्तव्य नहीं मिलता है परन्तु यापनीय सग्रन्थ अवस्था तथा परशासनसे भी मुक्ति स्वीकार करते थे और स्वयभू अपेक्षाकृत अधिक उदारचेता थे अत इन्हे यापनीय माना जा सकता है।[2]

स्वयभूके सम्प्रदायके विषयमें डॉ सकटाप्रसाद उपाध्यायका कथन ह कि अधिक निश्चित जानकारीके अभावमें चाहे स्वयंभके यापनीयसघीय होनेके विषयमें कोई अतिम निर्णय न हो सके पर अन्त साक्ष्योंके आधारपर उन्हें दिगम्बर सम्प्रदायका माननेमें कोई आपत्ति नही होनी चाहिय।[3]

हमारी दृष्टिसे महाकवि पुष्पदन्तके महापुराणके टीकाकारने जिस परम्पराके आधारपर इन्हें आपुलीसघीय कहा है वह परम्परा वास्तविक होनी चाहिये। साथ ही अनेक तथ्योंसे इनके यापनीय होनका समर्थन होता है।

(१) दिगम्बर परम्परामे रामको आठवा तथा पद्मको नवां बलदेव माना गया है। उदाहरणार्थ तिलोयपण्णत्ती[4] त्रिलोकसार[5] उत्तरपुराण[6] आदि ग्रन्थोंमें रामको आठवां तथा पद्मको नवा बलदेव कहा गया ह। उसके विपरीत श्वताम्बर परम्परामे पद्म आठव तथा राम नवें बलदेव हैं। समवायसत्र अभिधानचिंतामणि[7] विचारसार

---

१ जैन साहित्य और इतिहास प्रेमीजी पृ १९८।

२ डॉ एच सी भायाणी कृत पउमचरिउ की भूमिका प १३५।

३ संकटाप्रसाद उपाध्याय कृत महाकवि स्वयभ पृ २१ भारत प्रकाशन मंदिर अलीगढ १९६९।

४ तिलोयपण्णत्ती अधिकार ४ गाथा १४११।
विजयो अचलो धम्मो सप्पहू णामो सुदसणो णंदी।
णंदिमित्तो य रामो पउमो णव होंति बलदेवा॥

५ त्रिलोकसार गाथा ८२७।

६ उत्तरपुराण में ५७ वें पवमें विजय ५८ वेंमे अचल ५९ वमे धर्म ६ वमें सुप्रभ ६२वेम अपराजित ६५वेंमें नन्दिषण ६६वेंमें नन्दिमित्र ६७ में राम और ७१वेंमे बलदेव इन बलभद्रोंके वर्णन है।

७ हेमचन्द्रकृत काण्ड ३ श्लोक ३६२।
अचलो विजयो भद्र सुप्रभश्च सुदर्शन।
आनदो नन्दन पद्मो राम शुक्ला बलास्त्वमी॥

प्रकरण[1] तथा पउमचरिय[2] आदि ग्र थोंके उदाहरण किये जा सकते हैं ।

इस प्रकार रामका नाम पद्म दिगम्बर परम्परानुसारी नहीं है आचार्य रविषेण भी यापनीय आचार्य थे ऐसा हमारा विचार है ।[3]

(२) डॉ सकटाप्रसाद उपाध्यायके अनुसार रिटठणेमिचरिउमें उल्लेख है कि देवकीने क्रमसे भाईके चरम तीन युगलोंके रूपमें छह पुत्र उत्पन्न किये जिन्हें इन्द्र-की आज्ञासे नैगमदेव सुभद्रिल नगरके सुदृष्टि सेठके घर पहुँचाता रहा और मृत पुत्रोंको देवकीके पास छोडता रहा ।

यद्यपि यह उल्लेख आचार्य गुणभद्रने भी अपने उत्तरपुराणमें किया है—

त नगमर्षिणा नीत श्रेष्ठिन्या न्वलकाख्यया ।
वर्धिता देवदत्तश्च देवपालोऽनुजस्तत ॥ ७१ २९५ ।

तथापि हरिणगमेसि (नगमदेव) का यह उल्लेख श्वेताम्बर परम्पराके अनुरूप है । भगवान् महावीरका गर्भ देवानदा ब्राह्मणीकी कुक्षिसे माता त्रिशलाकी कुक्षिमें परिवर्तित करने वाला यही देवता है। यही यहाँ भी सतानप्रदाताके रूपम चित्रित ह । अतगडदसासूत्रमें नायगामेष सतानप्रदाता देवके रूपमें वर्णित है । इस ग्र थके तीसरे वर्गके आठवें अध्ययनमे जम्बूस्वामी और सुधर्मास्वामीके प्रश्नोत्तर द्वारा छह अनगार साधुओंका कथानक वर्णित है । ये छह अनगार साधु देवकीके पुत्र थे । हरिणगमेसीकी अनुकपासे नाथ गाथापतिकी पत्नी सुलसाको प्राप्त हुए थे । सुलसा सतानकामनाके वशीभूत होकर हरिणेगमेसी देवकी भक्त बन गयी । सुलसा की भक्तिभावनासे हरिणेगमेसी देव प्रसन्न हुआ । छह अनगार भक्तोंके सम्बन्धमें देवकी द्वारा उठाई गयी शकाका समाधान करत हुए आगे कहा गया है कि हरिणेग मेषी देव नाथ गाथापतिकी पत्नी पर अनुकम्पाके लिये उसके मृत पुत्रोंको तुम्हारे पास रख देता था और तुम्हार बालकोंको सुलसाके पास । इसलिये देवकी ये सभी पुत्र तुम्हारे ही हैं ।

डॉ कस्तूरचन्द्र जैनने जैन देवलोकका अस्तंगत नक्षत्र हरिणेगमेसि में इस पर

---

१ प्रद्युम्नसूरिकृत—गाथा ५६७

२ विमलसूरिकृत पउमचरिय पर्व ५ गाथा १५४

अयलो विजयो भटटो सुप्पभ सुदंसणो य नायव्वो ।

आणदो नदणो पउमो नवमो रामो य बलदेवो ॥

३ देखिए इसी परिच्छेदमें आचार्य रविषेण ।

४ अन्तगडदसाओ वर्ग ३ अध्ययन ९ ।

विस्तारसे विचार किया है। पुन्नाटसंघीय जिनसेनके हरिवंशपुराण तथा हरिषणके बृहत्कथाकोशमे भी नगमदेवका देवकीके पुत्रोके रक्षकके रूपमे उल्लेख है।[2]

(३) स्वयभूने वर्द्धमान मुख-कुहर विनिर्गत रामकथाके प्रसगमें कहा है कि इस सुन्दर रामकथारूपी नदीको गणधर देवोने बहते हुए देखा ह। पहले इन्द्रभति गौतमने देखा फिर गुणालकृत धर्माचार्यने फि ससारसे विरक्त प्रभवाचायने तदनन्तर अनुत्तरवाग्मी कीर्तिधरने। इसके पश्चात आचार्य रविषेणके प्रसादसे कविराजने इसमें अपनी बुद्धिसे अवगाहन किया—

एह रामकह-सरि सोहन्ती। गणहरदेवहि दिटठ वहन्ती
पच्छड इन्द्रभइ-आयरिए। पुणु धम्मेण गुणालकरिए॥
पुण पहवे संसारासाराए। कित्तिहरेण अणुत्तरवाए।
पुणु रविसेणायरियपसाएँ। बद्धिए अवगाहिय कइसए॥[3]

स्वयमू द्वारा प्रभवस्वामीका उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। जम्बूस्वामीके पश्चात् जैन सम्प्रदायकी दो धाराए प्राप्त होती हैं। आचार्य विष्णु दिगम्बर परम्पराके तथा आचाय प्रभव श्वताम्बर परम्पराके प्रमख व प्रथम श्रुतकेवली आचाय हैं। स्वयभका यह कथन न केवल उनके यापनीयत्वको पुष्ट करता है अपितु यापनीय प्रभवस्वामी की परम्पराके थे इस तथ्यको भी उद्घाटित करता है। यद्यपि प नाथूरामजी प्रेमीने जैन साहित्य और इतिहासमें रिटठणमिचरिउका अन्तिम अश प्रकाशित किया है इसमें हरिवश-कथाकी परम्परा वीरजिनश गौतम स्वामी-सुधर्मा जबूस्वामी विष्णुकुमार नदिमित्र-अपराजित-गोवद्ध न तथा सुभद्रबाहु इस प्रकार दी गई है पर स्मरणीय ह कि यह अश मुनि जसकित्ति द्वारा रचित है जिन्होने स्वय अपना उल्लेख किया ह।

(४) स्वयभूने अपने पउमचरिउम अनस्तमित भोजनका वर्णन करते हुए कहा है कि गंधर्व देव दिनके पूर्वमें सभी दव दिनके मध्यमे पिता पितामह दिनके अन्तमें तथा राक्षस भूत पिशाच और ग्रह रात्रिमें खात हैं।

यक्ष राक्षसादिकोका यह कवलाहार दिगम्बर परम्पराको इष्ट नही है उनके अनुसार देवताओका मानसिक अमृताहार होता है—दवेसु मणाहारो।

---

१ तुलसीप्रज्ञा अप्रैल-जून ७५ मे प्रकाशित।

२ हरिवशपुराण ३५/४ तथा बृहत्कथाकोश उग्रसेन वसिष्ठकथानक १ ६/२२५।

३ पउमचरिउ १/६ ९।

४ पउमचरिउ ३४ ८ ४ ५।

पुव्वण्णउ गण गन्ध वयहुँ। मज्जण्हउ सव्वहु देवयहुँ।
अवरण्हउ पियर पियामहउ। णिसि रक्खय भय-पेय-गहहुँ॥

५ प्राकृत भावसंग्रह गाथा ११२।

(५) पउमचरिउमें १६वें स्वर्गमें अवस्थित सीताके जीव स्वयंप्रभदेवका रावण तथा लक्ष्मणको संबोधित करनेके लिये तीसरी पृथिवी बालकाप्रभामें गमन बताया गया है।[1] धवला टीकाके अनुसार १२व से १५वें स्वर्ग तकके देव प्रथम नरकके चित्रा भागसे आगे नहीं जाते हैं।

(६) पउमचरिउमे भगवान् अजितनाथके वैराग्यका कारण म्लानकमल बताया गया है।[3] त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें तारा टटकर गिरना बताया गया है।

(७) भगवान् महावीरका चरणाग्रसे मेरु कम्पित करना बताया गया है जो श्वेताम्बर मान्यता है।

(८) भगवानके चलने पर देवनिर्मित कमलोंका रखा जाना एक अतिशय बताया है यह भी श्वताम्बर मान्यता मानी है।[6]

(९) तीर्थङ्करका मागधी भाषामें उपदेश देना श्वेताम्बर मान्यता ही कही जा सकती है। दिगम्बर परम्पराके अनुसार समवशरणमें तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि खिरती है जो सर्वभाषा रूप होती है।

(१) दिगम्बर उत्तरपुराणम सगरपत्रोका मोक्षगमन वर्णित है। पर यहाँ विमल-सूरि तथा रविषेणके अनुसार भीम और भगीरथ दो पुत्रोंको छोडकर शेषका नागकुमार दवके कोपसे भस्म होना वर्णित है।

इन वर्णनोंके आधार पर स्वयभ यापनीय सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार अनेक ग्रथोके अन्त परीक्षण करने पर जो ग्रथ यापनीय प्रमाणित हुए हैं उनका उल्लेख इस परिच्छे में किया है। इसी सदर्भम जटासिंहनन्दि अथवा जटिलके वरागचरितका भी अध्ययन किया। किन्तु उसमे कोई एसे अन्तरग उल्लेख

---

१ पउमचरिउ ८९ ८ ३ ४।

पडिबोहणहिं पयटट सयम्पहु। लघेवि पढम णरउ रयणप्पहु।

पुणु अइकमवि पुढवि सक्करपहु। सम्पाइउ रवणेण बालयपहु॥

२ धवला पुस्तक ४ प २३८ ९।

३ पउमचरिउ ५ २ २ ३।

४ तिलोयपण्णत्ति ४ ६ ८।

५ पउमचरिउ १ ७ १। परमेसरु पच्छिल जिणवरिन्दु। चलणग्गो-चालिय-महिहरिन्दु॥

६ पउमचरिउ १ ७ ३ वण्णरह-कमलायत्त-पाउ।

७ वही ५ ९ ५ मागह भासाए कहइ भडारउ।

८ महापुराण २३/७ ।

९ पउमचरिउ ५ १ २ ३।

नहीं मिले जिससे उन्हे यापनीय कहा जा सके। किन्तु कन्नड कवि जन्न (१२१९ ई) ने अपने अनन्तनाथपुराण में उन्हें क्राणूर गणका बताया है—

वंद्यर जटासिंहणंद्याचार्यादीद्र
णंद्याचार्यादिमुनिपराकाणूर्ग
णद्यर्पृथिवियोलगेल्ल ॥ १ १७

द्वितीय परिच्छेदमें हम देख चुके हैं कि क्राणूरगणका सम्बन्ध यापनीय संघसे था। डॉ उपाध्ये इस उल्लेखको गंभीरतासे न लेनेकी सलाह देते हैं क्योंकि गणोंकी उत्पत्ति और इतिहासके विषयमे पर्याप्त जानकारीका अभाव है तथा जन्न जटासिंह नन्दिके समकालीन नही हैं।[२]

कोपण या कोप्पल (निजाम स्टेट) की पल्किगुड्डु पहाडी पर एक चरणचिन्ह हैं जिनपर पुराने कन्नडमें जटासिंहनन्द्याचार्यके चरणचिन्होंको चावय्यने बनवाया[३] यह खुदा हुआ है। डॉ ए एन उपाध्येके अनुसार गणभेद नामक अप्रकाशित कन्नड ग्रन्थके अनुसार यह यापनीयोंका मुख्य पीठ था। फिर भी वरांगचरितके विषयमें निश्चित रूपसे कुछ भी नही कहा जा सकता।

•

---

१ वरांगचरित की अंग्रेजी प्रस्तावना पृ १६ से उद्धृत।

२ वही प्रस्तावना पृ १६।

३ वही पृ १७।

४ डॉ उपाध्येका लेख यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश अनेकांत वीर निर्वाण विशेषांक १९७५।

चतुर्थ परिच्छेद

यापनीयोंकी विचार-संहिता

विचार संहिता

यापनीयोंके विशिष्ट सिद्धान्तोंकी चर्चा इस परिच्छदमे की जायेगी। ये सिद्धान्त दिगम्बर सम्प्रदायसे प्राय भिन्न हैं।

स्त्रीमुक्ति

हरिभद्रसूरिने स्त्रीमक्तिका निरूपण करते समय यापनीयतत्रको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है। यह यापनीयतत्र यापनीय आचार विचारोका प्रतिपादक ग्रन्थ रहा होगा। हरिभद्रसूरिने ललितविस्तरामें उसका यह उद्धरण उपन्यस्त किया है—

यथोक्तं यापनीयतंत्रे णो खल इत्थी अजीवो (अजीवा) ण यावि अभव्वा ण यावि दसणविरोहिणी णो अमाणसा णो अणारिउप्पत्ती णो असखेयज्जाउया णो ववसायवज्जिया णो अपुव्वकरणविरोहिणी णो णवगुणठाणरहिया णो अजोग्गा लद्धीए णो अकल्लाणभायण त्ति कह न उत्तमधम्मसाहिग त्ति।[1]

मूलाचारम भी एक गाथामें स्त्रीमुक्तिका विधान मिलता है—

एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
जगपुज्ज त किंत्ति सुह च लद्धूण सिज्झति॥[2]

आचार्य शाकटायनके स्त्रीमुक्ति-प्रकरणमें स्त्रीमुक्तिकी तार्किक चर्चा प्राप्त होती है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंने इसीको आधार बनाकर स्त्रीमक्तिका खण्डन और मण्डन किया है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति तथा केवलिभुक्तिका पूर्वपक्ष इसी प्रकरणसे लिया है और इसकी युक्तियोका खण्डन किया है तथा श्वेताम्बर आचार्योंम हरिभद्रसूरिने ललितविस्तरा शास्त्रवार्तासमुच्चय आदिमें इसका मण्डन किया है।

प दलसुख मालवणियाके अनुसार स्त्रीमुक्ति दार्शनिक चर्चा व्यवस्थित रूपसे सर्वप्रथम यापनीय संघके आचार्य शाकटायनने अपने स्त्रीमुक्तिप्रकरणमें की। द्वादशाङ्गी (मूलसूत्र व छेदसूत्रमें भी) इसका स्पष्ट विवेचन दृष्टिगोचर नही होता।

आचार्य शाकटायनने स्त्रीमुक्तिके समर्थनम जो युक्तियाँ इसमें सक्षेपमें दी हैं, वे इस प्रकार हैं—

---

१ ललितविस्तरा पृ० ४०२।

२ मूलाचार ४।१९६।

१ मोक्षका कारण रत्नत्रय है और स्त्री भी रत्नत्रयकी धारिका होती है। देव आदिकी भाँति रत्नत्रय स्त्रीमे नही होता यह बात प्रत्यक्ष अनुमान या आगम किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही की जा सकती।

२ स्त्रिया सातवें नरक तक नही जा सकती अत वे मुक्त भी नही हो सकतीं यह कथन अयुक्त है चरमशरीरी भो सातव नरकमे नही जाते फिर भी वे उसी पर्यायसे मुक्त होत ह।

३ वादादिलब्धिका अभाव श्रतज्ञानम न्यनता जिनकल्पित्व तथा मन पर्याय ज्ञानके न होनेसे उन्हे मक्ति नही हो सकती यह कथन भी उचित नही है क्योकि मुक्तिका हेतु त्नत्रय उनम स्वीकार किया गया है।

४ वस्त्रपरिग्रहसे मक्त नही होती तो मोक्षार्थिनीको वस्त्रत्याग देना चाहिए। किन्तु आगमाज्ञा न होनसे स्त्री वस्त्रत्याग नही कर सकती। इस स्थितिमें वस्त्रग्रहण उसके लिए प्रतिलेखनकी भाँति मक्तिका साधन होता है परिग्रह नही क्योकि संसार का कारण परिग्रह ह वस्त्र नही। यदि धर्मसाधनोको परिग्रह मानेगे तो पिण्ड औषधि आदि भी वस्त्रकी भाँति परिग्रह मान जायग। साथ ही अर्श भगदर आदिके कारण उपसगकी स्थितिम वस्त्रधारी यतिकी मुक्ति नही मानी जा सकेगी।

५ पुरुषोके आचेलक्यको जो उत्सर्ग लिंग माना गया है वह सिद्ध न होगा क्योकि अपवादमाग न होनसे आचलक्य ही एकमात्र मार्ग शेष रहेगा।

६ वस्त्रधारणके कारण हिंसा होनेमे चारित्रपालन असभव है इसलिए स्त्रियोकी मक्ति नही होती यह हतु भो असिद्ध है क्योकि प्रमाद ही हिंसा है अन्यथा जीवाकुल लोकमें पुरुष भी अहिंसक नही हो सकता। वस्त्र स्त्रीके लिए धर्मसाधन है परिग्रह नहीं। यही उसके लिए यथाख्यातचारित्र है।

७ स्त्रियाँ पुरुषोको स्मरण वारण (निवारण) और प्ररणा नही करतीं अर्थात् पुरुषोंकी गुरु नही होती अत हीन हैं यह कथन भी युक्त नही क्योंकि फिर शिष्यो की मक्ति नही हो सकेगी। और फिर तीथकरोंकी माता तो इन्द्र द्वारा भी पूज्य हैं।

८ माया आदि मानसिक दोष स्त्री-पुरुषोंमें समान होते हैं अत स्त्री मायावी होती है यह युक्ति भी स्त्रोकी मुक्तिम बाधक नहीं है।

९ स्त्रियोंको हीन सत्त्व कहना अयुक्त है क्योंकि उन्हें भी उग्र तपश्चर्या करते हुए पाया गया हैं।

१ सम्यग्दृष्टि जोव स्त्रीत्व-पयाय प्राप्त नही करता इसका भी कोई प्रमाण नहीं है।

११ श्रत ज्ञानमें यनता आदि कारणोंसे-स्त्री मुक्तिका निषेध करेंगे तो मूक-केवलीको भी मोक्ष नहीं होगा। सूत्रमें (तत्वार्थाधिगम सत्रमें) जो यह कहा गया है कि

केवल सामायिक पदोंका उच्चारण करके अनन्त जीव सिद्ध हो गये हैं यह मिथ्या हो जायेगा।

१२ आगममें कहा गया है कि एक समयमें १ ८ पुरुष २ स्त्रियाँ तथा १ नपुंसक सिद्ध होते हैं। स्त्रीमुक्तिप्रकरणमें संकेतित इस गाथाको आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत किया है।

१३ भाव ही सिद्धिका कारण है। द्रव्यपुरुष यदि भावस्त्री होकर मुक्त हो सकता है तो फिर द्रव्यस्त्री भावपुरुष होकर क्यों नहीं मुक्त हो सकती ? सिद्ध होते समय वेद नहीं रहता। अनिवृत्तिबादरसम्पराय गुणस्थानमें वह नष्ट हो जाता है। भूतपूर्व गतिसे क्षपकश्रेणीमें आरोहण करते समय जो वेद होता है उसी वेदसे मुक्त माना जाता है। स्त्रीमुक्ति गौण अथम नही मक्य अर्थमे है अर्थात् उसी भवसे स्त्रीमुक्ति होती है।

१४ स्त्री और पुरुष दोनोंके लिए चौदह गुणस्थान कहे गये हैं

भगवती आराधना तथा विजयोदया टीका यापनीय ग्रन्थ है परतु इनमें स्पष्ट रूपसे स्त्रीमुक्तिका समर्थन नही मिलता। प कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है कि वे सवस्त्रमुक्ति प्रथा स्त्रीमुक्तिके समथक प्रतीत नही होते।[3]

भक्तप्रत्याख्यानके अवसर पर उत्सर्ग अपवाद लिंगकी चर्चा आई है। वहाँ टीकाकार अपराजितसूरि कहते ह— यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवाद । इस वाक्यके आधारपर प कैलाशचन्द्र शास्त्री परिग्रहको यतियोंके लिये अपवाद तथा अपवादलिंगको गृहस्थोके लिए मानते है। उनके अनुसार मुनि तो औत्सर्गिक लिंगका ही धारी होता है।

स्त्रियोंके लिंगकी प्ररूपक गाथाके विषयम उनका कथन है कि इसकी टीकामें अपराजितसूरिने स्पष्ट कर दिया है कि तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक लिंग होता है और इतरका अर्थ श्राविका किया है तथा लिखा है—भक्तप्रत्याख्यानमें तपस्विनियो के औत्सर्गिक लिंग होता है। इतर अर्थात श्राविकाओंके पुरुषोकी तरह समझना चाहिए अर्थात् स्त्री यदि रानी वगरह है लज्जाशील है उसके कुटम्बी मिथ्यामती हैं तो उसको पूर्वोक्त औत्सर्गिक लिंग जो सकल परिग्रहत्यागरूप है एकान्त स्थानमें देना चाहिए। इसपर प्रश्न किया गया है कि स्त्रियोंके उत्सग लिंग कैसे कहते हैं ? उत्तर में कहा है कि परिग्रह अल्प करनेपर उनके भी उत्सर्गलिंग होता है। यहाँ यह ध्यान

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र भाग २ पृ ८६९ माणिकचन्द्र दिग जैन ग्रथमाला बम्बई १९४१।

२ शाकटायन व्याकरण (परिशिष्ट २) पृ० १२१-६।

३ भगवती आराधना भाग १ प्रस्तावना प ३०।

देना चाहिए कि यदि ग्रन्थकार और टीकाकारको सवस्त्रमक्ति अभीष्ट होती तो वह भक्त प्रत्याख्यानके लिए औत्सर्गिक लिंग आवश्यक नही रखते और न टीकाकार उत्सर्गका अर्थ सकलपरिग्रहका त्याग करते तथा परिग्रहको यतिजनोंके अपवादका कारण होनेसे अपवादरूप न कहते और न स्त्रियोंसे ही अन्तिम समयमें एकान्त स्थान में परिग्रहका त्याग कराते। जो सकलपरिग्रहके त्यागको मुक्तिका मार्ग मानते हैं, वह सवस्त्रमुक्ति या स्त्रीमुक्ति कैसे स्वीकार कर सकता है।

प शास्त्रीके इस वक्तव्यके विषयमे हमारा निवदन है कि यद्यपि यह सत्य है कि ग्रथकार और टीकाकार दोनो ही साधके आचारम शिथिलाचारके विरोधी हैं तथापि वे सवस्त्रमुक्तिका विरोध करते हैं यह नही कहा जा सकता।

अचेल लिंगको उन्होने उत्सर्ग लिंग कहा ह तथा सचेल लिंगको अपवाद लिंग कहा है। उत्सर्ग और अपवाद लिंगकी चर्चा साधुके प्रसगमे ही सभव है क्योकि साधका ही उत्सर्ग लिंग आचेलक्य है अत अपवाद लिंग भी साधके लिए ही है। अपवाद उत्सर्ग सापेक्ष तथा उत्सग अपवाद सापेक्ष होता ह। साधका लिंग उत्सग लिंग है अत अपवादलिंग भी साधका ही हो सकता है।

अन्यत्र भी अपराजितसूरिने सवस्त्र यतिको स्वीकार किया ही है कारणविशेषसे आगमोंमे वस्त्रकी अनुज्ञा मानी है। इससे इतना निश्चित है कि व सवस्त्र मनि स्वीकार करते ह। हाँ उन्होन सवस्त्र मुनिके साथ गृहस्थके लिंगको भी अपवादलिंग कहा है। धनवान लज्जाल तथा मि या वी कुटम्बवाला गृहस्थ ही हो सकता है साध नही।

आर्यिकाके प्रसगमे वे तपस्विनीके लिंगको उत्सर्ग लिंग कहते हैं व श्राविकाके लिंगको अपवाद लिंग।

स्त्रीके लिंगकी निरूपक गाथा और उसकी टीका इस प्रकार है—

> इत्थीवि य जं लिंग दिटठ उस्सग्गिय व इदर वा।
> तं तत्थ होदि ह लिंग परित्तमुवधिं करेंतीए॥ ८ ॥

इत्थीवि य स्त्रियोऽपि। ज लिंग यल्लिग। दिटठ दृष्ट आगमेऽभिहितं। उस्सग्गिय व औत्सर्गिक तपस्विनीना प्राक्तनम। इतरासा पुसामिव यो यम। यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्या प्राक्तन लिंग विविक्ते त्वावसथे उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपम। उत्सर्गलिंग कथ निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह—त तद् उत्सर्गलिंग। तत्थ स्त्रीणा होदि भवति। परित्त अल्पं। उवधिं परिग्रह करेंतीए कुर्वंत्या।[२]

---

१ भगवती आराधना भाग-१ प कैलाशचन्द्रजी प्रस्तावना पृ २९३।

२ भगवती आराधना भाग १ पृ ११५।

यहाँ स्पष्ट कथन है कि स्त्रियोंका जो लिंग आगममें अभिहित है वह उत्सर्ग है,¹ अर्थात् तपस्विनीका लिंग उत्सर्ग लिंग है। आगममें तपस्विनीका लिंग सवस्त्र ही है उसे ही ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों उत्सर्गलिंग मानते हैं अपवाद नहीं। यही उनकी दिगम्बर परम्परासे भिन्न दृष्टि है जो आर्यिकाके महाव्रतोंको उपचार रूपमें मानती है परन्तु यापनीय दृष्टि तपस्विनीके लिंगको उत्सर्ग लिंग मानती है।

भक्तप्रत्याख्यानके अवसरपर तपस्विनीका लिंग प्राक्तन अर्थात् उत्सर्ग लिंग होता है इतरका अर्थ श्राविका है। श्राविकाका लिंग पुरुषोंकी भांति समझना चाहिए। अर्थात यदि स्त्री धनवती लज्जावती मिथ्यादृष्टि स्वजनवाली है तो उनका जो पूर्व लिंग अर्थात् अपवादलिंग है वह होना चाहिए अन्यथा अर्थात ऐसा नहीं है तो सकल परिग्रहत्यागरूप उत्सर्गलिंग दिया जा सकता है।

सकलपरिग्रहत्यागरूप उत्सर्गलिंग कहने पर अपराजितसूरि उसका भी स्पष्टीकरण करते हैं। स्त्रियोंका उत्सर्गलिंग कैसे निरूपित किया जाता है—परिग्रहोंको अल्प करती हुई स्त्रीका लिंग उत्सर्ग लिंग होता है।

इस गाथासे यह अथ ध्वनित नहीं होता है कि स्त्री भी अतिम समयमें एकान्तम निर्वस्त्र हो जाये अपितु श्राविका भी यदि धनवती लज्जावती या मिथ्यादृष्टि स्वजन वाली न हो तो एकान्तम उत्सर्गलिंग अर्थात तपस्विनीका लिंग (एकशाटिकाधारण रूप) ग्रहण कर सकती है। हमें इस गाथा या टीकासे एकान्तम स्त्रीके निर्वस्त्र होने का कथन प्रतीत नही होता।

अपराजितसूरि आर्यिकाओ तथा कारण विशषसे भिक्षओको वस्त्रको अनुज्ञा मानते है। साथ ही एक अवसरपर पुरुषको ही परिपूर्ण सयमका पालक कहते है—

परिपूर्णसंयममाराधयितुकामस्य जन्मान्तरे पुरुषादिप्राथना प्रशस्त निदानम्।

भगवती आराधनाकार भी पुरुषको सयमका हेतु कहते है— सजमहेतुं पुरिसत्त²

इतना निश्चित है कि भगवती आराधनाकार तथा उसके टीकाकार अपराजित यापनीय हैं और यह भी निश्चित है कि यापनीय स्त्रीमुक्तिके समर्थक थ। शाकटायन का स्त्रीमुक्तिप्रकरण तथा हरिभद्रसूरि आदि विद्वानोके कथन तथा यापनीयतन्त्रके उद्धरण इसके प्रबल प्रमाण हैं।

भगवती-आराधना तथा विजयोदयासे स्पष्ट है कि वे पूर्ण चारित्र पालनका

---

१ भगवती आराधना भाग १ विजयोदया टीका पृ ५६।

२ भगवती आराधना भाग २ गाथा १२१ ।

देना चाहिए कि यदि ग्रन्थकार और टीकाकारको सवस्त्रमक्ति अभीष्ट होती तो वह भक्त प्रत्याख्यानके लिए औत्सर्गिक लिंग आवश्यक नही रखते और न टीकाकार उत्सर्गका अर्थ सकलपरिग्रहका त्याग करते तथा परिग्रहको यतिजनोंके अपवादका कारण होनेसे अपवादरूप न कहते और न स्त्रियोसे ही अन्तिम समयमें एकान्त स्थान में परिग्रहका त्याग कराते। जो सकलपरिग्रहके त्यागको मक्तिका माग मानते हैं वह सवस्त्रमक्ति या स्त्रीमक्ति कैसे स्वीकार कर सकता है।

प शास्त्रीके इस वक्तव्यके विषयमे हमारा निवदन ह कि यद्यपि यह सत्य है कि ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों ही साधके आचारमें शिथिलाचारके विरोधी हैं तथापि वे सवस्त्रमुक्तिका विरोध करते हैं यह नही कहा जा सकता।

अचेल लिगको उन्होन उत्सर्ग लिंग कहा ह तथा सचेल लिंगको अपवाद लिंग कहा है। उत्सर्ग और अपवाद लिंगकी चर्चा साधके प्रसगमे ही सभव है क्योकि साधका ही उत्सर्ग लिंग आचलक्य है अत अपवाद लिंग भी साधके लिए ही है। *अपवाद उत्सर्ग सापेक्ष तथा उत्सग अपवाद सापेक्ष होता ह।* साधका लिंग उत्सग लिंग है अत अपवादलिंग भी साधका ही हो सकता है।

अन्यत्र भी अपराजितसूरिने सवस्त्र यतिको स्वीकार किया ही है कारणविशेषसे आगमोमें वस्त्रकी अनुज्ञा मानी ह। इससे इतना निश्चित है कि व सवस्त्र मनि स्वीकार करते हैं। हाँ उन्होने सवस्त्र मुनिके साथ गृहस्थके लिंगको भी अपवादलिंग कहा है। धनवान लज्जाल तथा मिथ्यावी कुटम्बवाला गृहस्थ ही हो सकता है साध नही।

आर्यिकाके प्रसगमे वे तपस्विनीके लिंगको उत्सर्ग लिंग कहते हैं व श्राविकाके लिंगको अपवाद लिंग।

स्त्रीके लिंगकी निरूपक गाथा और उसकी टीका इस प्रकार है—

इत्थीवि य जं लिंग दिटठ उस्सग्गिय व इदर वा।
त तत्थ होदि ह लिंग परित्तमुवधिं करेंतीए॥ ८ ॥

इत्थीवि य स्त्रियोऽपि। ज लिंग यल्लिग। दिटठ दृष्ट आगमेऽभिहितं। उस्सग्गिय व औत्सर्गिक तपस्विनीना प्राक्तनम। इतरासा पुसामिव योज्यम्। यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्या प्राक्तन लिंग विविक्ते त्वावसथे उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपम। उत्सर्गलिंग कथ निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह—त तद् उत्सर्गलिंग। तत्थ स्त्रीणा होदि भवति। परित्त अल्पं। उवधि परिग्रह करेंतीए कुर्वत्या।[२]

---

१ भगवती आराधना भाग–१ प कैलाशचन्द्रजी प्रस्तावना प २९ ३।
२ भगवती आराधना भाग १ पृ ११५।

यहाँ स्पष्ट कथन है कि स्त्रियोंका जो लिंग आगममें अभिहित है वह उत्सग है,[1] अर्थात् तपस्विनीका लिंग उत्सर्ग लिंग है। आगममें तपस्विनीका लिंग सवस्त्र ही है उसे ही ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों उत्सर्गलिंग मानते हैं अपवाद नहीं। यही उनकी दिगम्बर परम्परासे भिन्न दृष्टि है जो आर्यिकाके महाव्रतोंको उपचार रूपमें मानती है परन्तु यापनीय दृष्टि तपस्विनीके लिंगको उत्सर्ग लिंग मानती है।

भक्तप्रत्याख्यानके अवसरपर तपस्विनीका लिंग प्राक्तन अर्थात् उत्सर्ग लिंग होता है इतरका अर्थ श्राविका है। श्राविकाका लिंग पुरुषोंकी भांति समझना चाहिए। अर्थात यदि स्त्री धनवती लज्जावती मिथ्यादृष्टि स्वजनवाली है तो उनका जो पूव लिंग अर्थात् अपवादलिंग है वह होना चाहिए अन्यथा अर्थात् ऐसा नहीं है तो सकल परिग्रहत्यागरूप उत्सर्गलिंग दिया जा सकता है।

सकलपरिग्रहत्यागरूप उत्सर्गलिंग कहने पर अपराजितसूरि उसका भी स्पष्टीकरण करते हैं। स्त्रियोंका उत्सर्गलिंग कसे निरूपित किया जाता है—परिग्रहोंको अल्प करती हुई स्त्रीका लिंग उत्सग लिंग होता है।

इस गाथासे यह अथ ध्वनित नही होता है कि स्त्री भी अतिम समयमें एकान्तमें निर्वस्त्र हो जाये अपितु श्राविका भी यदि धनवती लज्जावती या मिथ्यादृष्टि स्वजन वाली न हो तो एकान्तमें उत्सगलिंग अर्थात तपस्विनीका लिंग (एकशाटिकाधारण रूप) ग्रहण कर सकती है। [illegible]में इस गाथा या टीकासे एकान्तमें स्त्रीके निर्वस्त्र होने का कथन प्रतीत नही होता।

अपराजितसूरि आर्यिकाओं तथा कारण विशषसे भिक्षुओंको वस्त्रको अनुज्ञा मानते हैं। साथ ही एक अवसरपर पुरुषको ही परिपूर्ण सयमका पालक कहते हैं—

परिपूर्णसंयममाराधयितुकामस्य जन्मान्तर पुरुषादिप्राथना प्रशस्त निदानम।[1]

भगवती आराधनाकार भी पुरुषको सयमका हेतु कहते हैं—सजमहेतुं पुरिसत्त[2]

इतना निश्चित है कि भगवती आराधनाकार तथा उसके टीकाकार अपराजित यापनीय हैं और यह भी निश्चित है कि यापनीय स्त्रीमुक्तिके समर्थक थे। शाकटायन का स्त्रीमुक्तिप्रकरण तथा हरिभद्रसूरि आदि विद्वानोके कथन तथा यापनीयतत्रके उद्धरण इसके प्रबल प्रमाण हैं।

भगवती-आराधना तथा विजयोदयासे स्पष्ट है कि वे पूर्ण चारित्र पालनका

---

१ भगवती आराधना भाग १ विजयोदया टीका पृ ५६।

२ भगवती आराधना भाग २ गाथा १२१ ।

आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करते हैं और परिपूर्ण संयमका पालन उनकी दृष्टिमें नग्न साधु ही करता है फिर भी उन्होंने कहीं सवस्त्र भिक्षु या आर्यिकाकी मुक्तिका निषेध नहीं किया है। उनके अनुसार यदि शक्ति रहते हुए भी परिग्रह (चेल) का त्याग न करे तो परिग्रहत्याग नहीं होता।

परिग्रहत्यागो हि पंचमं व्रतं तन्नाचरितं भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत्।

फलितार्थ यह हुआ कि अशक्तके लिए वस्त्रग्रहण करनेपर भी परिग्रहत्यागरूप व्रत रहता है। व सचेलकी शुद्धिको भाज्य कहते है उसका निषेध नहीं करते।

एवमचेलवति नियमादेव भाज्या सचले।

आर्यिकाओंके लिंगको औत्सर्गिक मानना स्त्रीमुक्तिके समर्थनका ही संकेत है।

स्त्रीमुक्तिप्रकरण मूलाचार तथा यापनीयतंत्रके उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि यापनीय स्त्रीमुक्तिके समर्थक थे। स्त्रीमुक्तिका विधान करते हुए भी यापनीय आचार्योंने पुरुषज्येष्ठता ही स्वीकार की है। विजयोदया टीकामें चिरप्रव्रजित साध्वीसे सद्यः प्रव्रजित साधुको श्रेष्ठ बताया है। पुरुष-ज्येष्ठताको सातवाँ स्थितिकल्प माना गया है। पुरुष ही स्त्रियोंकी रक्षा एवं उपकार करनेमें समर्थ होता है। धर्म भी पुरुष-प्रणीत ही है जैसाकि निम्न उद्धरणसे प्रकट है—

पंचमहाव्रतधारिण्याश्चिरप्रव्रजिताया अपि ज्येष्ठो भवत्यधुना प्रव्रजितः पुमान् इत्येष सप्तमः स्थितिकल्पः पुरुषज्येष्ठत्वम्। पुरुषो नाम संग्रहं उपकारं रक्षां च कर्तुं समर्थः। पुरुषप्रणीतश्च धर्म इति तस्य ज्येष्ठता। ततः सर्वाभिः संयताभिः विनयः कर्तव्यो विरतस्य। येन च स्त्रियो लघव्यः परप्रार्थनीयाः पररक्षापेक्षिण्यः न तथा पुमांस इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्वम्। उक्तं च—

जेणित्थी हु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्जा य।
भीरु अरक्खण जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो ॥[३]

इससे स्पष्ट है कि यापनीयोंमें स्त्री-तीर्थङ्करकी मान्यता नहीं है। आर्यिकाओंको आचार्य उपाध्याय तथा साधुकी पाँच छह सात हाथ दूरसे गवासन द्वारा वंदना करनेका विधान है।

पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥

---

१ भगवती आराधना भाग १ (विजयोदया सहित) पृ० १२।
२ भगवती आराधना (विजयोदया) पृ० ३२२।
३ भगवती आराधना भाग १ पृ० ३३१।
४ मूलाचार ४/१९५।

मुक्तिकी अधिकारिणी मानकर भी यापनीय आचार्योंने उन्हें वादादिलब्धिरहित श्रुतिमें कनीयसी व जिनकल्प तथा मन पर्ययज्ञानसे रहित माना है।[1] श्रुतमें कनीयसी कहनेसे प्रतीत होता है कि यापनीय आचार्य भी श्वेताम्बर सम्प्रदायकी भाँति स्त्रीको दृष्टिवादके अध्ययनकी अनधिकारिणी मानते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरिके अनुसार स्त्रियोंमें अर्थज्ञानकी योग्यता होने पर भी शाब्दिक अध्ययनका निषेध है—

यदि शास्त्रयोगागम्यसामर्थ्ययोगवसेयभावव्वतिसूक्ष्मेष्वपि तेषा विशिष्टक्षयोपशम-प्रभवप्रभावयोगात पूर्वधरस्येव बोधातिरेकसद्भावाच्छुक्लध्यानद्वयप्राप्ते केवलावाप्ति क्रमेण मुक्तिप्राप्तिरिति न दोष ।[2]

स्त्रियोंके लिए जिनकल्पकी तरह परिहारसयम अथालदविधि प्रायोपगमन तथा इंगिनीमरणका निषेध है।[3]

भगवती-आराधनाकार शिवायने विस्तारसे स्त्रियोंकी घोर निन्दा कर अन्तमें कहा है कि स्त्रियोमे जो दोष होते हैं वे नीच पुरुषोंमें भी होते हैं। बल व शक्ति युक्त मनुष्योमे स्त्रियोंसे अधिक दोष होते हैं। तीर्थकरोंकी माता तो देव व मनुष्योंके लिए पूज्य होती है। जिस प्रकार शीलके रक्षक पुरुषके लिए स्त्रियाँ निंदनीय हैं, उसी प्रकार शीलकी रक्षिका स्त्रियोके लिए पुरुष निंदनीय है। यहाँ स्त्रीत्वको मिथ्यात्वका कार्य नही कहा है। विजयोदयामें एक स्थलपर सम्यग्दर्शनको नरक तथा तिर्यकगतिके लिए वज्रमयी अगला कहा गया है।[5] सम्यग्दृष्टिके स्त्रीजन्मका निषेध नही है।

आचार्य हरिभद्र गुणरत्न तथा श्रुतसागरसूरिने यापनीयोको स्त्रीमुक्तिका समर्थक कहा है।

षट्खण्डागमको वे प्रमाण मानते है। इस आधार पर भी उन्हें स्त्रीमुक्तिका निषेधक नही माना जा सकता। सत्प्ररूपणासूत्र ९२ ९३ में जो कहा गया है कि मनुष्यनियोंमें मिथ्यादृष्टि तथा सासादन गुणस्थान तो उनकी पर्याप्त अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें ही हो सकते हैं। उसके विषयमें धवलाकारका समाधान है कि भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगतिमें चौदहों गुणस्थान मान लेनमे कोई विरोध नही आता। भाववेद तो नव गुणस्थानके ऊपर होता ही नहीं। अत यहाँ वदकी प्रधानता न होकर गति-

---

१ शाकटायन स्त्रीमुक्तिप्रकरण श्लोक ७ व १९।

२ शास्त्रवार्तासमुच्चय पृ ४२६।

३ भगवती आराधना भाग १ विजयोदया पृ १९७ २ ५।

४ भगवती आराधना भाग १ गाथा ९३२ ९९६ पृ ५२८ ४१।

५ भगवती आराधना (विजयोदया सहित) भाग १ पृ ८२।

की प्रधानता है। विशेष वेदके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे उसी संज्ञाको धारण करने वाली मनुष्यगतिमें चौदहों गुणस्थान मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता।

इस प्रकार धवलाकारने यहाँ मनुष्यनीका अर्थ भावस्त्रीवेदी पुरुष लिया है और उनके चौदहों गुणस्थान माने हैं। यद्यपि चौदहो गुणस्थान तक वेदकी सत्ता नही रहती तथापि पहले वेदके सद्भावम जिन्ह मनुष्यनी कहा उन्हें ही वेदके अभावमें उपचारसे उसी नामसे सबोधित किया गया ह।

इस विषयमे स्व डॉ हीरालालजी जनका कथन है—यथार्थत यदि स्त्रियोंमें सयमासयमसे ऊपरका गणस्थान सभव ही न माना जाय तो श्राविकासघसे आर्यिका संघकी पृथक व्यवस्था बनती ही नही है जिस प्रकार पाँचव गुणस्थान तकके पुरुष चाहे वे क्षुल्लक एलक ही क्यो न हा जायें श्रावक ही मान जात हैं मनि नही उसी प्रकार उक्त गुणस्थान तककी स्त्रियोका समावेश श्राविकासघम ही होगा। उससे ऊपर आर्यिकासघकी पृथक् व्यवस्था तभी स्वीकार की जा सकती ह जब उनमें पाँचवेंसे ऊपरके गुणस्थानोकी उत्पत्ति मानी जाय।

पुरुषशरीरी जीवम स्त्रीवेदका उदय तथा स्त्रीशरीरी जीवम पुरुषवेदका उदय सिद्धान्तानुसार घटित नही होता।

यदि पुरुषशरीरमे स्त्रीवदका और स्त्रीशरीरम पुरुषवेदका सद्भाव स्वीकार ही किया गया तो भाववेद मात्रकी विवक्षानुसार सूत्रकारकृत मनुष्य और मनुष्यनी विभाग माने तो यह व्यवस्था होगी कि स्त्रीशरीरी पुरुषवेदी जीव मनुष्योम अन्तभत होंग।

उपचारसे मनुष्यनीसज्ञा मानना और विशषणके छट जाने पर भी भूतपूर्वन्याय आदिसे काम लेना पड तो वहा सिद्धान्तकी जड कमजो ही प्रतीत होगी। यदि वेद की प्रधानताको छोडकर गतिकी प्रधानतासे ही कथन करना था तो वेदके अनुसार यहाँ भेद ही क्यो किये गये? यथाथत प्रस्तुत प्रकरणमें तो योगमार्गणा चल रही थी और काययोगके सिलसिलेमें इन विभागोंके अनुसार कथन किया गया है। मनुष्य गतिकी प्रधानतासे तो गतिमार्गणाम ऊपर सत्र २६ म गुणस्थानप्ररूपण किया जा चुका है। वेदमार्गणानुसार प्ररूपण आग १ १ आदिम किया गया है। और वहाँ अनिवृत्तिकरण गणस्थान तक ही वदोके आधारसे कथन है उसके आगके गुणस्थानोंको अपगतवेद कहा है। इस प्रकार यथार्थत यहाँ भाववदको विवक्षा कोई सार्थकता नहीं रखती और उसे छोडकर गतिकी प्रधानता सिद्ध नही होती।

इस प्रकार षटख डागमको प्रमाण माननेसे उन्ह अपने स्त्रीमुक्ति सिद्धान्तम कोई विरोध नहीं प्रतीत हुआ होगा।

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर आरा बिहार भाग ११ किरण १ क्या षटखण्डागम और धवलाकारका अभिप्राय एक है?

केवलिभुक्ति—यापनीय केवलीके कवलाहारके समर्थक थे। जिसका संकेत तत्त्वार्थ सूत्रके एकादश जिने सूत्रसे मिलता है। शाकटायनने कवलाहारके समर्थनमें पूरा प्रकरण लिखा है। उनकी युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१ केवलीमें भुक्तिके कारण पर्याप्ति (इन्द्रियोंकी पूर्णता) वेद्य (वेदनीय कर्म) तैजस और आयु विद्यमान रहते हैं।

२ इस समय तक समस्त कर्मोंका नाश नही हुआ है। केवलीके ज्ञान आदि गुण क्षुधाके विरोधी नही है। जिस प्रकार प्रकाश होने पर अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानकी वृद्धि होने पर क्षुधाका विनाश नही होता। क्षुधाका ज्ञान आदिसे विरोध नहीं है।

३ क्षुधा दुःख है वह अनन्त सुखगुणकी विरोधिनी है यह उचित नहीं है। मोहरहित भगवानमे आहारकी आकाक्षा रूप क्षुधा रहती है। शीत उष्ण आदि की भाँति क्षुधा मोहस्वरूप नही है मोहका परिणाम नही है अत उसके परिहारकी आकाक्षा होती है।

४ अनतवीर्य और तृष्णारहित केवली क्या भोजन करते हैं ? यह शका भी उचित नही है। यदि अनन्तवीर्यके कारण भुक्तिके बिना भी शरीरस्थिति मानेगे तो आयुकर्मके बिना भी शरीरस्थिति माननेका प्रसग होगा।

५ वचन-गमन आदि की भाँति भुक्तिका उद्देश्य भी स्वपरसिद्धि है। भुक्तिमे दोष मानने पर तो केवलीका बैठना उठना ठहरना आदि भी दोषयुक्त होगा।

६ रोगादिकी तरह क्षुधा भी वेदनीयकर्म होनसे केवलीमें होती ही है।

७ जिस प्रकार तलक्षय होने पर दीपकी तथा जलागमके बिना जलधाराकी स्थिति नहीं है उसी प्रकार आहारके बिना शरीरकी स्थिति नही है।

८ सर्वज्ञके मासादिका दर्शन होनेसे अंतरायका कथन उचित नही है क्योकि अवधिज्ञानी भी सब कुछ देखते हैं पर अन्तराय नही होता। इन्द्रियका विषय होने पर ही अन्तराय होता है।

दिगम्बर परम्पराम प्राय केवली अवर्णवादके रूपमे केवली-कवलाहारको उपन्यस्त किया जाता है विजयोदयाम अर्हन्त अवर्णवादके उदाहरणमें सर्वज्ञता और वीतरागता का अभाव बताया गया है।

मुनियोंका उपाश्रय भोजन

यापनीय मुनि निर्ग्रन्थ अत पाणितलभोजी होते थे इसका प्रमाण शिवार्यका पाणितलभोजी विशेषण है तथापि उपाश्रयम लाकर भोजन करनेके भी संकेत मिलते हैं।

मूलाचारमें विरतियोंके उपाश्रयमें विरतोंका भोजनका निषेध है। इससे अपने उपाश्रयमें लाकर भोजनका परोक्ष संकेत मिलता है। रुग्ण ग्लान क्षपक हेतु अन्य मुनियोंके भोजन-पानक लानेका तो भगवती आराधनामें स्पष्ट निर्देश है ही। इसके अतिरिक्त वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचारके विषयमें विजयोदयामें कहा गया है कि सात घरमें प्रवेश करूँगा इत्यादि संकल्प करनेके पश्चात दूसरोंको भोजन कराना है इस भावसे अधिक घरोंमें प्रवेश करना तथा एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेमें जाना वृत्तिसंख्यान दोषके अतिचार हैं।[1] वृत्तिपरिसंख्यान तपके अवसर पर ही कहा गया है—'एकेनैव दीयमानं द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाणम्। आनीतायामपि भिक्षाया इयत एव'[2]। रात्रिभोजननिवृत्तिके अवसर पर भी—क्वचिद् भाजने दिवैव स्थापितं आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात्[3]।

इन उल्लेखोंसे प्रतीत होता है कि यापनीय परम्परामें भोजन एकत्रित करके निवासस्थान पर ग्रहण करनेका भी विकल्प था। पात्रग्रहण भी अपवाद रूपमें स्वीकृत था यह भी इससे स्पष्ट है।

आराधना—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तपके साथ आराधना शब्दका प्रयोग तथा उद्योतन आदि रूपसे कथन भगवती आराधना तथा विजयोदयामें ही है। श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रकीर्णक मरण विभक्ति में दो विभाग हैं—प्रथम सल्लेखना श्रुत और दूसरा आराधना श्रुत। इस ग्रन्थकी अन्तिम गाथाओंमें कहा गया है कि मरणविभक्ति मरणविशुद्धि मरणसमाधि संलेखनाश्रुत भक्तपरिज्ञा आतुरप्रत्याख्यान महाप्रत्याख्यान आराधनाप्रकीर्णा इन आठ श्रुतोंका भाव लेकर मरणविभक्ति की रचना की है। इसका दूसरा नाम मरणसमाधि है।

भगवती आराधनामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तथा सम्यक् तपकी आराधनाका स्वरूप भेद उसके उपाय साधक सहायक और फलका कथन है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपके उद्योतन उद्यापन निर्वहण साधन और निस्तरणको आराधना कहा गया है। ज्ञानका निश्चयात्मक और विपरीततारहित होना ज्ञानका उद्योतन है। भावनाओंमें मन लगाना चारित्रका उद्योतन है। संयमकी भावना द्वारा असंयमको दूर करना तपका उद्योतन है। बार बार दर्शनादि

---

१ वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारा गृहसप्तकमेव प्रविशामि एकमेव पाटं दरिद्रगृहमेव। एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्तं ग्रहीष्यामीति वा कृतसंकल्पगृहसप्तकादिकादधिकप्रवेशः पाटान्तरप्रवेशश्च परं भोजयामीत्यादिकं। पृ० ३७१।

२ वही पृ० २४१।

३ वही पृ० ५९३।

रूप परिणमनको उद्यवन कहते हैं । परीषह आदि उपस्थित होने पर भी निराकुलता पूर्वक वहन अर्थात् धारण करनेको निर्वहण कहते हैं । अन्य और उपयोग लगनेसे दर्शन आदिसे मन हटने पर पुन उसमे लगाना साधन है । अर्थात् नित्य या नैमित्तिक कार्य करते समय सम्यग्दर्शनादिमें व्यवधान आ जाए तो पुन उसे उपायपूर्वक करना साधन है । दूसरे भवमें भी सम्यग्दर्शनादिको साथ ले जाना अथवा इस भवमें मरणपर्यन्त धारण करना निस्तरण है । तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यकदर्शन ह । स्वपरज्ञान सम्यग्ज्ञान है । पापका बन्ध करान वाली क्रियाओंका त्याग चारित्र है और इन्द्रिय तथा मनके नियमनको तप कहते हैं । सक्षेपमें आराधना दो प्रकारकी होती है क्योंकि दर्शनका ज्ञानके साथ तथा चारित्रका तपके साथ अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे दर्शनाराधनामें ज्ञानाराधनाका तथा चारित्राराधनामें तपाराधनाका अ तर्भाव हो जाता है । दर्शन आराधना करने वालेके नियमसे ज्ञानकी आराधना होता है किंतु ज्ञानकी आरा धना करने वालेके दर्शनकी आराधना होती भी ह नहीं भी इसी प्रकार चारित्रकी आराधना करने वालेके तपकी आराधना नियमसे होती है किन्तु तप की आराधना करने वालेके चारित्रकी आराधनाका नियम नही है । समस्त प्रवचनका सार आराधना ही ह । आराधनापूर्वक मरण करने वाला कम मे-कम तीन भावमें निर्वाण प्राप्त करता है ।[३] सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदशन और समस्त कर्मोंसे मुक्तता ये चार चार प्रकारकी आराधनाके फल हैं ।

भगवती आराधनाके उपरान्त दिगम्बर परम्पराम इसके आधारपर व अनुकरणमें अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं ।

वर्णजनन—वर्णजनन अर्थात यश प्रसारित करना भी दशनविनय है । विद्वानोंकी परिषद्में अहन्तकी महत्ताका ख्यापन अहन्तोका वणजनन है । सिद्धोका माहात्म्य प्रकट करना सिद्धोका वर्णजनन श्रुतज्ञानका माहात्म्य प्रकट करना श्रुतज्ञानका वर्णजनन और धर्मके स्वरूपका कथन धर्मका वर्णजनन है । साध आचार्य मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन आदिकी महत्ताका ख्यापन करना तत्तद् वस्तुओका वर्णजनन है ।[५]

यह वणजनन शब्द यापानीयोकी परम्परामें ही प्राप्त हुआ है । अपराजितसूरिने इसकी विस्तृत उद्धरणों सहित व्याख्या की है ।

---

१ भगवती आराधना भाग १ (टीका सहित) गाथा १-६ ।

२ भगवती आराधना भाग १ (टीका सहित) गाथा १४ ।

३ मूलाचार २/९७ ।

४ अधिक जानकारीके लिए देखिए बृहत्कथाकोशकी उपाध्ये लिखित प्रस्तावना ।

५ भगवती आराधना भाग १ गाथा ४६ ।

सत्रह प्रकारके मरण

श्वेताम्बर तथा यापनीय परम्पराम मरणके सत्रह प्रकारोका वर्णन मिलता है। दिगम्बर परम्परामें भगवती आराधनापर आधारित ग्रन्थोमें ही इनका विवरण है।

समवायांगके सत्रहवें अध्यायमें सप्तदशविधमरणका कथन है—

सत्तरसविहे मरणे पण्णत्ते त जहा–आवीईमरणे ओहिमरण आयतियमरणे बलायमरणे वसटटमरण अतोसल्लमरणे तब्भवमरण बालमरणे पंडितमरण बाल पडितमरण छउमत्थमरणे केवलिमरणे वहासमरणे गिद्धपुटठमरण भत्तपच्चक्खाण मरणे इंगिनीमरणे पाओवगमणमरण।

भगवती आराधनाम सत्रह प्रकारके मरणोका उल्लेख करत हुए पाँच प्रकारके मरणोका ही प्रतिपादन किया है।

विजयोदयाम सत्रह मरणोका भी कथन उपलब्ध ह जो इस प्रकार है—

१ **आवीचिकामरण**—प्रतिसमय होन वाले आयुकमके विनाशको आवीचिमरण कहते ह।

२ **तद्भवमरण**—वर्तमान पर्यायका नाश तद्भवमरण ह।

३ **अवधिमरण**—वर्तमान पर्यायको भाति ही भावी पर्यायका मरण होना अवधि मरण है।

४ **आद्यन्तमरण**—वर्तमान मरणसे भाविमरण असमान हो तो वह आद्यन्त मरण है।

५ **बालमरण**—बालके अव्यक्त बाल व्यवहारबाल दशनबाल ज्ञानबाल तथा चारित्रबाल य पाँच भेद हैं। यहाँ दर्शनबालके मरणको बालमरण कहा गया ह क्योंकि सम्यग्दृष्टिम इतर बालपना रहते हुए भी दशनपडितपना रहता ह।

६ **पडितमरण**—पडितके चार भेद हैं व्यवहारपण्डित सम्यक्त्वपडित ज्ञान पडित तथा चारित्रपडित। इनमसे मिथ्यादृष्टि व्यवहारपडितका मरण बालमरण है। अन्य तीन पडितोका मरण पण्डितम ण ह।

७ **ओसण्णमरण**—पार्श्वस्थ स्वछन्द कुशील एव ससक्त आदि शिथिलचारित्र तथा सघसे निष्कासितोका मरण ओसण्णमरण ह।

८ **बालपंडितमरण**—सम्यग्दृष्टि श्रावकका मरण बालपण्डित मरण है।

९ **सशल्यमरण**—मिथ्यादर्शन माया तथा निदान सहित मरण सशल्यमरण है।

---

१ समवायाग—१७ वाँ समवाय।

२ भगवती आराधना गाथा २५—मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे।

१० बलायमरण—प्रशस्तयोग व्रत ध्यान आदिमें प्रमत्तका कारण बलायमरण (बलाकमरण) है। ओसण्णमरण और ससल्लमरणमें नियमसे बलायमरण होता है। इसके अतिरिक्त भी बलायमरण होता है।

११ वसट्टमरण—आर्त-रौद्रध्यानपूर्वक मरण वसट्टमरण है। इसके प्रमुख चार भेद हैं—इन्द्रियवशार्तमरण वेदनावशार्तमरण कषायवशार्तमरण तथा नोकषाय-वशार्तमरण।

१२ विप्पणासमरण—विप्पणास और गिद्धपुट्टमरण दो मरण ऐसे हैं जिनकी आज्ञा और निषेध दोनो नही है। व्रत क्रिया तथा चारित्रमें उपसर्ग होने पर यदि सहन न हो और विराधनाका भय हो तो अन्नपानका त्यागकर मरण करना विप्रणाशमरण है।

१३ गिद्धपुट्ठमरण—अपरोक्त स्थितिमें शस्त्र ग्रहण कर मरण गिद्धपुट्टमरण है।

१४ भत्तपच्चक्खाणमरण—क्रमसे आहार-पानीका त्याग कर मरण करना भक्तप्रत्याख्यानमरण है।

१५ पाउवगमणमरण—मरणके अवसर पर जो स्वय भी वयावृत्य न करें उनका मरणप्रयोपगमन मरण है।

१६ इगिनीमरण—दूसरोसे वैयावृत्य न कराकर धर्मध्यानपूर्वक मरण होना इगिनीमरण है।

१७ केवलिमरण—केवलज्ञान प्राप्त कर मरण केवलिमरण है। यही पण्डित पण्डितमरण है।

समवायांगके वेहायस और छद्मस्थके स्थान पर विजयोदयामे इनके नाम विप्पणास और ओसण्ण हैं।

उत्सर्ग-अपवाद लिंग

भक्तप्रत्याख्यानके अवसरपर योग्य लिंगकी चर्चा करते हुए उत्सर्ग-अपवाद लिंगका प्रसंग आया है। पं आशाधरजीने आचार्या आदिका लिंग अपवादलिंग माना है। आदिसे गृहस्थ समझना चाहिए। यतीनामपवादहेतुत्वादपवाद परिग्रह सो ऽस्यास्तीत्यपवादिकं लिंगं यस्य सोऽपवादिकलिंग सग्रंथचिह्न आर्यादिस्तस्यापि ।[1]

---

[1] मूलाराधनादर्पण

पं सदासुखजी प फूलचन्द्र जी शास्त्री तथा प कैलाशचन्द्र जी आदि उत्सर्ग लिंगका अर्थ मुनिलिंग तथा अपवाद लिंगका अर्थ गृहस्थलिंग करते हैं।

भगवती आराधनाकी गाथाए इस प्रकार हैं—

उस्सग्गियलिगगदस्य लिंगमुस्सिग्गिय तय चेव।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गिय लिंगं॥
जस्स वि अ`वभिचारी दोसो तिटठाणिगो विहारम्मि।
सो वि हु सथारगदा गे`हेज्जोस्सुग्गिय लिंग॥
आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं।
मिच्छजणे सजण वा तस्स हो`ज अववादिय लिंग॥

गाथाओका सरल अर्थ इस प्रकार है —

भक्तप्रत्याख्यानके अवसर पर जो उत्सर्ग लिंगका धारक है उसका तो उत्सर्गलिंग ही होता है। जो अपवादलिंगी ह उसके लिए भी उत्सर्गलिंग प्रशस्त है। अर्थात् अपवादलिंगीको चाहिए कि समाधिमरणके अवसर पर वह अपवाद त्याग कर उत्सर्गको स्वीकार करे।

यहाँ पर अपराजितसूरि स्पष्ट करते हैं कि यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहो ऽपवाद। इससे स्पष्ट है कि यह अपवादलिंग मुनिका ही ह क्योंकि अपवाद उत्सर्ग सापेक्ष होता है निर्वस्त्रता मुनिके लिए उत्सर्ग है तो वस्त्रधारण उसके लिए अपवाद है। गृहस्थ तो वस्त्रधारी ही होता ह अत वस्त्रधारण उसके लिए अपवाद कैसे हो सकता है? इसीलिए प आशाधरजीने अपवादलिंग आर्यादिका कहा है। यद्यपि आराधनाकार व टीकाकार दोनोंकी ही दृष्टिसे यह आर्याका लिंग उत्सर्ग लिंग ही है।

वस्तुत यह उत्सर्ग और अपवादलिंग साधुकी दृष्टिमे ही है। निर्वस्त्र मुनि उत्सर्गलिंगी तथा सवस्त्र मुनि अपवादलिंगी हैं। मुनि और गृहस्थ दोनो भक्तप्रत्याख्यान

---

१ (क) भगवती आराधना प सदासुखजीकृत वचनिका सहित मुनि अनन्तकीर्ति दि जैन ग्रथमाल समिति बम्बई वि स १९८९ गाथा ७९ की व्याख्या।

(ख) पं फूलचन्द्रजीकृत सर्वार्थसिद्धि हिन्दी टीकाकी प्रस्तावना पृ ३६।

(ग) भगवती आराधना भाग १ भूमिका प ३ —यतियोके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते ह इससे यह स्पष्ट है कि अपवादलिंगका धारी गृहस्थ ही होता ह।

२ भगवती आराधना गाथा ७६ ८।

मरण कर सकते हैं अत यहाँ अपवादलिंगीमें सवस्त्र मुनियोंके साथ सवस्त्रताके कारण गृहस्थोंका भी ग्रहण है। इसी कारण प सदासुखजी आदिको भ्रम हुआ है कि गृहस्थ का लिंग अपवादलिंग है।

शिवार्यने साधुओंकी उपधियोंकी चर्चाके प्रसंगमें सयम साधक उपधिके साथ अल्पपरिकर्म तथा बहुपरिकर्म उपधिकी चर्चा की है। दोनों प्रकारकी उपधियोंको छोड़ने वाला ही मुक्ति तथा उत्सर्ग पदका गवेषक साधु कहा गया है—

संजमसाधणमत्तं उपधिं मोत्तूण सेसय उवधिं।
पजहदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्तिं गवेसतो॥
अप्पपरियम्म उवधिं बहुपरियम्मं च दो वि वज्जए।
सज्जासयारादी उस्सग्गपदं गवसतो॥ (गाथा १६४५)

इससे स्पष्ट अन्य उपधि धारण करने वाला मुनि अपवादलिंगी है।

अपराजितसूरिने वसनसहित-लिंग धारीका स्पष्ट उल्लेख किया है— वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखण्डादिकं शोधनीय महत इतरस्य तु पिच्छादिमात्रम्। सवसनो यतिवस्त्रेषु यकालिक्षादिसम्मूर्च्छनजीवपरिहार न विधातुमर्ह।
सचेलके परीषह नहीं होते—

सचेलस्य हि सप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते।

अथालंद परिहारसयम जिनकल्प तथा इंगिनीमरणमें औत्सर्गिक लिंग आवश्यक बताया है।

वस्त्रधारणके कारणोंके विषयमे भी कहा है कि लज्जाल पुरुषलिंगमें दोष और परीषह सहनेमें असमर्थता इन तीन कारणोंसे वस्त्र ग्रहणका विधान है—

भिक्षना ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने वा अक्षम वा गृह्णाति।

अथालंद (आलंद विधि)

भक्तप्रत्याख्यानके अवसर पर भगवती आराधनामें ४ सूत्रोंकी चर्चा है जिनमें एक सूत्र है परिणाम। परिणामके अवसर पर अथालंद परिहारसयम प्रायोपगमन तथा जिनकल्पके उल्लेख हैं जिनकी विस्तृत व्याख्या अपराजितसूरिने की है।

दीर्घकाल तक स्वपरकल्याण करनेके बाद केवल आत्मकल्याणकी भावनासे मुनि

---

१ भगवती आराधना भाग १ पृ ११८।
२ वही पृ ११९।

विचार करते हैं कि मैं अब अथालद भक्तप्रत्याख्यान इंगिनीमरण परिहारविशुद्धि प्रायोपगमन अथवा जिनकल्पमेंसे कौनसी विधि धारण करू ।

शास्त्रज्ञ कृतकृत्य परीषह औ उपसर्गको जीतनेमें समर्थ तथा अपनी शक्तिको न छिपाने वाले मुनि ही अथालंद विधिके योग्य होते हैं। इस अथालद विधिमें क्रम परिणाम सामर्थ्य गुरुविसर्जन प्रमाण स्थापना आचारमार्गणा और आलदमासकल्प का वणन किया गया है।

परिहारविशुद्धि सयमको धारण करनेम असमर्थ तथा अथालदविधिको धारण करनेके इच्छक मनि इसे धारण करत ह। य तीव्र वराग्य ज्ञान तथा दर्शनसे सम्पन्न होते हैं। अपनी सामर्थ्यको अच्छी तरह जानकर और अपनो अल्पायु समझकर आचार्यसे अथालद विधि धारण करनकी आज्ञा लेते हैं।

आचार्य सामर्थ्य परिणाम आदि देखकर अनुमति देते हैं। शरीरसे दुर्बल व धैर्यहीनको आज्ञा नही देन। जिन्ह अनुमति मिल जाती है ऐसे पाच सात अथवा नौ मनि प्रशस्त स्थानमें केशलोच क के गरुके सम्मख दोषोकी आलोचना करके व्रत लेते ह। सयमका आचरण करन हत तीन या पाच साथ साथ साथ रहते हैं।

ये अथालद नामक कल्पमे स्थित मुनि अपनमसे एकको आचार्यरूपम स्थापित करत हैं वही उनके लिए प्रमाण होता है तथा उनकी आलोचना सुनने व दोषोकी शुद्धि करानमे समद्यत होता है।

अथालद मनियोका लिंग औत्सर्गिक लिंग होता है। अर्थात अपवादलिंगी सवस्त्र मनि इस विधिके योग्य नही है। शरीर धारण करनेके लिए आहार व वसति प्रतिलेखन और प्राणिसंयमके लिए पीछी धारण करते हैं।

उनकी विशिष्ट चर्या इस प्रकार ह—ये रोग या चोट लग जानेसे होने वाली वेदनाका प्रतिका नही करते। तपस्यासे थककर सहायका अवलम्बन लेते हैं। वाचनादि नही करते। आठों प्रहर निद्रा याग कर एकाग्र होकर ध्यानका प्रयत्न करते हैं। नीदकी झपकी आन पर उननी नीद ले लेत हैं। नीद न लेनेकी प्रतिज्ञा न होनेसे वहाँ प्रायश्चित्त का विधान नही है।

धैर्यशाली होनेके कारण इनके लिए श्मशानम भी ध्यान वर्ज्य नही है। आवश्यको में प्रयत्नशील रहत हैं। दोनो समय उपकरणोकी प्रतिलेखना करते है।

देवकुलोंम उनके मालिककी आज्ञासे निवास करते हैं जिनके मालिकोंका पता नहीं रहता उन देवकुलोंम देवकुलके मालिक स्वीकृति प्रदान कर कहकर प्रवश करते हैं।

सहसा अतिचार या अशुभ परिणाम होने पर मिथ्या मे दुष्कृतम् कहकर निवृत्त होते हैं दशविध सामाचारमें प्रवर्तित होते हैं।

सघसे निकलकर अथालंद विधि धारण करते हैं। अपना अधिकाधिक समय ध्यानमें व्यतीत करते हैं। इसीलिए सघके साथ इनका दान ग्रहण अनुपालन विनय व वार्तालाप आदि रूप व्यवहार नही होता। आवश्यकता होने पर कोई एक संलाप करता है। जिस क्षेत्रमें सधर्मी होते है उस क्षेत्रम प्रवेश नहीं करते। संभवत इसका कारण यह होगा कि सधर्मियोके साथ वार्तालाप अथवा उपदेश देनेके कारण आत्मकल्याणमें विघ्न उपस्थित हो सकता है। इनका तो अधिकाधिक समय ध्यानम ही बीतता ह। आत्मकल्याणके लिए ही ये मौन धारण करते हैं। माग शंकायुक्त द्रव्य वसतिकाके स्वामीका घर आवश्यक होनेसे केवल इतने ही प्रश्न करते हैं।

ग्रामके बाहर आगतुकोंके लिए जो निवास होता है उसम कल्पस्थित मनिकी आज्ञासे ठहरते ह। पशु पक्षी आदिके कारण जहाँ ध्यानम विघ्न होता है उस स्थानको छोड देते हैं।

आप कौन ह ? कहाँसे आये हैं ? कहाँ जायेंगे ? कब तक ठहरग ? कितन हैं ? आदि प्रश्नोका मैं श्रमण हूँ यही एक उत्तर देते है। जहाँ लोग जानेके लिए कहते हैं ? घरकी रक्षा करो ? आदि वचन व्यवहार जह किय जात हैं वहाँ य मनि नही ठहरते। वसतिकामें आग लग जाने पर समयके अनुसार रहने अथवा चले जानेका निर्णय स्वय करते ह। मार्गमें व्याघ्र सर्प आदिके मिलने पर भी वही रुकने या चले जानेका स्वय निर्णय करते हैं। प्रचण्ड वायु या वर्षा होन पर वही ठहर जाते हैं। परमें कांटा लगने पर अथवा आँखमें धूल चली जान पर उसे निकाल भी लेते है नही भी जबकि परिहारविशद्धि संयममें स्थित मनि नही निकालते।

तृतीय पौरुषीम भिक्षाके लिए निकलत हैं। कृपण याचक पशु पक्षीगणके चले जाने पर पाँचवी पिण्डषणा करते हैं मौन रखत ह।

कोई आकर कह कि धर्मोपदेश करो मैं आपके चरणोम दीक्षा लेना चाहता हूँ तो ऐसा कहने पर वे मनसे भी उसकी चाहना नही करत तब वचन और कायका तो कहना ही क्या ? अन्य मुनि जो उनके सहायक होते ह व उन्हे धर्मोपदेश देकर शिक्षासहित अथवा मण्डन कराकर आचार्यको सौंप देते ह।

क्षेत्रकी अपेक्षा एकसौ सत्तर कर्मभूमिरूप धर्मक्षेत्रोमे ये आलदक मुनि होते हैं। कालकी अपेक्षा सर्वदा होते हैं। चारित्रकी अपेक्षा सामायिक औ छेदोपस्थापना चारित्रमें होते हैं। तीर्थकी अपेक्षा सब तीर्थङ्करोंके तीर्थमें होत हैं। जन्मसे तीस वष तक भोग भोगकर उन्नीस वर्ष तक मनिधर्मका पालन करते हैं श्रुतसे नौ या दस

पूर्वके धारी होते ह । वेदसे पुरुष या नपुसक होते हैं अर्थात् स्त्रियाँ इस विधिको नही धारण करती । लेश्यासे पदम व शुक्ल लेश्यावाले होते हैं । ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं । संस्थानसे छह प्रकारके सस्थानोमेसे किसी एक सस्थानवाले होते हैं । कुछ कम सात हाथसे लेकर पाँचसौ धनुष ऊचे होते हैं । कालसे एक अन्तमहूतसे लेकर कुछ कम पूर्वकोटिकी स्थितिवाले होते ह । उनको विक्रिया चारण और क्षीरास्रवित्व आदि ऋद्धिया उत्पन्न होती हैं किंतु रागका अभाव होनसे उनका सेवन नही करत ।

गच्छ-प्रतिबद्ध आलदक विधि

गच्छमे रहकर भी आलदक विधि धारण की जा सकती है । गच्छ-प्रतिबद्ध आलदककी विधि यह ह कि वे गच्छसे निकलकर एक योजन और एक कोस क्षेत्रमे विहार करते हं । यदि आचार्य (गणधर) शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न होते हैं तो क्षेत्रसे बाहर निकलकर उन्ह अथपद देत ह । आलन्दकोमसे भी जो समथ होते हैं आकर शिक्षा ग्रहण करत ह । परिज्ञान एव धारण गणोसे पूर्ण एक दो अथवा तीन आलन्दक मुनि गुरुके पास जाते हं और उनसे प्रश्नोका समाधान कर अपने क्षेत्रम जाकर भिक्षा ग्रहण करते हैं ।

आचार्य यदि अधिक चलनेमे शक्तिहीन होते हं तो गच्छमें सूत्रार्थपौरुषी करके (अर्थात् सार्थ आगमसत्र वाचना करके) उद्यानमे जाकर जहा आलन्दक मनि निवास करत हं अथपदकी शिक्षा देते ह अथवा उपाश्रयम ही अन्य साधुओको छोडकर एक आलदकको ही उपदेश दत ह । यदि सघ दूसर क्षत्रम विहार करता ह तो अथालंदक मनि भी गुरुकी आज्ञासे उस क्षेत्रको जात ह । जब गच्छ निवासी मुनि क्षेत्रकी प्रतिलेखना करते हैं तब उस मागसे दो अथालदक जाते हैं ।

अथालदक मनि सघसे बाहर रहत ह । अथालद विधि धारण करनेके इच्छक अधिक-से अधिक नौ मुनि एक साथ रहत हैं । व सघसे बाहर रहत ह जो गच्छसे प्रतिबद्ध आलन्दक होते हैं व भी सघसे कुछ दूरी पर रहत है केवल स्वाध्याय आदिके लिए आचार्यके पास जाते हैं अथवा आचार्य इनके पास जाकर उपदेश देते हं । इसीलिए सघके विहार करने पर गुरुकी आज्ञासे ये भी विहार कर जात हैं ।

यह आलन्द (अथालद) विधि दिगम्बर शास्त्रोमें प्राप्त नही होती । इस चर्यासे स्पष्ट है कि ये साधुओकी चर्याम शिथिलाचारसे विरुद्ध थे ।

परिहारसयमविधि

आलद विधिकी अपेक्षा यह परिहारसयम विधि जटिल नही है । जिनकल्प धारण करनेमें असमर्थ तथा परिहारसयमको धारण करनमे समर्थ मनि अपने बल वीर्य आयु

---

१ भगवती आराधना टोका विजयोदया पृ १९७ २ १

सहसा अतिचार या अशुभ परिणाम होने पर मिथ्या मे दुष्कृतम कहकर निवृत्त होते हैं दशविध सामाचारमें प्रवर्तित होते हैं ।

सघसे निकलकर अथालंद विधि धारण करते हैं । अपना अधिकाधिक समय ध्यानमें व्यतीत करते हैं । इसीलिए सघके साथ इनका दान ग्रहण अनुपालन विनय व वार्तालाप आदि रूप व्यवहार नहीं होता । आवश्यकता होने पर कोई एक संलाप करता है । जिस क्षेत्रमें सधर्मी होते हैं उस क्षेत्रमें प्रवेश नहीं करते । संभवत इसका कारण यह होगा कि सधर्मियोंके साथ वार्तालाप अथवा उपदेश देनेके कारण आत्मकल्याणमें विघ्न उपस्थित हो सकता है । इनका तो अधिकाधिक समय ध्यानमे ही बीतता है । आत्मकल्याणके लिए ही ये मौन धारण करते हैं । मार्ग शकायुक्त द्रव्य वसतिकाके स्वामीका घर आवश्यक होनेसे केवल इतने ही प्रश्न करते हैं ।

ग्रामके बाहर आगतुकोंके लिए जो निवास होता है उसम कल्पस्थित मुनिकी आज्ञासे ठहरते ह । पशु पक्षी आदिके कारण जहाँ ध्यानमे विघ्न होता है उस स्थानको छोड देते हैं ।

आप कौन ह ? कहाँसे आये हैं ? कहाँ जायगे ? कब तक ठहरगे ? कितने हैं ? आदि प्रश्नोंका मैं श्रमण हूँ यही एक उत्तर देते ह । जहाँ लोग जानके लिए कहते हैं ? घरकी रक्षा करो ? आदि वचन व्यवहार जह किय जाते है वहाँ ये मनि नही ठहरते । वसतिकामें आग लग जान पर समयके अनुसार रहने अथवा चले जानेका निर्णय स्वय करते है । मार्गम व्याघ्र सर्प आदिके मिलने पर भी वही रुकने या चले जानेका स्वय निणय करते हैं । प्रचण्ड वायु या वर्षा होने पर वही ठहर जाते हैं । परमें काँटा लगने पर अथवा आँखमे धल चली जाने पर उसे निकाल भी लेते हैं नही भी जबकि परिहारविशुद्धि सयममें स्थित मनि नहीं निकालते ।

ततीय पौरुषीमे भिक्षाके लिए निकलते हैं । कृपण याचक पशु-पक्षीगणके चले जाने पर पाँचवी पिण्डषणा करते हैं मौन रखते है ।

कोई आकर कहे कि धर्मोपदेश करो मैं आपके चरणोमें दीक्षा लेना चाहता हूँ तो ऐसा कहने पर वे मनसे भी उसकी चाहना नही करत तब वचन और कायका तो कहना ही क्या ? अन्य मुनि जो उनके सहायक होते है व उन्हें धर्मोपदेश देकर शिखासहित अथवा मण्डन कराकर आचार्यको सौंप देते हं ।

क्षेत्रकी अपेक्षा एकसौ सत्तर कर्मभमिरूप धमक्षेत्रोमें ये आलदक मुनि होते हैं । कालकी अपेक्षा सर्वदा होते हैं । चारित्रकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रमें होते हैं । तीर्थकी अपेक्षा सब तीर्थङ्करोंके तीर्थमें होते हैं । जन्मसे तीस वर्ष तक भोग भोगकर उन्नीस वर्ष तक मनिधर्मका पालन करते हैं श्रुतसे नौ या दस

पूर्वके धारी होत हैं वेदसे पुरुष या नपुसक होते हैं अर्थात् स्त्रियाँ इस विधिको नही धारण करती। लेश्यासे पद्म व शुक्ल लेश्यावाले होते हैं। ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं। सस्थानसे छह प्रकारके सस्थानोमसे किसी एक सस्थानवाले होते हैं। कुछ कम सात हाथसे लेकर पाँचसौ धनुष ऊच होत ह। कालसे एक अन्तमहूर्तसे लेकर कुछ कम पूर्वकोटिकी स्थितिवाले होन हं। उनको विक्रिया चारण और क्षीरास्रवित्व आदि ऋद्धिया उत्पन्न होती ह किंतु रागका अभाव होनेसे उनका सेवन नही करत।

गच्छ-प्रतिबद्ध आलदक विधि

गच्छमे रहकर भी आलदक विधि धारण की जा सकती है। गच्छ-प्रतिबद्ध आलदककी विधि यह है कि व गच्छसे निकलकर एक योजन और एक कोस क्षेत्रमें विहार करते ह। यदि आचार्य (गणधर) शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न होते हैं तो क्षेत्रसे बाहर निकलकर उन्ह अथपद देत ह। आलन्दकोमसे भी जो समर्थ होते हैं आकर शिक्षा ग्रहण क त ह। परिज्ञान एव धारण गुणोसे पूण एक दो अथवा तीन आलन्दक मनि गरुके पास जाते हैं और उनसे प्रश्नोका समाधान कर अपन क्षेत्रमे जाकर भिक्षा ग्रहण करते हैं।

आचार्य यदि अधिक चलनेम शक्तिहीन होत हैं तो गच्छमें सूत्रार्थपौरुषी करके (अर्थात साथ आगमसूत्र वाचना करके) उद्यानमे जाकर जहाँ आलन्दक मनि निवास करते हैं अर्थपदकी शिक्षा देत हैं अथवा उपाश्रयम ही अन्य साधओको छोडकर एक आलदकको ही उपदेश दत ह। यदि सघ दूसर क्षत्रम विहार करता ह तो अथालदक मनि भी गुरुकी आज्ञासे उस क्षत्रको जात ह। जब गच्छ निवासी मुनि क्षेत्रकी प्रतिलेखना करते है तब उस मार्गसे दो अथालदक जाते हं।

अथालदक मुनि सघसे बाहर रहत ह। अथालद विधि धारण करनेके इच्छक अधिक-से अधिक ौ मुनि एक साथ रहत ह। व सघसे बाह रहत ह जो गच्छसे प्रतिबद्ध आलन्दक होत हैं वे भी सघसे कुछ दूरी पर रहत ह केवल स्वाध्याय आदिके लिए आचार्यके पास जात है अथवा आचार्य इनके पास जाकर उपदेश देते है। इसीलिए सघके विहार करन पर गुरुकी आज्ञासे ये भी विहार कर जात ह।

यह आलन्द (अथालद) विधि दिगम्बर शास्त्रोम प्राप्त नही होती। इस चर्यासे स्पष्ट ह कि य साधओकी चर्याम शिथिलाचारके विरुद्ध थे।

परिहारसंयमविधि

आलद विधिकी अपेक्षा यह परिहारसयम विधि जटिल नही है। जिनकल्प धारण करनमें असमथ तथा परिहारसयमको धारण करनेम समर्थ मुनि अपने बल।वीर्य आयु

---

१ भगवती आराधना टोका विजयोदया पृ १९७२ १

और विघ्नोंको जानकर जिनभगवान[1] से हाथ जोडकर विनयपूर्वक पूछते है कि हम आपकी आज्ञासे परिहारसयम धारण करना चाहते हैं। यह सुनकर जिनका ज्ञान उत्कृष्ट नही होता और जिन्हें आज्ञा मिल जाती है वे नि शल्य होकर प्रशस्त स्थानमें लोंच करते हैं तथा गरुओंके सम्मुख आलोचना करके अपने व्रतोंको अच्छी तरह विशद्ध करते हैं। परिहारसयम धारण करने वालोमेसे एक कल्पस्थित मनि (अर्थात परिहारसयम कल्प धारण करने वाले)को सूयका उदय होन पर गुरु रूपसे स्थापित करते हैं। वह उस गणके लिए प्रमाण होता है। वह आलोचना सुनकर शुद्धि करता है। कल्पस्थित आचार्यको छोडकर शेषमें आधे पहले परिहारसंयम ग्रहण करत हैं अत वे परिहारिक कहलात हैं। शेष अनुपहारिक कहलाते हैं वे बादमें परिहार संयम ग्रहण करते ह। यदि तीन परिहारसयम धारणके इच्छक होते हैं। तो उनमेंसे एक गणी दूस । परिहारसयमका धारी और तासरा अनुपहारिक होता ह। यदि पाच होते हैं तो उनमेंसे एक कल्पस्थित गणी दो परिहारसयमके धारी और शेष दो उन दोनोंमेसे प्रत्येकके एक एक अनुपहारिक होता है। यदि सात होते है तो उनम एक कल्पस्थित तीन परिहारिक और शेष तीन अनुपहारिक होत हैं। यदि नौ हों तो एक कल्पस्थित चार परिहारिक और चार अनुपहारिक होते हैं। छह मह ने तक परिहारसयमी परिहारसयममें निविष्ट होता ह। उसके पश्चात अनु हारिक परिहारसयममें निविष्ट होता ह। उसके पश्चात अनुपहारिक परिहारसंयममें प्रविष्ट होता है। उनके भी निविष्ट परिहारिक होने पर अन्य अनुपहारिक परिहार संयममें प्रविष्ट होते हैं। वे भी छह मासम निविष्ट परिहारक हो जात हैं। इसके पश्चात् कल्पस्थित परिहारमें प्रविष्ट होता है। उसका एक अनुपहारिक और एक कल्पस्थित होता है। वह भी छह मासमें निविष्टपरिहारिक होता है। इस प्रकार प्रमाणसे अठारह मासमें परिहारसयम धारण किया जाता है।

यह सब कथन अपराजितसूरिन एक प्राकृत उद्धरण द्वारा किया है।

परिहारसयमी वसति और आहारके सिवाय अन्य तृणासन लकडीका आसन चटाई आदि ग्रहण नही करते। शरीरसे ममत्व छोडकर चार प्रकारके उपसर्गोंको सहते हैं। दृढ धैर्यशाली तथा निरन्त ध्यानमे चित्त लगात हैं। बलवीर्य और गुणों की पूर्णता होते हुए भी सघम बीर्याचारका पालन नही करते। वाचना पच्छना और परिवर्तनोंको छोड़कर सूत्राथ और पोरुषीसे सूत्रार्थका ही चिन्तन करते हैं। आठों

---

१ प्रतीत होता है कि यहां जिन भगवान शब्दसे यह तात्पर्य अभीष्ट है कि जो जिनभगवानके सदृश पूर्ण निर्ग्रन्थ आचार्य मुनि ह उनसे ही आज्ञा लेनका कथन है दूसरी पंक्तिमें इन्हें यतीन्द्र कहा है।

प्रहर निद्रा त्याग कर ध्यान करते हैं। स्वाध्यायकाल और प्रतिलेखना आदि क्रिया उनके नही होती क्योकि श्मशानम भी उनके लिए ध्यानका निषेध नहीं है। यथा समय आवश्यक करत हैं। दोनो समय उपकरणोका शोधन करते हैं। आज्ञा लेकर देवालय आदिम रहते ह। जिन देवालयो आदि स्थानोंके स्वामियोका पता नही होता जिसका होता ह वह हम अनुज्ञा दे कहकर वहा निवास करते है। निकलते और प्रवेश करत समय आसीधिका और निषीधिका करते ह। दश प्रकारके सामाचार करते ह। उपकरण आदि देना लेना अनुपालन विनय वदना वार्तालाप आदि व्यवहार उनका सबके साथ नही होता। गृहस्थ अथवा अन्य लिंगियो द्वारा दी हुई योग्य वस्तुका ग्रहण करते ह। उनके साथ भी शेष सम्बन्ध नहीं होता। उनमसे तीन पाँच सात अथवा नौ सयतोका परस्परम व्यवहार होता है।

कल्पस्थित आचार्य और परिहारसयमी आपसम सघाटदान सघाटग्रहण निवास वदना वार्तालाप आदि व्यवहार करत ह। अनुपहारिक सयमी परिहारसयमीके साथ संवास वदना दान अनुपालना आदि यवहार करते ह। कल्पस्थित भी अनुपरिहार सयमीके साथ यवहार करता है। वदना करन पर धमलाभ कहत हैं। यहा कुछ गाथाए उद्धृत की हैं जिन्हे कल्पोक्त कहा है।

तीन भाषाओको छोडकर सदा मौन रहते हैं। व तीन भाषाए हैं—पूछने पर उत्तर देना मांगना और स्वय पूछना माग पछना शकायुक्त उपकरणके विषयम पूछना वसतिकासे सम्बद्ध शय्याधरका पता पूछना ग्रामके बाहर श्मशान शून्यघर देवालय गुफा आने वालोके लिए बना घर अथवा वृक्षकी खोलमे निवास करते समय हमें अनुज्ञा द एक बार यह कहना पडता है। कौन हो ? कहाँसे आय हो ? कहाँ जाओगे ? यहाँ कितने समय तक ठहराग ? तुम कितन लोग हो इस प्रकारके प्रश्न होने पर हम श्रमण ह यह एक ही उत्तर दते हैं। अन्यत्र चुप रहते हैं। इस स्थानसे चले आओ यह स्थान हम दो जरा घर देखना इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ होता ह वहाँ नही ठहरत। गोचरी यदि नही मिलती तो तीसरे प्रहर दो गव्यूति जाते हैं। यदि वर्षा आँधी आदिसे गमनम बाधा होती है तो जहाँ तक गमन किया है वही ठहर जाते हैं। व्याघ्र आदि पशुओंके आन पर यदि वे भद्र होते हैं तो मुनि चार हाथ चलते हैं और यदि दुष्ट हुये तो एक पग भी नही चलते। नेत्रोम धल चले जान पर या कांटा आदि लग जाने पर स्वय नही निकालते। यदि दूसर निकालत हैं तो चप रहते हैं। नियमसे तीसर प्रहरम ही भिक्षाके लिए जाते है। जिस क्षेत्रमे छह भिक्षाए अपुनरुक्त होती हैं अर्थात भिन्न भिन्न घरोंमें मिल जाती हैं वह क्षेत्र निवासके योग्य होता है शेष अयोग्य होता ह उसे छोड़ देते हैं।

और विघ्नोको जानकर जिनभगवान[1] से हाथ जोडकर विनयपूर्वक पूछते हैं कि हम आपकी आज्ञासे परिहारसयम धारण करना चाहते हैं। यह सुनकर जिनका ज्ञान उत्कृष्ट नहीं होता और जिन्हे आज्ञा मिल जाती है वे नि शल्य होकर प्रशस्त स्थान में लोंच करते हैं तथा गुरुओंके सम्मुख आलोचना करके अपने व्रतोंको अच्छी तरह विशद्ध करते हैं। परिहारसयम धारण करने वालोंमेसे एक कल्पस्थित मनि (अर्थात परिहारसयम कल्प धारण करने वाले)को सूयका उदय होने पर गुरु रूपसे स्थापित करते हैं। वह उस गणके लिए प्रमाण होता है। वह आलोचना सुनकर शुद्धि करता है। कल्पस्थित आचार्यको छोडकर शेषमें आधे पहले परिहारसंयम ग्रहण करते हैं अत वे परिहारिक कहलाते हैं। शेष अनुपहारिक कहलाते हैं वे बादमें परिहार संयम ग्रहण करते हैं। यदि तीन परिहारसयम धारणके इच्छक होते ह। तो उनमेंसे एक गणी दूसरा परिहारसयमका धारी और तीसरा अनुपहारिक होता ह। यदि पाच होते हैं तो उनमेंसे एक कल्पस्थित गणी दो परिहारसयमके धारी और शेष दो उन दोनोमेंसे प्रत्येकके एक एक अनुपहारिक होता है। यदि सात होते हैं तो उनमें एक कल्पस्थित तीन परिहारिक और शेष तीन अनुपहारिक होते हैं। यदि नौ हो तो एक कल्पस्थित चार परिहारिक और चार अनुपहारिक होते हैं। छह महोने तक परिहारसयमी परिहारसयममे निविष्ट होता है। उसके पश्चात् अनुपहारिक परिहारसगममें निविष्ट होता है। उसके पश्चात् अनुपहारिक परिहारसंयममें प्रविष्ट होता है। उनके भी निविष्ट परिहारिक होने पर अन्य अनुपहारिक परिहार संयममें प्रविष्ट होते हैं। वे भी छह मासमे निविष्ट परिहारक हो जाते हैं। इसके पश्चात कल्पस्थित परिहारमें प्रविष्ट होता है। उसका एक अनुपहारिक और एक कल्पस्थित होता है। वह भी छह मासमें निविष्टपरिहारिक होता है। इस प्रकार प्रमाणसे अठारह मासमें परिहारसयम धारण किया जाता है।

यह सब कथन अपराजितसरिन एक प्राकृत उद्धरण द्वारा किया है।

परिहारसयमी वसति और आहारके सिवाय अन्य तृणासन लकडीका आसन चटाई आदि ग्रहण नही करते। शरीरसे ममत्व छोड़कर चार प्रकारके उपसर्गोको सहते हैं। दृढ धैर्यशाली तथा निरन्तर ध्यानमें चित्त लगाते हैं। बलवीर्य और गुणों की पूर्णता होते हुए भी सघमें वीर्याचारका पालन नही करते। वाचना पृच्छना और परिवर्तनोंको छोडकर सूत्राथ और पोरुषीसे सूत्रार्थका ही चिन्तन करते हैं। आठों

---

१ प्रतीत होता है कि यहा जिन भगवान शब्दसे यह तात्पर्य अभीष्ट है कि जो जिनभगवानके सदृश पूर्ण निर्ग्रन्थ आचार्य मनि हैं उनसे ही आज्ञा लेनेका कथन है दूसरी पक्तिमें इन्हें यतीन्द्र कहा है।

प्रहर निद्रा त्याग कर ध्यान करते हैं। स्वाध्यायकाल और प्रतिलेखना आदि क्रिया उनके नही होती क्योंकि श्मशानमे भी उनके लिए ध्यानका निषेध नही है। यथा समय आवश्यक करते हैं। दोनो समय उपकरणोका शोधन करते है। आज्ञा लेकर देवालय आदिमे रहते है। जिन देवालयो आदि स्थानोंके स्वामियोका पता नही होता जिसका होता है वह हमे अनुज्ञा दे कहकर वहा निवास करते है। निकलते और प्रवेश करते समय आसीधिका और निषीधिका करते है। दश प्रकारके सामाचार करते है। उपकरण आदि देना लेना अनुपालन विनय वदना वार्तालाप आदि व्यवहार उनका सघके साथ नही होता। गृहस्थ अथवा अन्य लिंगियो द्वारा दी हुई योग्य वस्तुका ग्रहण करते है। उनके साथ भी शेष सम्बन्ध नही होता। उनमसे तीन पाँच सात अथवा नौ सयतोका परस्परमे व्यवहार होता है।

कल्पस्थित आचार्य और परिहारसयमी आपसमे सघाटदान सघाटग्रहण निवास वदना वार्तालाप आदि व्यवहार करते है। अनुपहारिक सयमी परिहारसयमीके साथ सवास वदना दान अनुपालना आदि व्यवहार करते है। कल्पस्थित भी अनुपरिहार सयमीके साथ व्यवहार करता है। वदना करने पर धर्मलाभ कहते है। यहां कुछ गाथाए उद्धृत की हैं जिन्हे कल्पोक्त कहा है।

तीन भाषाओको छोडकर सदा मौन रहते है। वे तीन भाषाए हैं—पूछने पर उत्तर देना मार्ग ना और स्वय पछना माग पछना शकायुक्त उपकरणके विषयमें पूछना वसतिकासे सम्बद्ध शय्याधरका पता पूछना ग्रामके बाहर श्मशान शून्यघर देवालय गुफा आने वालोके लिए बना घर अथवा वृक्षकी खोलमे निवास करते समय हमें अनुज्ञा दे एक बार यह कहना पडता है। कौन हो ? कहांसे आये हो ? कहाँ जाओगे ? यहाँ कितने समय तक ठहरोगे ? तुम कितने लोग हो इस प्रकारके प्रश्न होने पर हम श्रमण है यह एक ही उत्तर देते हैं। अन्यत्र चुप रहते हैं। इस स्थानसे चले आओ यह स्थान हमे दो जरा घर देखना इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ होता है वहाँ नही ठहरते। गोचरी यदि नहीं मिलती तो तीसरे प्रहर दो गव्यूति जाते हैं। यदि वर्षा आँधी आदिसे गमनमे बाधा होती है तो जहाँ तक गमन किया है वहीं ठहर जाते हैं। व्याघ्र आदि पशुओके आने पर यदि वे भद्र होते हैं तो मुनि चार हाथ चलते हैं और यदि दुष्ट हुये तो एक पग भी नही चलते। नेत्रोमे धूल चले जाने पर या काँटा आदि लग जाने पर स्वय नही निकालते। यदि दूसरे निकालते हैं तो चुप रहते है। नियमसे तीसरे प्रहरमे ही भिक्षाके लिए जाते है। जिस क्षेत्रमे छह भिक्षाए अपुनरुक्त होती हैं अर्थात् भिन्न भिन्न घरोमें मिल जाती हैं वह क्षेत्र निवासके योग्य होता है शेष अयोग्य होता है उसे छोड देते हैं।

क्षेत्रकी अपेक्षासे भरत और ऐरावत क्षेत्रमें प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थमें कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें चारित्रकी अपेक्षा छेदोप स्थापनाचारित्र वाले होते हैं। प्रथम तीर्थङ्करके कालमें उनकी आयु कुछ कम एक पूर्वकोटि और अन्तिम तीर्थङ्करके कालमें एकसौ बीस वर्ष होती है। जन्मसे तीस वर्ष तक भोग भोगते है और मुनि-पर्याय उन्नीस वर्ष होती है। श्रुतसे दश पूर्वके पाठी होते हैं। वेदसे पुरुषवेदी होतो है। लेश्यासे तेज पद्म और शुक्ल लेश्यावाले होते हैं। ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं। आदिके तीन सहनन वाले होते हैं। छह सस्थानोमें कोई एक सस्थान होता है। सात हाथसे लेकर पाच सौ धनुष ऊँचे होते हैं। परिहारसंयमके कालसे जघन्य आयु अठारह मास और उत्कृष्ट आयु परिहार सयम होनेके पूर्वके वर्षोंसे हीन एक पूर्वकोटि होती है। चारण ऋद्धि विक्रिया ऋद्धि और आहारक ऋद्धि आदि ऋद्धियाँ होती है।[1]

परिहारविशुद्धिरूप योगके पूर्ण होनेपर अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान व केवलज्ञान-को प्राप्त होते हैं। मोक्ष भी प्राप्त करते हैं।

जिनकल्प—अथालद तथा परिहारसयमकी अपेक्षा जिनकल्प धारण करना कठिन है। जिनके समान एकाकी विहार करते हैं। अत जिनकल्पी कहलाते हैं। परिषहों-को अत्यत धैर्यसे सहन करते हं। एकाकी विहार ही इनकी परिहारसयमसे भिन्नता है। शेष आचार उसीके समान है।

जिनकल्पी समस्त कर्मभूमियोंमे होते हैं। सब तीर्थंकरोंके तीर्थमे तथा सर्वदा होते हैं। (इस कथनसे स्पष्ट है कि वे श्वेताम्बरोकी भाँति जिनकल्पको व्युच्छिन्न नही मानते।) जन्मसे तीस वर्ष तक तथा मुनिपदसे उन्नीस वर्षके होते हैं। नव-दस पूर्वके पाठी होते हैं। तेज पद्म तथा शुक्ल इन शुभ लेश्याओंके धारी होते हैं। धर्म ध्यानी और शुक्लध्यानी होते हं। प्रथम सहनन (वज्रवृषभनाराचसहनन) होता है। छह सस्थानामसे कोई भी संस्थान हो सकता है। लम्बाई सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष तक होती है। जिनकल्प धारणकी अवधि अन्तर्मुहूर्तसे लेकर यून पूर्वकोटि काल तक हो सकती है। तपसे विक्रिया आहारक चारण और क्षीरास्रवित्व आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं पर विरागी होनेसे उनका उपयोग नही करते। ये अवधि ज्ञान मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान तक प्राप्त करते हैं।[2]

भक्तप्रत्याख्यान—सत्रह प्रकारके मरणोंमे पण्डितमरणके तीन भेद हैं—प्रायोपगमन भक्तप्रत्याख्यान तथा इंगिनीमरण। इनमेंसे भक्तप्रत्याख्यान ही इस कालमें सभव है।

---

१ भगवती आराधना भाग १ (विजयोदया सहित) पृ २१५।

२ भगवती आराधना भाग १ (विजयोदया सहित) पृ २०५।

अत उसीका विस्तृत वर्णन भगवती आराधनामें किया गया है। भक्तप्रत्याख्यान अथवा भक्तपरिज्ञा मरणके अधिकारी साधु साध्वी श्रावक श्राविका सभी हैं। अस्वस्थता उपसर्ग आदिके कारण सहसा उपस्थित मरणके समय आराधनापूर्वक मरण अविचारभक्तप्रत्याख्यान है। पूर्व निश्चय कर निर्यापकाचार्यको खोजकर क्रम-क्रमसे भोजन पानका त्याग सविचारभक्तप्रत्याख्यान है। भक्तप्रत्याख्यान ही इस कालके योग्य है। इसे स्त्री पुरुष श्रावक-साधु सभी कर सकत हैं। इसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष है।

अविचारभक्त प्रत्याख्यान

अविचारभक्त प्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—निरुद्ध निरुद्धतर तथा निरुद्धतम। रोगाक्रान्त होनसे दूसरे सघमे जानेकी शक्ति न होनेके कारण जो अपने ही सघमें रहता है तथा शक्ति रहते अपनी परिचर्या दूसरेसे नही कराता। शक्तिहीन होनेपर सघके द्वारा परिचर्या क ाता है वह मुनि निरुद्धभक्तप्रत्याख्यान करता है।

अपन ही सघमे निरुद्ध होनसे यह निरुद्धमरण है। सर्प आग व्याघ्र चोर मर्च्छा विसूचिका आदिके कारण त काल मरण उपस्थित हो तो जब तक बोली बन्द न हो शरीरमे शक्ति शेष रहे तीव्र वदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो तब तक समीपस्थ आचार्य आदिके सम्मुख दोषोकी आलोचना करके रत्नत्रयको आराधना कर। उपधियों शरीर व परिचारकोमे ममत्व याग दे। यह विधि निरुद्धतरभक्त प्रत्याख्यानकी है।

जब सर्पदश आदि आकस्मिक कारणोसे वाणी एकाएक अवरुद्ध हो जाती ह तब अरहत सिद्धका स्मरण करते हुए अपनी तत्काल आलोचना करने वाले साधु परम निरुद्धभक्तप्रत्याख्यान धारण करते है।

यह अविचारभक्तप्र याख्यान प्रकाश और अप्रकाशरूप दो प्रकारका होता है।[२] यदि क्षपकका मनोबल कम हो अथवा स्वजन आदि विघ्न उपस्थित करने वाले हो तो समाधिको प्रकट नही किया जाता। यदि क्षपक परीषह सहिष्णु हो वसति एकान्तमे हो ग्रीष्म आदि ऋतु न हो परिवारके जन विघ्न उपस्थित न करते हो तो समाधिको प्रकट किया जा सकता है।[३] लोकमें जिनका समाधिमरण प्रकट हो जाए वह प्रकाश है और जिनका विख्यात न हो वह अप्रकाश है। इस प्रकार शिवार्यने परमनिरुद्धके दो भदोका प्रतिपादन किया है।

---

१ २ ३ भगवती आराधना गाथा २५९

क्षेत्रकी अपेक्षासे भरत और ऐरावत क्षेत्रमें प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थमें कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें चारित्रकी अपेक्षा छेदोप स्थापनाचारित्र वाले होते हैं। प्रथम तीर्थङ्करके कालमे उनकी आयु कुछ कम एक पूर्वकोटि और अन्तिम तीर्थङ्करके कालमें एकसौ बीस वर्ष होती है। जन्मसे तीस वर्ष तक भोग भोगते हैं और मुनि पर्याय उन्नीस वर्ष होती है। श्रुतसे दश पूर्वके पाठी होते हैं। वेदसे पुरुषवेदी होतो है। लेश्यासे तेज पद्म और शुक्ल लेश्यावाले होते हैं। ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं। आदिके तीन संहनन वाले होते हैं। छह संस्थानोंमें कोई एक संस्थान होता है। सात हाथसे लेकर पाच सौ धनुष ऊचे होते हैं। परिहारसंयमके कालसे जघन्य आयु अठारह मास और उत्कृष्ट आयु परिहार सयम होनेके पूर्वके वर्षोंसे हीन एक पूर्वकोटि होती ह। चारण ऋद्धि विक्रिया ऋद्धि और आहारक ऋद्धि आदि ऋद्धियाँ होती हैं।

परिहारविशुद्धिरूप योगके पूर्ण होनेपर अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान व केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं। मोक्ष भी प्राप्त करते हैं।[1]

जिनकल्प—यथालन्द तथा परिहारसयमकी अपेक्षा जिनकल्प धारण करना कठिन है। जिनके समान एकाकी विहार करते हैं। अत जिनक पी कहलाते हैं। परिषहों को अत्यत धैर्यसे सहन करते हैं। एकाकी विहार ही इनकी परिहारसयमसे भिन्नता है। शेष आचार उसीके समान है।

जिनकल्पी समस्त कर्मभूमियोंमे होते हैं। सब तीर्थंकरोंके तीर्थमे तथा सर्वदा होते हैं। (इस कथनसे स्पष्ट ह कि वे श्वेताम्बरोंकी भाँति जिनकल्पको व्युच्छिन्न नही मानते।) जन्मसे तीस वर्ष तक तथा मुनिपदसे उन्नीस वर्षके होते हैं। नव-दस पूर्वके पाठी होते हैं। तेज पद्म तथा शुक्ल इन शुभ लेश्याओंके धारी होते हैं। धर्म ध्यानी और शुक्लध्यानी होते हैं। प्रथम संहनन (वज्रवृषभनाराचसंहनन) होता है। छह संस्थानोंमेंसे कोई भी संस्थान हो सकता है। लम्बाई सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष तक होती है। जिनकल्प धारणकी अवधि अन्तर्मुहूर्तसे लेकर न्यून पूर्वकोटि काल तक हो सकती है। तपसे विक्रिया आहारक चारण और क्षीरास्रवित्व आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं पर विरागी होनसे उनका उपयोग नहीं करते। ये अवधि ज्ञान मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान तक प्राप्त करते हैं।[2]

भक्तप्रत्याख्यान—सत्रह प्रकारके मरणोंमे पण्डितमरणके तीन भेद हैं—प्रायोपगमन भक्तप्रत्याख्यान तथा इंगिनीमरण। इनमेंसे भक्तप्रत्याख्यान ही इस कालमें संभव है।

---

१ भगवती आराधना भाग १ (विजयोदया सहित) पृ २ १ ५।

२ भगवती आराधना भाग १ (विजयोदया सहित) पृ २ ५।

अत इसीका विस्तृत वर्णन भगवती आराधनामें किया गया है। भक्तप्रत्याख्यान अथवा भक्तपरिज्ञा मरणके अधिकारी साधु साध्वी श्रावक श्राविका सभी हैं। असमर्थता उपसर्ग आदिके कारण सहसा उपस्थित मरणके समय आराधनापूर्वक मरण अविचारभक्तप्रत्याख्यान है। पूर्व निश्चय कर निर्यापकाचार्यको खोजकर क्रम-क्रमसे भोजन पानका त्याग सविचारभक्तप्रत्याख्यान ह। भक्तप्रत्याख्यान ही इस कालके योग्य है। इसे स्त्री पुरुष श्रावक-साध सभी कर सकत ह। इसका उत्कृष्ट काल १२ वष ह।

अविचारभक्त प्रत्याख्यान

अविचारभक्त-प्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—निरुद्ध निरुद्धतर तथा निरुद्धतम। रोगाक्रान्त होनसे दूसरे सघमे जानेकी शक्ति न होनेके कारण जो अपने ही सघमें रहता है तथा शक्ति रहत अपनी परिचर्या दूसरेसे नही कराता। शक्तिहीन होनपर सघके द्वारा परिचर्या क ाता है वह मनि निरुद्धभक्तप्रत्याख्यान करता है।

अपने ही सघमें निरुद्ध होनेसे यह निरुद्धमरण है। सप आग व्याघ्र चोर मूर्च्छा विसूचिका आदिके कारण त काल मरण उपस्थित हो तो जब तक बोली बन्द न हो शरीरम शक्ति शेष रहे तीव्र वदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो तब तक समीपस्थ आचार्य आदिके सम्मख दोषोकी आलोचना करके रत्नत्रयकी आराधना कर। उपधियो शरीर व परिवारकोम ममत्व याग दे। यह विधि निरुद्धतरभक्त प्रत्याख्यानकी है।

जब सर्पदंश आदि आकस्मिक कारणोसे वाणी एकाएक अवरुद्ध हो जाती ह तब अरहत सिद्धका स्मरण करते हुए अपनी तत्काल आलोचना करने वाले साध परम निरुद्धभक्तप्रत्याख्यान धारण करते है।

यह अविचारभक्तप्र याख्यान प्रकाश औ अप्रकाशरूप दो प्रकारका होता है।[२] यदि क्षपकका मनोबल कम हो अथवा स्वजन आदि विघ्न उपस्थित करन वाले हो तो समाधिको प्रकट नही किया जाता। यदि क्षपक परीषह सहिष्णु हो वसति एकान्तमे हो ग्रीष्म आदि ऋतु न हो परिवारके जन विघ्न उपस्थित न करते हो तो समाधिको प्रकट किया जा सकता है।[३] लोकमें जिनका समाधिमरण प्रकट हो जाए वह प्रकाश है और जिनका विख्यात न हो वह अप्रकाश है। इस प्रकार शिवार्यने परमनिरुद्धके दो भदोका प्रतिपादन किया है।

---

१ २ ३ भगवती आराधना गाथा २५९

इंगिनीमरण—इंगिनीमरणका अधिकारी रत्नत्रयमें लगे दोषोंकी आलोचना करके संघसे निकलकर गुफाके अन्दर अथवा जीवरहित कठिन भूमि प्रदेशमें जमीनपर अथवा शिलापर एकाकी आश्रय लेता है। अपने शरीरके सिवाय उसका कोई सहायक नहीं होता। गाँव या नगरमे तृणोंकी याचना करता है तथा छिद्ररहित कोमल शरीरस्थितिके लिए साधन प्रतिलेखना योग्य तृणोंको भूमि प्रदेशपर सावधानीसे पृथक्-पृथक करके फैला देता है। समस्त प्रकारके आहारके विकल्प आभ्यन्तर व बाह्य परिग्रहको त्यागकर लेश्याविशुद्धिसे सम्पन्न हो धर्मध्यान करता है। उपसर्ग रहित अवस्थामे स्वयं अपने शरीरकी परिचर्या करता है। उपसर्ग होनेपर प्रतीकार रहित होकर उसे सहन करता है। वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ संहननोंमें कोई एक सहनन तथा समचतुरस्रसंस्थान धारण करता है। कठोरतम उपसग सहन करता है। अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें लीन रहता है। निद्रा-त्यागी होता है। बलात् निद्रा आनेपर सो लेता है। पैरमें काँटा चुभन तथा आँखमें धल गिरनेपर स्वय दूर नही करता। कोई दूसरा दर करता है तो चुप रहते हैं। इनके लिए श्मशानमें भी ध्यान निषिद्ध नहीं है। कुछ आचार्योंके अनुसार देवों या मनुष्योंके आग्रह करनेपर थोडा धर्मोपदेश भी देते हैं।[1]

प्रायोपगमन—प्रायोपगमनकी विधि इंगिनीमरणके समान ही है। इसमें उससे अधिक उत्कृष्ट तपश्चर्या है। तृणोके सस्तरका भी निषेध है। भक्तप्रत्याख्यानमें स्वकृत तथा परकृत दोनों परिचर्या सभव हैं। इंगिनीमरणमें परकृत परिचर्याका निषध है। प्रायोपगमनमे स्वकृत तथा परकृत दोनो ही परिचर्याओंका निषेध है। यदि उन्हें जलमे फेंक दिया जाता है तो वे वैसेही पड़े रहते हैं। उपसर्ग अवस्थामें एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थानमें डाल दिये जानेपर यदि वह वहीं मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं और ऐसा नही होनेपर पूर्व स्थानमें ही मरण हो तो वह अनीहार कहाता है। जिनकी आयुका काल अल्पशेष रहता है वे प्रतिमायोग धारण करके प्रायोपगमन करते हैं और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इंगिनीमरण करते हैं।[2]

श्रेष्ठ मरणके लिए जीवनकालसे ही मनको तैयार करना तथा अन्तमे शरीरसे व संसारसे विरक्त होकर तटस्थवृत्तिसे मरण करना ही समाधिमरण है। समाधिमरण नष्ट होते हुए शरीरका समतापूर्वक त्याग है।

---

१ भगवती आराधना गाथा २०३९–२०५५

२ भगवती आराधना गाथा २०५९–२०६५

तीर्थङ्करोंके धममे विभिन्नता

यापनीयोंके अनसार प्रथम व अन्तिम तीथङ्करोंके धर्मसे मध्यके तीर्थङ्करोके धर्ममें कतिपय अन्तर ह।

(१) मलाचारकारके अनुमार बाईस तीर्थङ्करोने सामायिक सयमका उपदेश दिया तथा ऋषभदेव तथा अन्तिम तीथङ्कर महावीरने छेदोपस्थापना सयमका उपदेश दिया।[1]

(२) प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्करने पच महाव्रतोका उपदेश दिया जबकि अन्य तीथङ्करोंने ब्रह्मचर्यको अपरिग्रहमे गर्भित करके चतुर्याम धमका उपदेश दिया। पंच महाव्रतोका उपदेश कथन करने विभाजन करन तथा जाननेके लिए सरल होता है।

(३) प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके धर्मंम अपराध हो चाहे न हो प्रतिक्रमण आवश्यक बतलाया गया ह किंतु म यके तीथङ्करोके धर्ममें अपराध होन पर ही प्रतिक्रमणका उपदेश ह। आगे और स्पष्ट कहा गया है कि ईर्यासमिति गोचरीवृत्ति और स्वप्न आदिम दोष हो चाहे न हो प्रथम और अन्तिम तीथङ्करोंके कालमे सभी मुनि सब दोषोके लिए अनिवाय प्रतिक्रमण करत हैं। मध्यम तीथङ्करोके शिष्य दोष होने पर आलोचना करके शुद्ध होत हैं।

अपराजितसूरि विजयोदयाम अ यत्रसे दो गाथाओको उदधृत करते हुए प्रतिक्रमणके भदोंका निद न करत हं—

> आलोयणा दुदिवसिग रादिग ्त्तिरियभिक्खचरिया य।
> पक्खिय चाउम्मासिय सव छर उत्तमटठेय ॥
> पडिकमण रादिग देवसिग इत्तिरिय भिक्खचरिया य।
> पक्खिय चाउम्मासिय सवच्छर उत्तमयटठेय ॥

आलोचना और प्रतिक्रमणके रात्रिक दवसिक पाक्षिक चातुर्मासिक सावत्सरिक

---

१ बावीस ति थयरा सामायियसजम उवदिसति।
छेदुवठाणिय पुरा भयव उसहो य वीरो य ॥ ७/३६

२ आचक्खिदु विभजि, विण्णादु चावि सुहदर होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पच पण्णत्ता ॥ ७/३७

३ सपडिकम्मो धम्मो पुरिमस्स पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराह पाडक्मण मज्झिमयाणं जिणवराण ॥ ७/१२९

४ भगवती आराधना विजयोदया प ३३२।

इंगिनीमरण—इगिनीमरणका अधिकारी रत्नत्रयमें लगे दोषोंकी आलोचना करके संघसे निकलकर गुफाके अन्दर अथवा जीवरहित कठिन भूमि प्रदेशमें जमीनपर अथवा शिलापर एकाकी आश्रय लेता है। अपने शरीरके सिवाय उसका कोई सहायक नही होता। गाँव या नगरमें तृणोंकी याचना करता है तथा छिद्ररहित कोमल शरीरस्थितिके लिए साधन प्रतिलेखना योग्य तृणोंको भूमि प्रदेशपर सावधानीसे पृथक्-पृथक करके फैला देता है। समस्त प्रकारके आहारके विकल्प आभ्यन्तर व बाह्य परिग्रहको त्यागकर लेश्याविशुद्धिसे सम्पन्न हो धर्मध्यान करता है। उपसर्ग रहित अवस्थामे स्वय अपने शरीरकी परिचर्या करता है। उपसर्ग होनेपर प्रतीकार रहित होकर उसे सहन करता है। वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ संहननोंमें कोई एक सहनन तथा समचतुरस्रसस्थान धारण करता है। कठोरतम उपसग सहन करता है। अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें लीन रहता है। निद्रा त्यागी होता है। बलात् निद्रा आनेपर सो लेता है। पैरमे काँटा चुभने तथा आँखमें धल गिरनेपर स्वय दूर नही करता। कोई दूसरा दूर करता है तो चुप रहते हैं। इनके लिए श्मशानमे भी ध्यान निषिद्ध नही है। कुछ आचार्योंके अनुसार देवो या मनुष्योंके आग्रह करनेपर थोडा धर्मोपदेश भी देते है।

प्रायोपगमन—प्रायोपगमनकी विधि इगिनीमरणके समान ही है। इसमें उससे अधिक उ कृष्ट तपश्चर्या है। तृणोके सस्तरका भी निषेध है। भक्तप्रत्याख्यानमें स्वकृत तथा परकृत दोनो परिचर्या सभव हैं। इगिनीमरणमें परकत परिचर्याका निषेध है। प्रायापगमनम स्वकृत तथा परकृत दोनो ही परिचर्याओका निषेध है। यदि उन्हें जलम फक दिया जाता है तो वे वसेही पड़े रहते हैं। उपसर्ग अवस्थाम एक स्थान से उठाकर दूसर स्थानमें डाल दिये जानेपर यदि वह वही मरण करता है तो उसे नीहार कहत हैं और ऐसा नही होनेपर पूर्व स्थानमें ही मरण हो तो वह अनीहार कहाता है। जिनकी आयुका काल अल्पशष रहता है वे प्रतिमायोग धारण करके प्रायोपगमन करते हैं और कुछ दीर्घकाल तक बिहार करत हुए इगिनीमरण करते हैं।

श्रेष्ठ मरणके लिए जीवनकालसे ही मनको तैयार करना तथा अन्तमें शरीरसे व संसारसे विरक्त होकर तटस्थवृत्तिसे मरण करना ही समाधिमरण है। समाधिमरण नष्ट होते हुए शरीरका समतापूवक त्याग है।

---

१ भगवती आराधना गाथा २ ३५–२ ५५

२ भगवती आराधना गाथा २ ५९–२०६५

तीर्थङ्करोंके धममे विभिन्नता

यापनीयोके अनुसार प्रथम व अन्तिम तीर्थङ्करोंके धर्मसे मध्यके तीर्थङ्करोंके धर्ममें कतिपय अन्तर है।

(१) मूलाचारकारके अनुमार बाईस तीर्थङ्करोन सामायिक सयमका उपदेश दिया तथा ऋषभदेव तथा अन्तिम तीथङ्कर महावीरने छेदोपस्थापना सयमका उपदेश दिया।

(२) प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्करने पच महाव्रतोका उपदेश दिया जबकि अन्य तीथङ्करोने ब्रह्मचर्यको अपरिग्रहमें गर्भित करके चतुर्याम धमका उपदेश दिया। पच महाव्रतोका उपदेश कथन करन विभाजन करन तथा जाननेके लिए सरल होता है।

(३) प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके धर्ममें अपराध हो चाहे न हो प्रतिक्रमण आवश्यक बतलाया गया है किंतु मध्यके तीर्थङ्करोंके धर्ममें अपराध होन पर ही प्रतिक्रमणका उपदेश है।[३] आगे और स्पष्ट कहा गया है कि ईर्यासमिति गोचरीवृत्ति और स्वप्न आदिमें दोष हो चाहे न हो प्रथम और अन्तिम तीथङ्करोंके कालमे सभी मुनि सब दोषोके लिए अनिवार्य प्रतिक्रमण करते हैं। मध्यम तीर्थङ्करोके शिष्य दोष होने पर आलोचना करके शुद्ध होत हैं।

अपराजितसूरि विजयोदयाम अन्यत्रसे दो गाथाओको उद्धृत करते हुए प्रतिक्रमणके भदोका निदश करते हैं—

आलोयणा दुदिवसिग रादिग इत्तिरियभिक्खचरिया य।
पक्खिय चाउम्मासिय सवच्छर उत्तमटठेय ॥
पडिकमण रादिग देवसिग इत्तिरिय भिक्खचरिया य।
पक्खिय चाउम्मासिय सवच्छर उत्तामयटठेय ॥

आलोचना और प्रतिक्रमणके रात्रिक दवसिक पाक्षिक चातुर्मासिक सावत्सरिक

---

१ *बावीस तित्थयरा सामायियसजम उवदिसति।*
छेदुवठाणिय पुरा भयव उसहो य वीरो य ॥ ७/३६

२ आचक्खिदु विभजिदु विण्णादु चावि सुहदर होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पच पण्णत्ता ॥ ७/३७

३ सपडिकम्मा धम्मो पुरिमस्स पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिक्रमण मज्झिमयाणं जिणवराण ॥ ७/१२९

४ भगवती आराधना विजयोदया पृ ३३२।

रहस्यभेद करने पर क्षपक द्वेषी होकर साधुका घात कर सकता है अथवा गणमें फूट डाल सकता है। साथ ही गणके अन्य साधु भी आचार्यके दोष-कथनसे भीत होकर गणसे अलग हो सकते हैं अथवा आचार्यका त्याग कर सकते हैं। संघ विरुद्ध होकर आचार्यपद छीन सकता है। इस प्रकार शिष्योंके दोष-कथन करने पर मिथ्यादृष्टि श्रमणोंको धिक्कारेंगे इस प्रकार मिथ्यात्वकी आराधना होगी। इस प्रकार शिष्योंके रहस्योंको गुप्त रखने वाला आचार्य अपरिश्रावी होता है।

८ निर्यापक—सस्तर या भोजन पान क्षपकके मनोनुकूल न होने पर अथवा उसमें विलम्ब करने पर निर्यापकोंके वैयावृत्यमें प्रमाद करने पर अथवा सल्लेखना विधिसे अनजान नवीन साधुओके कठोर और प्रतिकूल वचनोसे क्षपक कुपित हो सकता है अथवा शीत उष्ण भूख प्याससे पीड़ित होनेसे तीव्र वेदनासे क्षपक कुपित हो सकता है और मर्यादा तोड़नेकी इच्छा कर सकता है। इस स्थितिमे विचलित न होने वाले क्षमाशील तथा मानरहित आचार्य सतोष वचन कहते हुए उस कुपित अथवा मर्यादाको तोडनेके इच्छुक क्षपकके चित्तको शान्त करता है, वह आचार्य निर्वापक होता है। उसे निष्कषाय होना चाहिए। वह रत्नकरण्डकके समान श्रुतको हृदयमे धारण करता है अर्थात् श्रुतकेवली होता है तथा वक्ता विनयी वैयावृत्य करने वाला स्वाभाविक बुद्धिसम्पन्न व जितेन्द्रिय महात्मा होता है। समस्त श्रुतका ज्ञाता नही है ऐसा आचार्य भी निर्वापक हो सकता है। निर्वापक आचार्य स्निग्ध मधुर गम्भीर व मनको प्रसन्नता तथा कानोंको सुख देने वाली कथा कहते हैं जिससे क्षपकको पहले अभ्यास किये हुए श्रुतके अर्थका स्मरण होता है।

इन गुणोंसे युक्त आचार्य निर्यापकाचार्य होता है जैसे नौका चलानेका अभ्यासी बुद्धिमान नाविक तरंगोंसे क्षुभित समुद्रसे रत्नोसे भरे जहाजको धारण करता है वैसे ही निर्यापक आचार्य संयम और गुणोंसे पूर्ण किंतु परीषहरूप लहरोसे चचल और तिरछे हुए क्षपकरूप जहाजको मधुर और हितकारी उपदेशोंसे धारण करता है उसका संरक्षण करता है।[४]

निर्यापकाचार्यके छत्तीस गुण

आचारवत्व आदि आठ गुण दस प्रकारका स्थितिकल्प बारह तप छह आवश्यक ये छत्तीस गुण भगवती आराधनामें बताये गये हैं। विजयोदया टीकामें आठ ज्ञाना

१ भगवती आराधना गाथा ४८८ ९७।
२ भगवती आराधना गाथा ४९८५ ४।
३ वही गाथा ५ ५५ ८।
४ वही गाथा ५२८।

चार आठ दर्शनाचार बारह प्रकारका तप पाच समिति तथा तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण बताये गये हैं।

पं आशाधरजीन पहले विजयोदयाके अनुसार छत्तीस गुण बतलाकर फिर किसी प्राकृत टीकाके अनुसार २८ मूलगुण और आचारवत्व आदि आठ इस तरह छत्तीस बतलाये हैं। यदि वा लिखकर दस आलोचना गुण दस प्रायश्चित्त गुण दस स्थितिकल्प छह जीतगुण इस त ह छत्तीस गुण बताय गय हैं। भगवती आराधना की छत्तीस गण प्र पादक गाथाको प्रक्षिप्त ही बताया गया ह।

भगवती आराधनाकी गाथा यदि प्रक्षिप्त है तो विजयोदया टीकाके अनुसार आठ ज्ञानाचार आठ दर्शनाचार बारह प्रकारका तप पाच समिति तीन गुप्ति इन्हें यापनीयसम्मत छत्तीस गुण मानना चाहिए। विजयोदयामें भिन्न छत्तीसगुणोक प्रति पादनसे इस गाथाको प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए। इसके पूर्व की ५२७ वी गाथाके छत्तीसगणसमण्णागदेण शब्दको याख्याम अपराजितसूरिने छ तीस गुणोंका नाम निर्देश किया है।

अडतालीस निर्यापक

अडतालीस निर्यापक यति क्षपकके समाधिमरणमें सहयोगी होत ह। ये निर्यापक वे होते ह जिन्ह धर्म प्रिय है जो धर्मम स्थिर ह ससारसे भीरु हैं पापसे डरते हैं धर्यवान हैं अभिप्रायको जानते ह विश्वासके योग्य हैं प्रत्याख्यानके क्रमको जानत ह योग्यायोग्यके विवेकम कुशल होते हैं क्षपकके चित्तको समाहित करनमे प्रयत्नशील रहत है जिन्होने प्रायश्चित्त ग्र थोको सुना है जो सत्रके अर्थको हृदयसे स्वीकार किये ह अपन और दसरोके उद्धार करनेके माहात्म्यसे शोभित हैं। एसे अडतालीस निर्यापक यति क्षपकके समाधिमरणम सहयोगी होत ह।

इनमसे चार पर्‍ि चारक मनि क्षपकके आमर्शन (शरीरके एक हिस्सेका स्पश परिमशन (समस्त शरीरके स्पश) चक्रमण (इधर उधर जाने) शयन बठने खडे होन उद्वतन परावर्तन करवट बदलन हाथ पाव पसारन और सिकोडनम सहायता करत ह।

चार परिचारक मनि विकथा याग कर धमकथा कहते हैं। नाना कथाओम कुशल व परिचारक यतिको प्रिय मधर सुखदायक हितकारी कथा निर तर कहते हैं। ज्ञान व चारित्रके उपदशवाली आक्षपिणी कथा क्षपकके योग्य होती ह। परसमय का निरसन कर स्वमतकी चर्चा होनम विक्षपिणी कथा क्षपकको उपयोगी नही ह

१ विजयादया पृ ३८८।

२ आचाय कुन्दकुन्दन प्रवचनसार ३/२१ म छेदोपस्थापना देन वाले आचार्यको निर्यापक कहा है।

क्योंकि क्षपक मरणके समय रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर होता है उसके लिए वह कथा अनायतन है। संवेजनी और निवेदनी कथा उपयोगी होती है।

चार परिचारक यति उस क्षपकके लिए उद्गमादि दोषोंसे रहित इष्ट भोजन बिना ग्लानिके लाते हैं। वे अमायावी तथा मोह व अन्तराय कर्मोंका क्षयोपशम होनेसे भिक्षालब्धिसे युक्त होते हैं। ऐसे ही चार परिचारक मुनि क्षपकके लिए ग्लानिके बिना दोषरहित पानक लाते हैं।

चार यति प्रयत्नपूर्वक उस आनीत भोजन-पानकी रक्षा करते हैं।

चार मुनि क्षपकके सब मल मूत्र उठानेका कार्य करते हैं। सूर्यके उदय तथा अस्त होनेके समय वसति उपकरण व संथरकी प्रतिलेखना करते हैं।

चार यति सावधानीपूर्वक क्षपकके घरके द्वारकी असंयमियों आदिके प्रवेशसे रक्षा करते हैं। अन्य चार यति समवशरण द्वारकी रक्षा करते हैं। निद्राजयी अथवा निद्रा जय करनेके इच्छुक चार यति रात्रिमें जागरण करते हैं। चार मुनि उस क्षेत्रकी प्रवृत्तियोंकी परीक्षा करते हैं कि समाधिमें कोई बाधा आनेका तो खतरा नहीं है।

क्षपकके आवासके बाहर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तके ज्ञाता चार यति क्रमसे एक एक करके सभामें धर्म सुननेके लिए आते हुए श्रोताओंको चार कथाएं इस प्रकार कहते हैं कि क्षपकको सुनाई न दे।

शास्त्रज्ञ और वादी चार मुनि धर्मकथा करने वालोंकी रक्षाके लिए सभामें सिंहके समान विचरते हैं।

इस प्रकार माहात्म्यशाली अड़तालीस निर्यापक यति क्षपककी समाधिमें उत्कृष्ट प्रयत्नशील रहते हुए क्षपकको संसार-समुद्रसे निकालनेके लिए प्रेरित करते हैं।

इस प्रकार उत्कृष्टतासे अड़तालीस निर्यापक होते हैं। कालके परिवर्तनसे जिस प्रकारके शोभनीय गुण संभव है वे ही निर्यापक होते है। देश कालके अनुसार सावधानीपूर्वक चार चार निर्यापक कम करते जाना चाहिए। कम-से कम दो निर्यापक अवश्य होना चाहिए। एक निर्यापक न तो आत्महित कर सकता है और न क्षपकका हित। निर्यापक आहार आदिके लिए गया तो क्षपक अयोग्य सेवन कर सकेगा। समीपमें निर्यापक न होनेसे क्षपकका समाधिके बिना मरण हो सकता है।

शारीरिक स्थिति जब गोचरी करनेमें असमर्थ हो जाती है तब क्षपकको संस्तरारूढ़ किया जाता है। उस स्थितिमें मरणासन्न साधकके लिए यह व्यवस्था थी कि मरणसमाधि कराने वाले निर्यापक यति उसके लिए विधिपूर्वक खान पान लावे और विधिपूर्वक देवे।

१ भगवती आराधना गाथा ६४६ ६८७।

दशस्थितिकल्प

श्वेताम्बर तथा यापनीय परम्पराम दश स्थितिकल्पोकी चर्चा है। मलाचार भगवती आराधना और विजयोदयामें इनका विस्तृत वर्णन ह। ये दश स्थितिकल्प हैं आचेलक्य उद्दिष्टत्याग शय्याधरपिण्डत्याग राजपिण्डत्याग कृतिकर्म व्रत पुरुषज्येष्ठता प्रतिक्रमण मास और पर्युषण। विजयोदयाके अनुसार इनमें आचेलक्य उद्दिष्टत्याग और प्रतिक्रमण[३] केवल प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके तीथमें ही आवश्यक है। मध्यके तीथकरोके कालम य आवश्यक नही हैं। प्रतिक्रमणके विषयमें मलाचारम भी यहा कहा गया है।

वर्तमान कालमें अर्थात् महावीरके तीर्थम सभी अवश्य करणीय होनसे स्थितिकल्प हैं परन्तु जिस प्रकार आचेलक्यके स्थितकल्प होने पर भी विशिष्ट परिस्थितियोम वस्त्र धारणकी छट है। उसो प्रकार विशिष्ट परिस्थितियोम राजपिण्ड भी ग्रहण किया जा सकता है। अपराजितसूरि कहत हैं कि जहां दोष सभव हो वही राजपिण्ड ग्रहणका प्रतिषेध है सवत्र नही। रोगीके लिय तो राजपिण्ड दुर्लभ द्रव्य है। मत्यु अथवा श्रुतव्यवच्छदका भय उपस्थित होने पर राजपिण्ड ग्रहण किया जा सकता है। दोषसभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रतिषधो न सवत्र कल्प्यते। ग्लानाथ राजपिण्डोपि दुर्लभ द्रव्यम। आगाढकारणे वा श्रतस्य व्यवच्छदो माभदिति।

श्वेताम्बर परम्परामें पञ्चाशक विवरणके अनुसार आचेलक्य उद्दिष्टत्याग प्रतिक्रमण राजपिण्डका त्याग मास और पर्युषणा ये छह कल्प मध्यके बाईस तीथकरो के कालमें अस्थितकल्प हैं क्योकि उनके अनुयायियोंके लिए इनका सतत पालन आवश्यक नहीं है। उनके लिए चार स्थितकल्प हैं शय्याधर पिण्डका त्याग चतुर्याम पुरुष ज्येष्ठता और कृतिकर्म।

आचेलक्कुद्देसियपडिक्कमण रायपिंडमाससु।
पज्जुसणकप्पम्मि य अट्ठियकप्पो मुणयव्वो॥

---

१ आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाण यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इति आदि विजयोदया (भगवती आराधना भाग १) प ३२६।

२ तथा चोक्त कल्पे—

सोलसविधमुद्देश वज्जेदव्वति पुरिमचरिमाण।
तित्थगराण तित्थ ठिदिकप्पो होदि विदिओ हु॥ विजयोदया

३ प्रतिक्रमणसहितो धर्म आद्यपाश्चात्ययोर्जिनयोर्जातापराधप्रतिक्रमण मध्यवर्तिनो जिना उपदिशन्ति।

सिज्जायररपिंडम्मि चाउज्जामे ये पुरिसजेट्ठ य ।
किंतिकम्मस्स य करण ठियकप्पो मज्झिमाणं पि ॥

यहाँ[1] दशस्थितिकल्पोंमें चातुर्यामका उल्लेख है। मूलाचार और भगवती आराधना में इसकी जगह व्रत है। जैसा कि कह चुके हैं कि प्रथम व अन्तिम तीर्थंकरका धर्म पञ्चमहाव्रतरूप कहा गया है जबकि मध्यम तीथकरोका धम चतुर्यमरूप है इसलिए यह भेद किया गया होगा। परन्तु व्रतका अर्थ विजयोदयामें व्रतपालन न करके व्रतदान किया गया है। यह श्वेताम्बर परम्परासे भेद है।

प कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके मतानुसार दशस्थितिक-पवाली गाथा श्वेताम्बरीय सिद्ध नही होती क्योकि मलाचारमें भी मिलती है तथा अनगारधर्मामृतमें इसका सस्कृत रूप मिलता है। दसकल्प तो दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल नही अनुकूल ही हैं।[2]

यद्यपि दशस्थितिकल्प वाली गाथाम आपत्तिजनक कोई बात नही है तथापि यह गाथा दिगम्बर-पम्पराकी नही कही जा सकती। दिगम्बर परम्परामें शय्याधरपिंड या राजपिंडके त्यागका कोई विधान नही प्राप्त होता। आचार्य कुन्दकुन्द तो दरिद्र व ऐश्वर्यशाली सभी घरोसे निरपेक्ष भावसे आहार ग्रहणका निर्देश करते हैं। साथ ही जिस मलाचारको वे दिगम्बरीय ग्र थ मानते हैं वह स्पष्टतया यापनीय ग्रथ है क्योकि इसमे स्त्रीमुक्तिका विधान ह। और प आशाधरजी बहुश्रुत विद्वान् हैं मला राधनादर्पणमें इन्होने श्वेताम्बरीय ग्रथोके आधारसे बहुत-सी व्याख्यायें की हैं। और जैसा कि कह चुके हैं कि काष्ठा सघ दिगम्बरोंमे अन्तर्भक्त यापनीय शाखा ही है।

अन्तर्द्वीपजमनुष्य—विजयोदयामें उल्लिखित है कि समद्रके द्वीपोंके मध्य रहनेवाले कन्दमूल फल खाने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज मनुष्य ह। ये मृगोपम चेष्टाय करते हुए मनुष्यायुका उपभोग करते हैं। ये अभाषक एकोरुक लांगूलिक विषाणिक आदर्श मुख हस्तिमुख अश्वमुख विद्युन्मुख उल्कामुख हयकर्ण गजकर्ण कर्णप्रावरण इत्यादि मनुष्य नामानुरूप गू गे एक टागवाले पूंछवाले सींगवाले दपणकी भाँति मुख वाले हाथीके समान मुखवाले घोडके समान मुख वाले बिजलीके समान मुख वाले घोडके समान कानवाले हाथीके समान कानवाले तथा कान ही जिनका प्रावरण है ऐसे होन हैं।[3]

तत्त्वार्थभाष्यकारने भी वहाँके मनुष्योंके नामसे अन्तर्द्वीपोंके नाम बताये हैं— एकोरुकाणामेकोरुकद्वीप। एव शषाणामपि स्वनामभिस्तुल्यनामानो वदितव्या।[4]

---

१ पंचाशक विवरण अध्याय १७ गाथा ८ १ ।

२ भगवती आराधना भाग १ एक प्रस्तावना पृ० ३४ ३५ ।

३ विजयोदया प ४८३ ।

४ तत्त्वार्थभाष्य ३/१५ ।

परन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके विपरीत उक्त द्वीपोके नामसे वहाँके मनुष्योंके नाम पड बताये है। आर्या म्लेच्छाश्च सूत्रकी वृत्तिमे सिद्धसेनगणिने वहाँके मनुष्योंको सम्पूर्ण अंग प्रत्यगोसे पूर्ण सुन्दर मनोहर कहा है—द्वीपनामन पुरुषनामानि त तु सर्वाङ्गसुन्दरा दर्शनमनोरमणा नकोल्का एव। इत्येव शषा अपि वाच्या।

दिगम्बर परम्पराम एकोरुक आदि नाम आकृतिकी अपेक्षामे माने गये हैं। इस विचारधारामें यापनीय दिगम्बर परम्पराका समथन करते ह।

पुण्य-पाप प्रकतियाँ

यापनीय सम्यक्त्व हास्य रति और पुरुषवदको पुण्यप्रकृति मानत हैं। मूलाचार म कहा गया है कि सम्यक्त्व श्रत विरति तथा कषायनिग्रह गणोस जो जीव परिणत ह (अर्थात उसके जो कम बध होता है) वह पुण्य है उससे विपरीत पाप है।

सम्मत्तण सुदेण य विरदीए कसाय णग्गहगुणहि।
जो परिणदो स पुण्णो तद्विवरीदेण पाव तु ॥[३]

विजयोदयाम सद्वद्य सम्यक्त्व रतिहास्यपवदा शुभ नामगोत्र शुभ चायु पुण्यम एतेभ्योऽन्यानि पापानि।

दिगम्बर तथा श्वताम्बर सम्प्रदायमे इ ह पुण्यप्रकृति नही माना गया है। तत्त्वार्थसूत्रके तत्त्वार्थभाष्यसम्मत पाठ भेदम भी इन्हे पु यप्रकृति कहा गया है। इसका कारण भी मूल तत्वार्थसत्रका यापनीय कृति होना ह। उक्त त वार्थभा यसम्मत सत्र की टीका करते हुए सिद्धसेनगणि लिखते है कि कर्मप्रकृतिग्रन्थका अनसरण करने वाले तो ४२ प्रकृतियोको ही पुण्यरूप मानते ह। उनम सम्यक्त्व हास्य रति पुरुष वेद नही है। सम्प्रदायका वि छद हो जानेसे मं नही जानता कि इनमें भाष्यकार का क्या अभिप्राय ह? कर्मप्रकृतिग्रन्थ प्रणताओंका क्या? चौदह-पूवधारी ही इसकी ठीक ठीक व्याख्या कर सकते हैं।[६]

सम्यक्त्व आदिको पुण्यप्रकृति मानना यापनीयोको ही इष्ट ह। सिद्धसेन गणि इस विषयम कहत ह कि कुछ लोग इन चारोको पुण्य प्रकृति मानत ह जो मोहनीय

---

१ सभाष्यत वाथसूत्रवत्ति ३/१५।
२ सर्वाथसिद्धि ३३६।
३ मूलाचार ५/३७।
४ विजयोदया (भगवती आराधना भाग २) गाथा १८२८की व्याख्या पृ ८१४।
५ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसत्र ८/६।
६ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी वृत्ति ८/६।

कर्मकी प्रकृति होनेके कारण इष्ट नहीं है। उन्होंने अपरस्त्वाह कहकर उनकी कारिकाए उद्धृत की हैं जिसके विषयमें पं प्रेमीका अनुमान[1] है कि वे तत्त्वार्थ सूत्रकी किसी यापनीय टीकाकी होगी। वे कारिकाए इस प्रकार हैं—

रतिसम्यक्त्वहास्यानां पुंवेदस्य च पुण्यताम्।
मोहनीयमिति भ्रान्त्या केचिन्नेच्छन्ति तच्च न ॥
पुण्यं प्रीतिकरं सा च सम्यक्त्वादिषु पुद्गलाः।
मोहत्वं तु भवाबन्ध्यकारणादुपदर्शितम् ॥
मोहो रागः स च स्नेहो भक्तिरागः स चार्हति।
रागस्यास्य प्रशस्तत्वा मोहत्वेनापि मोहता ॥

रात्रिभोजनविरमणव्रत

मूलाचार[2] भगवती आराधना[3] और विजयोदया[4] इन तीनों यापनीय ग्रन्थोंमें रात्रिभोजनविरमणव्रतको पृथक छठा व्रत कहा गया है। दिगम्बर परम्पराकी भाँति इसका अन्तर्भाव आलोकित-पान भोजन नामक अहिंसाव्रतकी भावनाम नहीं किया गया है।

उक्त ग्रन्थोंमे मुनियोंके लिए मुनियोंके महाव्रतोंके सन्दर्भमें इस व्रतकी चर्चा है। यह छठा व्रत पंच महाव्रतोंके पालनार्थ ही है।

दिगम्बर परम्परामें प्रायः सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें इसे अणुव्रत कहकर उसे आलोकितपानभोजन नामक अहिंसाव्रतकी भावनाम अन्तर्भावित किया गया है।[5] श्लोकवार्तिकमें अवश्य इसे रात्रिभोजनविरतिव्रत मात्र कहा है अणुव्रत या महाव्रत नहीं।

काष्ठासंघी पं आशाधरजीने केवल रात्रिमे भोजनका त्याग होनसे अर्थात काल की दृष्टिसे अणु होनसे इसे अणुव्रत कहा है — अणुव्रतत्वं चास्य दिवाभोजनस्यापि कारणात्। (मूलाराधनादर्पण आश्वास ६ पृ ११७६)।

इसको पृथकव्रत माननेका कारण संभवत अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयका भीषण द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष रहा होगा क्योंकि हरिषेणके बृहत्कथाकोशकी भद्रबाहुकथा से प्रतीत होता है। दुर्भिक्षके समय उत्तरभारतके साधु रात्रिम भिक्षा माँगकर लाकर

---

१ जैन साहित्य और इतिहास (द्वितीय संस्करण) पृ ५४१ की पादटिप्पणी।
२ मूलाचार ५/९८।
३ भगवती आराधना प्रथम भाग ११७९।
४ विजयोदया पृ ३३ व ३३१।
५ तत्त्वार्थसूत्र ७/१ की सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिक तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य।

रखन लगे थे। सभवत ग्रहण भी करन लग हो। इसी प्रवृत्तिको रोकनेके लिये ही सभवत इसे पृथक छठे व्रतके रूपम उल्लिखित किया जाने लगा।

शुक्लध्यानके प्रथम भेदका स्वामी

भगवती आराधना मूलाचार[2] विजयोदया[3] तथा त-वाथसूत्र (श्वे पाठ)में[4] पृथक्त्ववितर्क सवीचार ध्यानका अधिकारी उपशान्तमोह नामक ग्यारहव गुणस्थान वर्तीको तथा एकत्ववितर्कका स्वामी बारहव क्षीणकषाय गुणस्थानवर्तीको माना है। श्वताम्बर परम्परामें भी यही माना गया है।

दिगम्बर परम्परा इससे भि-न है। दिगम्बर पाठवाले तत्त्वार्थसूत्रमे आठव गुणस्थानसे ही पृथक्त्ववितकवीचार शक्लध्यानको माना ह तथा एकत्व वितर्कका अधिकारी बारहव गुणस्थानवर्तीको माना है।

षट्खण्डागमकी टीकाम आचार्य वीरसेनने उपशान्तमोह गुणस्थानवर्तीको माना है।[6]

केवलीके ज्ञान-दर्शन—भगवती आराधनासे ज्ञात होता ह कि यापनीय दिगम्बरोकी भाति केवलीके ज्ञान दर्शनके युगपद् होनेको स्वीकार करते थे।

---

१ भगवती आराधना गाथा १८७४ व ७७।
दव्वाइ अणयाइ तीहिं वि जोगेहिं जण ज्झायति।
उवसतमोहणि-जा तण पुधत्त त्ति त भणिया॥
जणगमव दव्व जोगणेगेण अण्णदरगण।
खीणकसाओ -झायदि तेणेगत्त तय भणियं॥

२ मूलाचार ५/२ ७।
उवसतो दु पुहुत्त झायदि झाण विदक्कवीचार।
खीणकसाओ ज्झायदि एयत्तविदक्कवीचार॥

३ विजयोदया (भगवती आराधना भाग २) पृ ८३६।
उपशान्तमोहनीयस्वामिक-वात क्षीणकषाय वस्वामिकत्वाद् ध्यानाद् भिद्यते।

४ त-वाथसूत्र श्वेताम्बर पाठ ९/३७ ८ ३९।
आज्ञापायविपाकसस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसयतस्य।
उपशान्तक्षीणकषाययोश्च।
शक्ले चाद्ये।

५ तत्त्वार्थसूत्र ९/३७ की व्याख्या

६ धवला टीका पुस्तक १३ प ७४।

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काल सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयव विगदमोहो ॥

षट्खण्डागममें युगपद्वादका उल्लेख है—[2]

सव्वं सम जाणदि पस्सदि विहरन्ति ।

गर्भ-कल्याणक—तीर्थङ्करोकेगर्भ कल्याणकम देवोंका आगमन संभवत यापनीय परम्परामे मान्य नही है । विजयोदयामें ललित गद्यमें तीर्थंकरोके कल्याणकोका विस्तृत वर्णन है किंतु गर्भकल्याणकमें देवोंका वर्णन नहीं है ।[3] पउमचरिउमें भी भगवान ऋषभके गर्भकल्याणक मनानेके लिए देवोंके आगमनका वर्णन नही है । जन्म दीक्षा तथा ज्ञान कल्याणकमें देवोंके आगमनका वर्णन है । पद्मचरित और हरिवंशपुराणमें भी गर्भकल्याणकमे देवोंके आगमनका वर्णन नहीं है ।

विजहना अर्थात् साधुका मृतक कर्म[5]

नगर आदिके मध्य या बाहर मरणको प्राप्त क्षपकके शरीरको वयावृत्य करने वाले परिचारक मुनि स्वय ही सावधानीपूर्वक हटा देते हैं । वर्षावासमें तथा ऋतुके प्रारभमें निषीधिकाका प्रतिलेखन करना श्रमणका कप है अत साधु क्षपकका शव निषीधिकासे हटानेका प्रयत्न करते हैं । यहा यह शका नही करनी चाहिए कि साधु तो अपने शरीरमें भी अमम व रखते हैं तब क्षपकके शवको हटानेका प्रयत्न क्यो करते हैं ? साधुके लिए निषीधिकाका प्रतिलेखन आवश्यक है अत वे क्षपकके शवको दूर करते हैं ।

निषीधिका एकांत स्थानमें प्रकाशवान् नगरादिके न अधिक समीप और न बहुत दूर होनी चाहिए । विस्तीर्ण प्रासुक तथा अतिदढ़ होनी चाहिए । चीटियों तथा छिद्रोंसे रहित समभमिम होनी चाहिए । गोली नहीं होनी चाहिए जतुरहित होना चाहिए ।

निषीधिका बस्तीसे पश्चिम-दक्षिण दिशाम हो तो उत्तम होती है । पश्चिम-दक्षिण दिशामें हो तो सर्व सघको समाधिलाभ होता होता है दक्षिण दिशाम हो तो संघको आहार सुलभ होता है । पश्चिम दिशामे हो तो संघका विहार सुखपूर्वक होता है । उपकरणोका लाभ होता है । यदि इन दिशाओमें निषीधिका न मिले तो पूर्व दक्षिण

---

१ भगवती आराधना (द्वितीय भाग) गाथा २१३५ पृ ९ १ ।
२ षट्खण्डागम ४ पयडि सूत्र ७८ ।
३ विजयोदया (भगवती-आराधना भाग १) पृ १८२ ।
४ पउमचरिउ प्रथम भाग सधि १ २ ।
५ भगवती आराधना गाथा १९६ १९९४ ।

दिशामें पश्चिम उत्तरमे पूर्वम या पूर्वोत्तरमें होना चाहिए। किंतु पूर्व दक्षिणमें स्पर्द्धा पश्चिमोत्तर दिशाम कलह पूर्व दिशामें भद उत्तरम व्याधि तथा पूर्वोत्तर दिशाम परस्पर खीचातानी होती है।

क्षपक जिस समय मरणको प्राप्त हो शवको उसी समय वहाँसे हटा दना चाहिए। यदि असमयमें मरा हो तो जागरण बंधन या छेदन करना चाहिए।

बाल वद्ध शैक्ष्य तपस्वी भीरु रोगी मनि तथा दु खित हृदय आचार्योंको छोडकर निद्राको जीतने वाले मनि जागरण करते ह। जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं जिन्होने अनेक बार क्षपकका कम किया है महाबलशाली महापराक्रमी महासत्त्व शाली मुनि मृतकके हाथ या परके अगूठको बाँधते या छदते हैं। यदि यह विधि न की जाय तो कोई विनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड सकता ह क्रीडा कर सकता है बाधा पहुँचा सकता है। उमे देखकर बालक आदिका चित्त क्षुब्ध हो सकता है व डरकर भाग सकते ह और उनका मरण हो सकता है।

यदि भक्तपरिज्ञा मरण करनवाली विख्यात आर्यिका श्राविका या स्थानरक्षिका हो तो उसके लिए शिविका बनानी चाहिए। शिविका बनानके पश्चात उसके शवको सस्तर सहित शिविकामें रखकर बाँध दना चाहिए जिससे वह उठ न सके उसका सिर गाँव की ओर होना चाहिए। उस शिविकाको लेकर पहले देख हुए मागसे शीघ्र जाते हैं न तो मार्गमें रुकते हैं और न पीछ देखत हैं। उसके आगे एक व्यक्तिको सीध बिना रुके बिना पीछे देखे कुश मुट्ठीमे लेकर चलना चाहिए। पूर्व निरूपित स्थानमे लगातार मुट्ठीसे एक समान कुश डालते हुए एक सस्तर बनाना चाहिए जो सर्वत्र सम हो। जहाँ कुश न हो वहा चर्ण अथवा केशरसे सर्वत्र समान रखा खीचना चाहिए।

यदि सस्तर ऊपर विषम हो तो आचार्यका मरण या व्याधि मध्यमे विषम हो तो श्रेष्ठमुनि (वृषभ) का मरण व्याधि तथा नीचे विषम हो तो अन्य मनियोका मरण या व्याधि होती है। जिस दिशाम ग्राम हो उस ओर शिर करके उपधिसहित (पीछी आदि) उस शवको रख देना चाहिए। शवके उठनेके भयसे उसका सिर गावकी ओर किया जाता ह। सम्यक्त्वकी विराधना करके जो मरकर दव होता है वह भी पीछीके साथ अपना शरीर दखकर ही जान लेता है कि म पूर्वभवम सयमी थी। जघन्य नक्षत्रम यदि क्षपकका मरण होता ह तो सबका कल्याण होता ह मध्यम नक्षत्रम मरण होता ह तो शेष साधओमसे एकका मरण होता है। यदि उत्कृष्ट नक्षत्रमें मरण होता है तो दोका मरण होता है। शतभिषा भरणी आर्द्रा स्वाति आश्लेषा ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र हैं। रोहिणी विशाखा पुनवसु उत्तरा फाल्गुनी उत्तरा-भाद्रपद उत्तराषाढा ये उत्कृष्ट नक्षत्र ह। शेष नक्षत्र मध्यम हैं।

प आशाधरजीके अनुसार अल्पनक्षत्र उन्हें कहते हैं जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं तीस मुहूर्त तक रहने वाले मध्यम तथा पतालीस मुहूर्त तक रहने वाले नक्षत्र उत्कृष्ट नक्षत्र हैं।

इसलिए संघकी रक्षाके अभिप्रायमे तृणोंका पुतला बनाकर रखें। यदि मध्यम नक्षत्रम मरण हुआ हो तो उसके साथ एक पुतला रखें। यदि उत्तम नक्षत्रमें मरण हुआ हो तो उसके साथ दो पुतले रख। मतकके पास उस पुतलेको रखकर तीन बार उच्च स्वरसे घोषणा करे कि मैंने उस दूसरेके स्थानमें यह दूसरा स्थापित किया है जिमके स्थानमें यह पुतला स्थापित किया है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे। यह पुतला देनेका विधान है। दो पुतले स्थापित करने पर तीन बार घोषणा कर कि मने दूसरा औ तीसरा पुतला स्थापित किया है ये दोनों जिसके बदलेमें स्थापित किये हैं वे दोनों साध चिरकाल तक जीवित रहकर तप करें। यदि पुतला बनानेके लिए तिनके न हों तो ईट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा केशर क्षार वगरहसे ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिख। इस प्रकार क्त अक्षर लिखें।

मतककी शय्याके निर्माणके लिए गृहस्थोसे जो उपकरण वस्त्र पात्र आदि लिया गया हो उसम जो लौटा देन योग्य हो उन्हें पाडिहारिक कहते हैं। उस पाडिकारिकको गृहस्थोंको सम्यक रीतिसे समझा-बुझाकर लौटा द।

आराधना की प्राप्ति की भावनासे संघ एक कायोत्सगको तथा क्षपककी वस तिकाकी जो अधिष्ठात्री दवता हो उसके प्रति इच्छाकार कर कि आपकी इच्छासे सघ इस स्थान पर बठना चाहता है। अपने सघके साधका स्वर्गवास होने पर उस दिन उपवास करना चाहिए तथा स्वाध्याय नही करना चाहिए। उपवास कर सकते हैं नही भी। कुछके अनुसार दूसरे सघके साधका मरण होन पर स्वाध्याय करना चाहिए। उपवास कर भी सकते है और नही भी।

क्षपकका शरीर स्थापित करके तीसर दिन जाकर देखत हैं कि सघका विहार सुखपूर्वक होगा या नही। मृतकको गति अच्छी हुई हुई है या बुरी। जितने दिन तक वह शव गीदड आदिसे सुरक्षित रहता ह उतने वर्षों तक उस राज्यम सुभिक्ष एव शाति रहती ह। पक्षी तथा पशओ द्वारा वह शरीर जिस दिशामें ले जाया गया हो क्षम-सुभिक्ष जानकर उसी दिशामें संघको बिहार करना चाहिए। यदि उसका सिर और दात पर्वतके शिखके ऊपर दिखाई दे तो वह मक्तिको प्राप्त हुआ है। यदि मृतकका मस्तक उन्नत भूमिभागमें दिखाई दे तो वह मरकर वमानिक देव हुआ जानना। यदि सम भूमिभाग में दिखाई दे तो ज्योतिष्क देव या व्यन्तरदव हुआ समझना चाहिए। यदि गड्ढेमे दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ समझना चाहिए।

मृतक सस्कारकी यह विधि लक्षण है। प्राचीन श्वताम्बर ग्रन्थमे प्राप्त मृतक सस्कारविधिसे मिलती है। वहा भी साधुके शवको दहन अथवा दफन किय बिना छोड़ दनेका उल्लेख ह दिगम्बर परम्पराके लिए यह अश्र तपूर्व ह। पुतले बनाने की यह विधि जैनधर्मकी प्रकृतिसे सर्वथा विरुद्ध है और एक प्रकार का मिथ्यात्व भी है। हमें आश्चर्य भी ह कि अहिंसा धर्मके अनुयायी और खासकर साधुके द्वारा इसका विधान कैसे किया गया ?

यहाँ हमन यापनीयोकी उन विचारधाराओं तथा मा यताओका उल्लेख किया है जिनम व दिगम्बर तथा श्वताम्बर किसी एक परम्परासे मतभेद रखते है तथा किसी एक परम्पराके अनुकूल विचार रखत हं और दोनो विचारधाराओंके अतिरिक्त विशिष्ट विचारधारा रखत हैं।

●

पञ्चम परिच्छेद

यापनीयोंकी आचार संहिता

यापनीयोंकी आचार संहिता

यापनीय सम्मत श्रावक व मुनि आचार संहिताका वर्णन इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है।

श्रावक-आचार-संहिता

मुनिधर्म ग्रहण करनेमें असमर्थ व्यक्तियोंके लिए श्रावकाचारका निरूपण किया जाता है।

यापनीयोंका श्रावकाचार विषयक साहित्य संक्षिप्त सूत्ररूपमें ही उपलब्ध हुआ है। भगवती आराधना तत्त्वार्थसूत्र पद्मचरित हरिवंशपुराण पउमचरिउ इत्यादिमें श्रावकाचारका निरूपण हुआ है।

बारहव्रत—भगवती आराधनामें गृहवासको सदोष माना गया है।[1] टीकाकार अपराजितसूरिने गृहवासके दोषोंकी विस्तारसे चर्चा की है।[2] यहाँ देशविरत सम्यग्दृष्टिके मरणको बालपण्डितमरण बतलाते हुए श्रावकाचारका प्रतिपादन किया गया है।

पंच य अणुव्वदाइं सत्त य सिक्खाउ देसजदिधम्मो।
सव्वेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदो॥
पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं॥
जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं।
देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं॥
भोगाणं परिसंखा सामाइयमतिहिसंविभागो य।
पोसहविधि य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ॥
आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए।
णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी॥
आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहित्तु संथारे।
जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपंडिदयं॥[3]

पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत यह देशयतिका धर्म है। प्राणिवध मृषावाद अदत्तादान परदारगमन तथा अपरिमित इच्छाओंसे विरमण अणुव्रत हैं। दिग्विरमण अनर्थदंडविरमण व देशावकाशिक गुणव्रत हैं। भोगोंका परिसंख्यान सामायिक अतिथि

---

१ भगवती आराधना (भाग २) गा १३१९।

२ विजयोदया (भगवती आराधना) पृ ६४९।

३ भगवती आराधना गाथा २०७३-७८।

सविभाग तथा प्रौषधविधि ये चार शिक्षाव्रत हैं। इनका पालन करते हुए श्रावक जीवन यापन करे। मरण अवश्यभावी होनेपर जीविताशा नष्ट हो जानेपर अन्तिम समयमें सल्लेखना करे। परिवारके लोगों द्वारा अनुमति न मिलने पर घरपर ही आलोचना करके नि शल्य होकर सस्तरपर आरूढ़ होकर समाधिमरण करे। देशविरति-के इस मरणको बालपडितमरण कहते हैं।

सर्वप्रथम तत्वार्थसूत्रम हो अणुव्रतोके अतिचारोकी चर्चा मिलती है। हरिवश-पुराणमें भी इन बारह व्रतोकी अतिचारसहित चर्चा है।

दिगम्बर श्वताम्बर व यापनीय तीनो हो परम्पराओम श्रावकके बारह व्रतोंकी मान्यता है। दिगम्बर परम्परामे गुणव्रतो और शिक्षाव्रतोम व्यतिक्रम पाया जाता है। यहाँ कही कोई शिक्षाव्रत गुणव्रतम व कही कोई गुणव्रत शिक्षाव्रतमें सम्मिलित कर लिया गया है। कही सल्लेखनाको बारहव्रतोंमे सम्मिलित कर लिया गया है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार सागारधर्मामृत धर्मसग्रहश्रावकाचार व प्रवचनसारोद्धार आदिमे दिग्व्रत अनर्थ ण्ड उपभोगपरिभोगपरिमाणको गुणव्रत तथा देशावकाशिक सामायिक व प्रौषधोपवास तथा अतिथिसविभागको शिक्षाव्रत माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्तपाहुड वसुनन्दि श्रावकाचार व्रतोद्योतन-श्रावकाचार भव्यधर्मोपदेश रत्नमाला आदिम स लेखनाको शिक्षाव्रतम सम्मिलित किया गया है। पुरुषार्थसिद्धय पाय पू यपादश्रावकाचार लाटीसहिता यशस्तिलकचम्पू आदिमे दिग्विरति देशविरति तथा अनर्थदण्डविरतिको गुणव्रत तथा सामायिक प्रौषध भोगोपभोग तथा अतिथिस विभागको शिक्षाव्रत माना है।

श्वेताम्बर परम्परामें सर्वत्र सल्लेखनाको पथक रखा गया है। उपासकदशागसत्रमें पाँच अणुव्रत उनके पाँच अतिचार दिग्व्रत उपभोगपरिभोगपरिमाण तथा अनथदण्ड विरमण गुणव्रत व इनके पाँच-पाँच अतिचार तथा सामायिक देशावकाशिक प्रौषधो पवासतथा यथासविभाग चार शिक्षाव्रत और इनके पाँच-पाँच अतिचारोका वर्णन है। इन बारह व्रतोक अनन्तर अन्तिम समयम सल्लेखनाका विधान है।

यापनीय परम्परामे भी भगवती आराधना व तत्वार्थसूत्रमें दिग्व्रत देशावकाशिक व अनर्थदण्डविरमण गणव्रत तथा सामायिक प्रौषध अतिथिसविभाग तथा भोगोपभो गपरिमाणको शिक्षाव्रत कहा गया है। सल्लेखनाका पृथक उल्लेख है। किन्तु पद्मचरित और तदनसारी पउमचरिउमें दिशाप्रत्याख्यान भोगोपभोगपरिमाण तथा अनथदण्डविरमणको गुणव्रत तथा सामयिक प्रौषध अतिथिसंविभाग तथा अन्तिम

१ त वार्थसूत्र अध्याय ७।

२ हरिवशपुराण सर्ग ५८।

समयमें सल्लेखनाको शिक्षाव्रत कहा गया है। पउमचरिउमें अनर्थदण्डविरमणके स्थानपर जो खलसग्रहत्याग है वह नवीन व अपूर्व है। सम्भवत लिपिकारका प्रमाद हो।

मूलगुण

दिगम्बर परम्पराम गृहस्थोंके आठ मलगुण मान गये हैं। मद्य मास व मधके साथ पंच उदम्बर त्यागको मूलगुण माननेको एक परम्परा है। आचार्य समन्तभद्रने तीन मकार और पाँच अणव्रतोंको अष्टमूलगण कहा है यह दूसरी परम्परा है।[3]

आचार्य जिनसेनने मद्य मास मधके साथ पच उदुम्बर त्याग और हिंसासे विरतिको सार्वकालिक व्रत कहा है।[4] निम्नलिखित श्लोक जो जिनसेनकृत महापुराण का माना जाता है उसम नही मिलता—

हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मासान्मद्याद् विरतिर्गृहिणोऽष्टमूलगुणा॥

प मधावी विरचित धमसग्रह श्रावकाचार (३/१५५) म आप्तपंचनुति जीव दया सलिलगालन मद्यादित्रय निशाहार व पचोदुम्बरवजन ये आठ मलगुण माने गये है। यह सर्वथा नवीन प्रतिपादन है।

सागारधर्मामृतम पूर्वोक्त दोनो परम्पराओका सग्रह है।

मद्यमासमधून्युज्झत् पञ्च क्षीरिफलानि च।
अष्टतान् गृहिणा मूलगुणान् स्थूलवधादि वा॥
फलस्थाने स्मरेद् द्यूत मधुस्थाने इहैव वा। (२/२ ३)

परन्तु यापनीय अणव्रतोंको ही मूलगण मानते हैं। अपराजितसूरि विजयोदया टीकाम कहते हैं— संयतासयतानामणुव्रतानि मूलगणव्यपदेशभाञ्जिभवन्ति —उत्तरगुणोंका कारण होनसे इन्हें मूलगुण कहा जाता है—उत्तरगणाना कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेष वर्तत। तत्त्वार्थसूत्रसे भी यही प्रतीत होता है कि पाँच अणव्रत श्रावकके मूलगुण हैं

---

१ पउमचरिउ ३४वीं सन्धि।

२ उदा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (६१) यशस्तिलकचम्पू (६/२५५) सावयधम्मदोहा २२ २६) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार (१२/६) धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार (३/७) लाटीसंहिता (१/६-७) पूज्यपाद श्रावकाचार (१४) व्रतसार-श्रावकाचार (५) श्रावकाचारसारोद्धार (३।६) पंचविंशतिकाव्रतश्रावकाचार (२३) आदि ये सभी श्रावकाचारसंग्रह भाग १ २ ३ में सग्रहीत हैं।

३ रत्नकरण्डश्रावकाचार ३/६६।

४ महापुराण ३८/१२२।

५ विजयोदया (भगवती-आराधना भाग-१) पृ १५८।

जिनके लिए प्रथम सत्रमें उन्होने अणव्रतोऽगारी (७/१९) कहा है और दूसरे सूत्रमें उसे सात शीलव्रतोसे सम्पन्न माना है। ये उत्तरव्रत ह।

अष्टमलगुणकी परम्परा बादमें विकसित हुई प्रतीत होती ह। आचाय कुन्दकुन्द और स्वामी कार्तिकेयने भी मूलगणोका कोई विधान नही किया है। तत्त्वाथसूत्र और श्वेताम्बर आगम उपासकदशागसूत्रम भो मलगुणोंका निदश नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रने अष्टमूलगुणोको चर्चा की है। तीन मकार और पच क्षीरिफल अभक्ष्योंमे परिगणित होते है। कालान्तरमें तो अभक्ष्य पदार्थोंकी एक लम्बी सूची ही दी गई है। अत पाँच अणुव्रतोको ही मूलगुण कहना ही उचित प्रतीत होता है।

रात्रिभोजनविरमणव्रत—यापनीय साहित्यमें प्राय सर्वत्र महाव्रतोंके सन्दर्भमे रात्रिभोजनविरमणव्रतकी छठे व्रतके रूपमें चर्चा ह। कवि स्वयभन गृहस्थोंके सन्दर्भम भी अनस्तमितव्रतकी चर्चा की है। अनस्तमित अर्थात रात्रिभोजनत्याग नामक व्रतके पालनसे विमल शरीर और विमल गोत्र प्राप्तिका उल्लेख किया है।

मौनका महत्त्व—महाकवि स्वयभने भोजन करत समय मौनका पालन करने वालेको शिव व शाश्वत मोक्षका अधिकारी कहा है—

भोअणे मउणु चउत्थउ पालइ।
सा सिव-सासय गमणु णिहालइ॥ ३४/८।९

बहत्कथाकोशम भी मौनव्रतधारी अणव्रतधारीको मोक्षका अधिकारी बताया गया है—

अणव्रतधर कश्चित् गुणशिक्षाव्रतसमन्वित।
सिद्धिभक्तो व्रजेत् सिद्धि मौनव्रतसमन्वित॥

हरिवशपुराणमें भी मौनस्तु साक्षा मोक्षस्य कारते (१८/५१) कहा गया है।

गृहस्थ मुक्तिके सकेत

दसणपाहुडकी टीकामे श्रुतसागरसूरिने यापनीयोको सग्रन्थोकी मुक्ति मानने वाला कहा है। श्वेताम्बर परम्परामें भी पन्द्रह प्रकारके सिद्ध माने गये हैं उनमे गृहीलिंगसिद्ध भी है।— तित्थसिद्धा अतित्थसिद्धा सयबुद्धसिद्धा पत्तेयबुद्धसिद्धा बद्धबोहियसिद्धा थीलिंगसिद्धा पुरिसलिंगसिद्धा नपुसकलिंगसिद्धा सलिंगसिद्धा अण्णलिंगसिद्धा गिहिलिंगसिद्धा एगसिद्धा अणेगसिद्धा इति।[२] फिर भी उपासकदशागसूत्रमे दस श्रावकोंकी कथाए हैं जो पूर्णत श्रावकधर्मका पालन करते हैं।

---

१ पउमचारिउ ३४/८/९।
२ ललितविस्तरा पृ ३९७।

ग्यारह प्रतिमाएं धारण करते हैं। अन्तमें सल्लेखना धारण करते हैं तथापि उनके मुक्त होनेका उल्लेख नही है।

भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीकामें भी ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है जिससे यह कहा जा सके कि ये गृहस्थोंकी मुक्ति स्वीकार करते थे। वे तो आचरणकी शुद्धताके समर्थक हैं। अचेलताके प्रति उनका आग्रह है। वस्त्र ग्रहण विशिष्ट परिस्थितियोंमें ही स्वीकृत है। इस सबसे हमें यही प्रतीत होता है कि ये अन्तिम समयमें सल्लेखना धारण करने वालेको ही मुक्ति स्वीकार करते होंगे क्योंकि पउमचरिउमें यही कहा गया है।—

> जो चउथउ सिक्खावउ धरइ सण्णासु करेप्पिण पणु मरइ।
> सो होइ तिलोयहो वडढयउ णउ जम्म-मरण विओअ भड ॥[1]

अर्थात जो चौथा शिक्षाव्रत धारण करता है अर्थात् सन्यास धारण करता है उसे जन्म मरणका भय नहीं रहता। इस सन्दिम कुलभषण मनि रामको उपदेश देते हुए श्रावकाचारका कथन करते हैं। यही आरभमें व कहते हैं कि मधु मद्य और मांसका जो त्याग करता है छ० निकायके जीवोपर दया करता है और अन्तमें सल्लेखनापूर्वक मरण करता है वह मोक्षरूपी महासागरमे प्रवेश करता है।

वस्तुत समाधिमरणके समय श्रावक भी आलोचना करके निशल्य होकर आहारादिका त्याग कर देता है। भगवती आराधनाम स्पष्ट रूपसे कहा है कि श्रावक भी अन्तिम समयमें निर्यापकाचार्योंके समीप भक्त प्रत्याख्यान मरण कर सकता है और उस समय उसे उत्सर्गलिंग धारण कर लेना चाहिए। स्वयंभूने इसे ही सन्यास धारण करना कहा है। भगवती आराधनामें भक्तप्रत्याख्यानमरणसे मुक्ति प्राप्त होनेका भी कथन है। और जब श्रावक इस मरणका अधिकारी है तब इस मरणसे मुक्तिका भी अधिकारी हो सकता है।

अपराजितसूरि निर्ग्रन्थताको प्रकृष्ट मोक्षमार्ग कहते हैं— नैर्ग्रन्थ्यताको प्रकृष्ट मोक्षमार्ग कहते हैं— नग्रन्थ्यमेव मोक्षमार्गप्रकृष्टम। मोक्षका प्रकृष्ट मार्ग नर्ग्रन्थ है तो क्या कोई अप्रकृष्ट (सामान्य या अपवाद) मार्ग भी है?

इसके अतिरिक्त पउमचरिउ और बृहत्कथाकोशम मौनव्रती अणुव्रतधारीको मोक्षका अधिकारी माना है। इनके श्रावकाचारकी एक विशेष बात यह है कि इन्होंने मौनव्रतको बहुत महत्त्व दिया है।

---

१ स्वयंभूकृत पउमचरिउ ३४/७/१ ११।
२ पउमचरिउ ३४/४/१

मुनि-आचार-संहिता

मूलाचार भगवती आराधना तथा उसकी विजयोदया टीकासे यापनीय सम्मत मुनियोंके आचारका ज्ञान होता है। मूलाचार मुनि-आचारका प्रतिपादक ग्रन्थ है। भगवती आराधनामें समाधिमरणके प्रसगमें मुनि आचारका वर्णन है। इन ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि यापनीय मुनियोकी आचार-संहिता दिगम्बर मुनियोंके प्राय तुल्य थी।

मूलगुण—मूलगुणव्यपदेशो व्रतेष वर्तते[1]—व्रतोको मूलगुण कहते हैं अत पच महाव्रत मुनियोंके मूलगुण हैं। मूलाचारमें अट्ठाइस मूलगुणोका कथन है[2] व इस प्रकार हैं—पाँच महाव्रत पाँच समिति पाँच इन्द्रियनिरोध षट आवश्यक लोच आचेलक्य अस्नान क्षितिशयन अदन्तधावन स्थितिभोजन और एकभक्त।

भगवती आराधना और उसकी टीकामें अट्ठाइस मूलगुणोका उल्लेख नहीं है। यद्यपि स्थितिभोजन और एकभक्तको छोडकर विवेचनमें प्राय सभी आ गये हैं।

महाव्रत—महाव्रतका अर्थ करते हुए भगवती आराधनामें कहा गया है कि जो महान प्रयोजनको सिद्ध करते हैं अथवा महान व्यक्तियो द्वारा जिनका आचरण होता है अथवा जो स्वय महान हैं वे महाव्रत हैं।[3] मुनि अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पाँच व्रतोका मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदन इन नौ प्रकारसे पालन करते हैं। इसके विषयमें विजयोदयामें— सर्वजीवविषयमहिंसाव्रतम दत्तपरिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयौ द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि अर्थात समस्त जीवोंके विषयमें अहिंसाव्रत समस्त द्रव्योके प्रति अचौर्य व अपरिग्रहव्रत व सत्य और ब्रह्मचर्य द्रव्यके एकदेशके विषयमें होते हैं—कह कर आवश्यकनियुक्तिकी गाथा (७९१) उद्धृत की है—

> पढमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे सव्वदव्वाइं।
> सेसा महव्वया खलु तदेकदेसम्मि दव्वाण॥[4]

---

१ (भगवती आराधना भाग १) विजयोदया पृ १५८।

२ मूलाचार १/२ ३।

३ भगवती आराधना गाथा ११७८।
साधति ज महत्थ आयरिदाइ च ज महल्लेहिं।
ज च महल्लाइ सय महव्वदाइ हवे ताइ॥

४ (भगवती आराधना भाग १) पृ १५८।

व्रतोकी भावनाएँ

अहिंसाव्रतकी भावनाएं—एषणासमिति आदान निक्षेपणसमिति ईर्यासमिति मनोगुप्ति तथा आलोकितभोजनपान।

सत्यव्रतकी भावनाएं—क्रोध भय लोभ तथा हास्यका प्रत्याख्यान व अनुवी चिभाषण।

अस्तेयव्रतकी भावनाएं—याञ्चाप्रतिसेवी (प्रार्थनासे प्राप्त वस्तुका सेवन) समनुज्ञापनाप्रतिसेवी (अनुमतिसे प्राप्त वस्तुका सेवन) अनन्यभावप्रतिसेवी (अनासक्तबुद्धिसे सेवन) त्यक्तप्रतिसेवी (आचार्य द्वारा त्यक्त वस्तुका सेवन) तथा सधर्मोपकरणका अनवीचिसेवन। ये भावनाएँ मूलाचारके अनुसार है।[२]

भगवती-आराधनाम अननुज्ञाताग्रहण (समनुज्ञापनाप्रतिसेवी) असंगबुद्धि (अनन्यभावप्रतिसेवी) प्रयोजनमात्रयाचना (याञ्चाप्रतिसेवी) अननुज्ञातगृहप्रवेशवर्जन तथा सूत्रानुसार याचना (अनवीचिसेवन) कही गई हैं।[३]

ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएं—महिलालोकन पूर्वरतस्मरण संसक्तवसतिका त्याग विकथा तथा प्रणीतरसोका त्याग ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएं हैं।

अपरिग्रहव्रतकी भावनाएं—शब्द स्पर्श रूप रस व गंधमे रागद्वेषका परिहार।

तत्त्वार्थसूत्रके स्व पाठमे इन भावनाओका उल्लेख नही है। भाष्यमें इनका उल्लेख है। भाष्यमे उल्लिखित अचौर्यव्रतकी भावनाएं मूलाचार तथा भगवती आराधनासे मिलती जुलती हैं जबकि तत्त्वार्थसूत्रके दिगम्बर पाठकी अचौर्यव्रतकी *भावनाएँ मूलाचार और भगवती आराधनासे नितान्त भिन्न हैं। वे इस प्रकार हैं*—शून्यागारावास विमोचितावास परोपरोधाकरण भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद।[४] इसके अतिरिक्त अहिंसाव्रतकी एषणासमितिके स्थानपर वाक्गुप्ति तथा ब्रह्मचर्यव्रतकी संसक्तवसतिकात्यागभावनाके स्थानपर स्वशरीरसंस्कारत्याग है। इस प्रकार व्रतोंकी भावनाओंमें दिगम्बर परम्परासे कुछ भिन्नता है।

---

१ भगवती आराधना गाथा १२ ५ और उसकी टीका तथा मूलाचार ५/१४ ४

२ मूलाचार ५/१४२।

३ भगवती-आराधना १२ २ ३।

४ तत्त्वार्थभाष्य ७।३।
अस्तेयानवीच्यवग्रहयाचनमभीक्ष्णावग्रहयाचनमेतावदित्यवग्रहावधारणं समानधार्मिकेभ्योऽवग्रहयाचनमनुज्ञापितपानभोजनमिति।

रात्रिभोजनविरमण

मूलाचार और भगवती आराधनाके अनुसार व्रतोंके रक्षणार्थ ही रात्रिभोजन निवृत्ति कही गयी है। अपराजितसूरिका कथन है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमे रात्रिभोजनविरमणको छठा व्रत कहा गया है। यह उन पाँच महाव्रतोके पालनार्थ ही है— तषामव पचाना व्रताना पालनार्थ रात्रिभोजनविरमण षष्ठ व्रतम्। इसका स्पष्टीकरण करत हुए वे कहते ह कि यदि मनि रात्रिमे भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोका घात करता है क्योकि रात्रिम उनको देख सकना कठिन ह। दायकके आनका माग उसके अन्न रखनका स्थान अपन उच्छिष्ट गिरनका स्थान दिया जान वाला आहार नही देखा जा सकता। दिनम भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवोका परिहार रात्रिम तो सभव ही नही है। इन सबकी सम्यक रूपसे परीक्षा किये बिना पदविभागी सामाचार एषणासमिति तथा सत्यव्रत स्थिर नही रह सकता। रात्रिम गृहस्वामी सोया हुआ हो और किसी अन्यके हाथसे आहार लेन पर अदत्ता दान होगा। रात्रिमे लाकर रखन औ दिनम भोजन करनेसे अपरिग्रहव्रतका लोप होगा। इस प्रकार रात्रिभोजन यागस ही समस्त व्रत सम्पूण रहत हैं।

दुर्भिक्षके समय उत्तर भारतमे श्रमण रात्रिमे भोजन लेन अथवा लाकर रखने लग होगे जसा कि बृहत्कथाकोशकी भद्रबाहुकथासे सकेत मिलता ह। तभी उसके परिहारके लिए रात्रिभोजनत्यागको छठ व्रतके रूपम परिगणित किया गया होगा।

आरंभम दिगम्बर परम्पराम इसे पथक व्रतक रूपम मान्यता नही मिली। तत्त्वार्थसूत्रकी दिगम्बर टीकाओ सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकम ७/१ सूत्रकी व्याख्याके अवसरपर यह शका उठाई गई है कि रात्रिभोजनत्याग छठा अणुव्रत है उसकी यहाँ गणना करनी चाहिए फिर यह अहिंसाव्रतकी आलोकित भोजन पान-भावनामें अन्तभ त होता है कहकर उसका समाधान किया गया है। परन्तु काष्ठा सघमें यह पथक अणुव्रतके रूपमे मान्य हुआ है। सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिकमें रात्रि भोजनविरमण छठा अणव्रत माना जाना चाहिए यह शंका उठाई गई है जबकि श्लोकवार्तिकमे इसे व्रत मात्र कहकर शका उठाई गई ह।

काष्ठासंघी प आशाधरजीने इसे अणुव्रत कहा है यद्यपि सर्वत्र रात्रिभोजन विरमणकी चर्चा मुनियोंके आचारके प्रसग मे है अत इसे अणुव्रत क्यो कहा ! इसका

---

१ मूलाचार ५/९८ भगवती आराधना ११७९ विजयोदया प ३३१।

२ विजयोदया पृ ३३ — आद्यपाश्चात्त्यतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पञ्च महाव्रतानि।

उत्तर देते हुए उनका कथन है कि केवल रात्रिमें भोजनका त्याग होनसे दिनमें ग्रहण किये जानेके कारण कालकी दृष्टिसे इसे अणुव्रत कहा जाता है।

यह पं आशाधरजीकी अपनी व्याख्या है क्योंकि यापनीयोंने इसे व्रत ही कहा है अणुव्रत नही। परन्तु रात्रिभोजनत्यागको पृथक व्रतके रूपमें मान्यता देना यापनीयोंका ही प्रभाव है। हम पहले कह चुके हैं कि यापनीय सघकी शाखाए काष्ठासघमें अन्त र्भुक्त हुई हैं अत उन्होंने अपनी मान्यताओंसे इन्हें प्रभावित किया है।

अष्टप्रवचनमातृका—पाँच समिति तथा तीन गुप्तियाँ भी व्रतोंकी रक्षक हैं। इन्हें अष्टप्रवचनमातृका कहते हं।

समिति—अपराजितसूरि कहते ह कि प्राणियोको पीडा न हो इस भावसे सम्यक प्रवृत्ति करना समिति है। सम्यक विशेषणके द्वारा जीवोंके स्वरूपका ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक प्रवृत्ति कही गई है।

ईर्यासमिति—मूलाचार और भगवती आराधनामें कहा गया ह कि मार्गशुद्धि उद्योतशुद्धि उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि इन चार शुद्धियोके द्वारा सूत्रानुसार गमन करते हुए मुनिके ईर्यासमिति कही गई है।[३]

इन शुद्धियोकी व्याख्या करते हुए अपराजितसूरि कहते ह कि मार्गमे चीटी आदि त्रसजीवोकी अधिकताका न होना तथा बीज अकुर तण हरे पत्त और कीचड आदिका न होना मार्गशुद्धि है। जिस मार्गमें वाहन पशु स्त्री पुरुषोका आवागमन रहता ह वह मार्ग प्रासुक होता ह। सूर्यके प्रकाशका स्पष्ट प्रसार और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है। चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नही होता। चलनेमें जीवोकी रक्षामें चित्तकी सावधानता उपयोगशुद्धि है। गुरु चैत्य तीर्थ और यतिकी वदनाके लिए गमन करना किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना मुनियोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना वैयावृत्य करनेके उद्देश्यसे गमन करना अनियत आवासके उद्देश्यसे गमन करना स्वास्थ्यलाभके उद्देश्यसे गमन

---

१ मूलाराधनादर्पण आश्वास ७ गाथा ११८५ ६ पृ ११८७ तथा अनगारधर्मामृत अध्याय ४/१५।

२ (भगवती आराधना भाग १) विजयोदया पृ १४८।

३ मूलाचार ५/१ ५ भगवती आराधना गाथा ११८५।

४ (भगवती आराधना भाग २) विजयोदया पृ ५९९।

करना श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना भिन्न भिन्न देशोंकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना इत्यादि प्रयोजनोकी अपेक्षासे गमन करना आलम्बनशुद्धि है ।

मूलाचारके अनुसार ईर्यापथके अनुसार जान वाले मुनिको अप्रमत्त होकर सामने युग प्रमाण भमि देखते हुए चलना चाहिए ।

सूत्रानुसार गमनका स्पष्टीकरण करते हुए अपराजितसूरि कहते हं कि न बहुत ज दी न बहुत बिलम्बसे सामने युगप्रमाण भूमि देखकर चलना पाद निक्षप अधिक दूर न करना भय और आश्चर्यके बिना गमन करना लीलापूर्वक गमन न करना पैर अधिक ऊँचा उठाते हुए गमन न करना लांघना-दौडना नही दोनों भुजाए लटकाकर गमन करना हर तृण-पत्तोसे एक हाथ दूर रहत हुए गमन करना विकाररहित चचलतारहित ऊपर व तिय क अवलोकन रहित गमन करना पशु पक्षी मृगोको भय भीत न करते हुए गमन करना विरुद्ध योनि वाले जीवोके मध्यसे जान पर उनको होने वाली बाधाको दूर करनेके लिए अपने शरीरकी बार-बार प्रतिलेखना करते हुए गमन करना दुष्ट बल आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना भुस तुष मसी तृणसमह गोबर गीला जल पाषाण और लकडीके तख्तसे बचत हुए चलना चोरी और कलहसे दूर रहना और पुल पर न चढ़ना आदि ईर्यासमिति है ।[३]

बिजयो याम ईर्यासमितिके अतिचारोका वणन ह—जा इस प्रकार ह—मदालोक गमन पदवि यासके क्षत्रका सम्यगनालोचन चित्तके उपयोगका अन्यत्र होना ये ईर्यासमितिके अतिचार ह

भाषासमिति

सूत्रानुसारी तथा अस य कठो ता चगलो आदि दोषोसे रहित अनवद्य सत्य और असत्यमृषा दो प्रकारके वचन बोलनेवालेके शुद्ध भाषा समिति होती है । जो न सत्य हो और न मृषा वह वचन असत्यमृषा है । विजयोदयामे वचनके चार प्रकार बताये गये हैं—स य अस य सत्यसहित असत्य और अस यमृषा । इनम उक्त दो बोलने योग्य हैं ।

---

१ (भगवती आराधना भाग २) विजयोदया प ५९९ ।
२ मलाचार ५/१ ६ ।
३ (भगवती आराधना भाग २) विजयोदया पृ ५९९ ६ ।
४ (भगवती आराधना भाग १) विजयोदया पृ ३८ ।
५ भगवती आराधना गाथा ११६८ मूलाचार ५।११ ।

सत्यवचनके दश भेद हैं—जनपदसत्य सम्मतसत्य स्थापनासत्य नामसत्य रूपसत्य प्रतीत्यसत्य समाबनासत्य व्यवहारसत्य भावसत्य और उपमासत्य।

सत्यसे विपरीत असत्य है। सत्यमृषा वह वचन है जो सत्य और असत्य दोनों रूप होता है। ये असत्य और सत्यमृषा दोनो त्याज्य हैं।

जो न एकात सत्य होता है और न एकान्त असत्य होता है और न सत्यासत्य होता ह वह वचन असत्यमषा होता है। असत्यमृषाके नौ भेद हैं—आमन्त्रणी आज्ञापनी याचनी संपृच्छनी प्रज्ञापनी प्रत्याख्यानी इच्छानुलोमा सशयवचनी और अनक्षरात्मक।

बिना विचार बोलना बिना ज्ञानके बीचमे बोलना तथा भाषासमितिके क्रमको जाने बिना बोलना भाषासमितिकके अतिचार कहे गये है।[२]

एषणासमिति

उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोसे रहित भोजन उपकरण और वसतिको ग्रहण करने वाले मुनिकी एषणासमिति निमल होती ह। विजयोदयाम एषणा समितिका विस्तत वर्णन करत हु कहा गया ह कि भिक्षाकाल बुभुक्षाकाल और अवग्रहकाल य तीन काल हैं। गृहस्थोके यहा भोजनका काल विचारकर भिक्षाके लिए निकलना भिक्षाकाल है। अपनी भूख और शरीरकी स्थितिका विचार करना बभुक्षाकाल है। भिक्षाके लिए नियमका विचार करना अवग्रहकाल है। इन तीनो कालोका विचारकर भिक्षाके लिए गमन करना चाहिए।

गोचरीके लिए ईर्यासमितिपूवक गमन करना चाहिए। निन्दा और पूजामें समभाव रहें। जिस घरमें नाचना गाना हो झण्डियाँ लगी हो उस घरमें न जाव। शराबी वेश्या लोकमें निन्दित कुल यज्ञशाला दानशाला विवाहशाला जिन घरोंमें जानेका निषेध हो आगे रक्षक खडा हो और कोई न जा सकता हो एसे घरोंम जाने का निषेध है। दरिद्रकुलोमें और आचाररहित सम्पन्न कुलोमे भी प्रवश न कर। बड छोट और मध्यम गृहोमें एक साथ भ्रमण कर। द्वार पर यदि साकल लगी हो या कपाट बन्द हो तो उसे खोले नही। बालक बछडा मेढ़ा और कुत्तेको लाँघकर न जाएँ। पुष्प फल और बीज पडे हों उस घरसे न जाए। तत्कालकी लिपी-पुती भमिपरसे

१ भगवती आराधना गाथा ११८७ मूलाचार ५/१११ ६।

२ भगवती आराधना ११८९ ९ मलाचार ५/११८ ९।

३ (भगवती आराधना भाग १) विजयोदया पृ ३८।

४ भगवती आराधना ११८१ व मलाचार ५/१२१।

न जाए । जिस घरमें अन्य भिक्षार्थी भिक्षाके लिए खडे हो उस घरमें प्रवेश न कर। जिस घरके कुटम्बी घबराए हों उनके मुख पर दीनता और विषाद हो वहाँ न ठहरें। भिक्षार्थियोंके लिए भिक्षा मांगनकी जो भूमि हो उस भूमिसे आगे न जाए। अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न कर। बिजलीकी तरह अपना शरीरमात्र दिखला द। कौन मझे निर्दोष भिक्षा देगा ऐसी चिन्ता न करें। एकान्त घरम उद्यानमें केले लता और झडियोसे बन घरम नाट्यशाला और गायन शालामे आदरपूर्वक आतिथ्य पान पर भी प्रवेश न कर। जहाँ बहुत मनुष्योका आवागमन हो जीवजन्तुसे रहित अपवित्रतासे रहित तथा दूसरके रोके टोके जानेसे रहित तथा जो आवागमनका मार्ग न हो वहाँ गहस्थोकी प्राथनासे ठहर। सम और छिद्ररहित जमीन पर दोनो पैरोके मध्य चार अगुलका अन्तर रखकर निश्चल खड हो और दीवार आदिका सहारा न ल।

चोरकी तरह कपाटके छिद्र अथवा चारदिवारीके छिद्रमसे न दख। दाताके आनेका मार्ग उसके खड होनका स्थान तथा भोजनोकी शुद्धताका ध्यान रख। स्तनपान कराती हुई स्त्री अथवा गर्भिणी द्वारा दिय गय आहारको ग्रहण न कर। रोगी अतिवृद्ध बालक पागल पिशाच मूढ अन्धा गूगा दुबल भीरु शकाल अति निकटवर्ती अथवा दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा तथा घूघट किय हुए स्त्रीसे आहार ग्रहण न कर। टूटे-फूटे पात्रसे दिया गया आहार ग्रहण न कर। मांस मधु मक्खन बिना कटा फल मूल पत्र अकुरित तथा कद ग्रहण न कर। इनसे जो छू गया हो उसे भी ग्रहण न कर। जिस भोजनका रस गन्ध बिगड गया हो जो दुर्गन्धित फफदयुक्त पुराना तथा जीवजन्तुयुक्त हो उसे न तो किसीको देना चाहिए और न स्वय खाना चाहिए। जो भोजन उद्गम उत्पादन तथा एषणा दोषसे दुष्ट है उसे नही खाना चाहिए। इसप्रकार नौ कोटिसे शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है।

अतिचार—उद्गम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना वचनसे उसकी अनुमति देना कायसे उसकी प्रशसा करना एसे मनियोके साथ रहना या उनके साथ क्रियाओम प्रवृत्ति करना एषणासमितिके अतिचार ह।[2] इस प्रकार विजयोदयामें एषणा-समितिका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

---

१ यापनीय साध अपवादरूपसे पात्र रखते थे। साथ ही रुग्ण साधुको आहार लाकर देत थ। यह कथन उसी सन्दर्भमें लिखा गया प्रतीत होता है।

२ विजयोदया (भगवती आराधना सहित) प ३८।

आदान निक्षेप समिति

ग्रहण करते समय तथा रखते समय आँखोंसे देखकर द्रव्य या द्रव्यस्थानकी प्रतिलेखना करना आदान निक्षेप समिति है। भगवती आराधनामें इस समितिके चार दोषोंकी चर्चा है। बिना देखे तथा बिना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना सहसा नामक दोष है। बिना देख-प्रमार्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है। देखकर उचित प्रतिलेखना न करना दुष्प्रमृष्ट दोष है। देखकर और प्रमार्जन करके भी यह शुद्ध है अथवा नहीं यह नही देखना अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है। जो इन चारों दोषोंको दूर करता है उसके आदान निक्षेप समिति होती है।

अतिचार—विजयोदयाम अनालोचन तथा [3]दुष्प्रमार्जन ये दो आदान निक्षेप समितिके अतिचार बताय गय है।

प्रतिष्ठापना समिति

मूलाचारम कहा गया है कि जो भमि दावाग्निसे खतीसे श्मशान या अग्निसे अचित्त हो स्थण्डिल तथा ऊसर हो लोगोके आवागमनसे रहित हो विस्तीर्ण हो जतुरहित तथा एकान्त हो वहाँ अचित्तभमिम प्रतिलेखन कर मल मूत्र श्लेष्मा आदि विसर्जित करें वह प्रतिष्ठापना समिति ह।

रात्रिम प्रज्ञाश्रमण द्वारा दृष्ट स्थानका प्रमार्जन करके तथा जतु है या नही इस आशकाका निवारण करनेके लिए हथेलीसे भूमिका धीरेसे स्पर्श कर। यदि प्रथमभूमि अशुद्ध हो तो द्वितीय तथा ततीय भूमि देख। यदि शीघ्रतासे अनिच्छासे ही मलमूत्र का त्याग हो जावे तो सधर्मी गुरु प्रायश्चित्त न दवें।

भगवती आराधनामें कहा गया है कि आदान निक्षेप विषयक सावधानीका कथन करनेसे प्रतिष्ठापना समितिका कथन हो जाता है। त्याज्य मूत्रादिको निजन्तुक प्रदेश में त्यागना प्रतिष्ठापना समिति है।

अतिचार—विजयोदयामें शरीर और भूमिका शोधन न करना तथा मलत्याग करनेके स्थानको न देखना प्रतिष्ठापना समितिके अतिचार कहे गये हैं।[5]

---

१ भगवती आराधना गा ११९२ मूलाचार ५/१२२ ३

२ विजयोदया (भगवती आराधना सहित) पृ ३८।

३ मूलाचार ५/१२४ ८।

४ भगवती आराधना गाथा ११९३।

५ विजयोदया (भगवती आराधना सहित) पृ ३८।

समितियोके विषयमे भगवती आराधनामें कहा गया है कि समितियोंसे युक्त साधु जीवनिकायबहुल पृथ्वीपर हिंसादिमे उसी प्रकार लिप्त नही होता है जिस प्रकार कमलपत्र जलमे तथा कवचयुक्त व्यक्ति बाणोसे विद्ध नही होता। समितिसे सवर और निर्जरा होती है।

गुप्ति—अपराजितसूरि गुप्तिकी व्याख्या करते हुए कहते है कि ससारके कारणोंसे आत्माके गोपनको गुप्ति कहते है अथवा योगके सम्यक निग्रहको गुप्ति कहते हैं अथवा स्वच्छाचारिताका अभाव गुप्ति है।[2] मूलाचारमे सावद्यकार्योंसे मन वचन कायकी प्रवृत्तिके निवारणको गुप्ति कहा गया है।[3]

मनोगुप्ति—भगवती आराधनामे रागादिसे मनकी निवृत्तिको मनोगुप्ति कहा गया है। अपराजितसूरि इसकी व्याख्या करते हुए कहते है कि रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है अथवा आत्माकी रागादिसे निवृत्ति मनोगुप्ति है। स्वाध्यायमे रागादिसहित प्रवृत्ति मनोगुप्तिका अतिचार है।

वचोगुप्ति—अलीकादिसे निवृत्ति अथवा मौन वचनगुप्ति है। भगवती आराधनाके इस कथनकी व्याख्यामें अपराजितसूरि कहते है कि विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमे कारण होनेसे और दूसरोको दुखकी उत्पत्तिमे निमित्त होनसे जो अधर्ममूलक वचनसे निवृत्ति है वह वचनगुप्ति है अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है। इस वचनगुप्तिसे भाषासमितिमें यह अन्तर है कि उसमे प्रेक्षापूर्वकारितासे योग्य वचन बोला जाता है और अयोग्य वचनमे अप्रवृत्ति अर्थात मौन वचनगुप्ति है। विजयोदयामें जहा गाथा १६ की व्याख्यामे समिति गुप्ति ज्ञान दर्शनके अतिचार कहे गये है वहां वचोगुप्तिके अतिचार छूट गये हैं। लिपिकारके प्रमाद आदि कारणसे लुप्त हो गये होगे।

कायगुप्ति—औदारिक शरीरकी क्रियासे निवृत्ति कायगुप्ति है अथवा शरीरमे ममत्व न करना कायगुप्ति है। हिंसादिसे निवृत्तिको भी आगममे कायगुप्ति कहा गया है।

---

१ भगवती आराधना गाथा ११९५ ९७।
२ विजयोदया (भगवती आराधना सहित) पृ १४८।
३ मूलाचार ५/१३५।
४ विजयोदया पृ ५९६।
५ विजयोदया पृ ३८।
६ भगवती आराधना गाथा ११८१।
७ मूलाचार ५/१३६ व भगवती आराधना गाथा ११८२।

चित्तके असमाधान रहते हुए शारीरिक क्रियाका रोकना कायगप्तिका अतिचार है। अतिचारोंके विषयमें अपराजितसूरिका कथन है कि आवागमनके स्थान पर एक परसे खड़ रहना अशुभ ध्यानम लीन होकर निश्चल होना मिथ्या देवताओंकी मूर्तिके सम्मख खड़े रहना सचित्त भूमिमें अथवा क्रोध या अभिमानसे खड रहना कायगप्तिके अतिचार हैं। कायोत्सर्गको कायगुप्ति मानने वालोंके पक्षमें कायोत्सर्गके दोष ही कायगप्तिके अतिचार हैं।

खेतकी बाड नगरकी परिखा या प्राकार जिस प्रकार नगरकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार गुप्तिया साधकी आत्माकी पापसे रक्षा करती है।

गप्ति और समितिम अतर यह ह कि गुप्ति निवृत्तिरूप है समितिया प्रवृत्तिरूप।

षट आवश्यक—आवश्यककी परिभाषा करते हुए मूलाचारम कहा गया है कि पापादिके वश्य न होना अवश्य है अवश्यककी क्रियाका नाम आवश्यक है।[३] अपराजितसूरि आवासय शब्दकी व्याख्या करत हैं कि जो आत्माम र नत्रयका आवास कराते हैं व आवश्यक ह। य आवश्यक छह हैं सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सग।

सामायिक—मलाचारम सामायिकके नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल तथा भावके भेदसे छह भेद कह गय ह।[५] अपराजितसरिने नाम स्थापना द्रव्य और भावके भेदसे सामायिकके चार भेद कहे हैं।[६]

निक्षेपोकी अपेक्षासे किये गये सामायिकके इन भेदोंकी व्याख्या विजयोदयामें इस प्रकार की गई है। निमित्तकी अपेक्षाके बिना किसी जीव आदिका सामायिक नाम रखना नामसामायिक है। सर्व सावद्यके त्यागरूप परिमाणवाले आत्माके द्वारा एकीभूत शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है, उस आकारके समान होनेसे यह वही है इस प्रकार जो चित्र पुस्तक आदिमे स्थापना की जाती है वह स्थापना सामायिक है। द्रव्य सामायिकके दो भेद हैं—आगम द्रव्य सामायिक व नोआगमद्रव्यसामायिक। द्वादशाङ्ग श्रुतके आद्य ग्रंथका नाम सामायिक

१ विजयोदया प ३८।
२ मूलाचार ५/१३७।
३ मूलाचार ७/१४।
४ विजयोदया पृ १५३।
५ मूलाचार ७/१७।
६ विजयोदया पृ १५३।

है उसके अर्थका जो ज्ञाता है जिसे सामायिक नामक आत्मपरिणामका बोध है किन्तु वर्तमानमें उस ज्ञानरूपसे परिणत नहीं है अर्थात उसका उपयोग उसमें नहीं है वह आगमद्रव्यसामायिक है। नोआगमद्रव्यसामायिक ज्ञायकशरीर भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे तीन प्रकारकी है। सामायिकके ज्ञाताका जो शरीर है वह भी सामायिकके ज्ञानमें कारण है क्योंकि आत्माकी तरह शरीरके बिना भी ज्ञान नही होता। जिसके होने पर जो नियमसे होता है और अभावमें जो नही होता वह उसका कारण है। ऐसी वस्तुओमें कार्यकारणभावकी व्यवस्था है। अत ज्ञान सामायिकका कारण होनेसे त्रिकालवर्ती शरीर सामायिक शब्दसे कहा जाता है। चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशमविशेषकी सन्मायतासे जो आत्माका भविष्यमें सर्व सावद्ययोगके त्यागरूप परिणामवाली होगी उसे भाविसामायिकशब्दसे कहा जाता है। जो चारित्रमोहनीयनामककर्मके क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त है वह नोआगम द्रव्यतद्व्यतिरिक्तसमायिक है। भावसामायिक भी दोप्रकार की है—आगमभाव और नोआगमभाव। इनम प्रत्ययरूप सामायिक आगमभावसामायिक है और सव सावद्यके योग त्यागरूप परिणाम नोआगमसामायिक है।[1]

सामायिकके महत्त्वके विषयम मूलाचारम कहा गया ह कि सामायिक करनसे श्रावक श्रमण हो जाता है।[2]

चतुर्विंशतिस्तव—वृषभादि चौबीस तीर्थङ्करोका स्तवन चतुर्विंशतिस्तव है। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे यह भी छह प्रकारका ह।

वदना—रत्नत्रय सहित आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक व स्थविर मनियोके गुणातिशयको जानकर उनकी श्रद्धापूर्वक विनय करना वदना ह। यह विनय दो प्रकार की है—अभ्युत्थान और प्रयोग। गुर्वादिकोके सम्मानम खड होना अभ्युत्थान विनय है। असयमियों सयमासयमियों और पार्श्वस्थ आदि पाच प्रकारके भ्रष्ट मुनियोंके सम्मानमे उठना नही चाहिए। जो रत्नत्रय और तपम नित्य तत्पर हैं उनके लिए ही उठना चाहिए। जो सुखशील साधु हैं अर्थात् प्रमादयुक्त और अपने रत्नत्रयके पालनमें असावधान हैं ऐसे साधुओकी विनय नही करना चाहिए क्योकि उससे कर्मबध होता है। किंतु वाचनादाता एवं अनुयोग शिक्षक यदि रत्नत्रयमें अपनेसे न्यून भी हो तो भी उनके सम्मानमें उठकर खडा होना चाहिए।

---

१ विजयोदया प १५३।
२ मूलाचार ७/३८।
३ मूलाचार ७/७८८२।

वसतिसे कायभमिसे भिक्षासे जिनमदिरसे गरुके पाससे अथवा ग्रामान्तरसे आनेके समय उठना चाहिए ।[1]

मन-वचन कायकी शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म प्रयोग-विनय है । यह कृतिकर्म ३२ दोषोंसे रहित होना चाहिए । मूलाचारमें कहा गया है कि कृतिकर्ममें दो नमस्कार बारह आवर्त चार शिरोनति और तीन शद्धियां होती हैं ।[2]

प्रतिक्रमण—दोषोंसे निवृत्तिको प्रतिक्रमण कहते हैं । विजयोदयामे इसके भी नाम स्थापना द्रव्य क्षत्र काल और भावके भेदसे छह प्रकार बताय गय हैं । अयोग्य नामोंका उच्चारण न करना नामप्रतिक्रमण है । आप्ताभासोंको मूर्तियों आदिके सम्मुख पूजन न करना स्थापनाप्रतिक्रमण है । दूषित द्रव्योंका त्याग द्रव्यप्रतिक्रमण है । दूषित क्षत्रोका प्रतिक्रमण क्षेत्रप्रतिक्रमण है । अकालमें गमनागमन न करना काल प्रतिक्रमण है । मिथ्यात्व आदि अशुभ व पुण्यास्रवभूत शुभ भावोंसे निवृत्ति भाव प्रतिक्रमण है ।[3]

प्रतिक्रमण दवसिक रात्रिक ऐर्यापथिक पाक्षिक चातुर्मासिक व सावत्सरिक होता ह ।

प्रत्याख्यान—आगामी कालमे किसी कार्यके न करनेके संकल्पका नाम प्रत्याख्यान है । नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे इसके भी छह भद हैं । अयोग्य नामके उच्चारणके त्यागका सकल्प नामप्रत्याख्यान है । आप्ताभासो की मूर्तियोंके न पूजनेका सकल्प आदि स्थापनाप्रत्याख्यान है अयोग्य द्रव्यके त्याग का सकल्प द्रव्यप्रत्याख्यान है । अयोग्य क्षेत्रके त्यागका सकल्प क्षत्रप्रत्याख्यान है । विशिष्ट कालमें क्रियाके त्यागका सकल्प कालप्रत्याख्यान है । भावका अर्थ अशुभ परिणाम है । इसके दो भेद हैं—मूलगणभावप्रत्याख्यान तथा उत्तरगणभावप्रत्याख्यान । मूलगणोंमे दूषण लगाने वाले भावों—परिणामोका त्याग मूलगुणभावप्रत्याख्यान है और उत्तरगुणोको दूषित करने वाले भावोंके त्यागका नाम उत्तरगुणभाव प्रत्याख्यान है ।

सयमियोंके जीवनपर्यन्त मूलगुणभावप्रत्याख्यान होता है । उत्तरगुणभाव प्रत्याख्यान अल्पकालिक व जीवनपर्यत दोनों होता है । यह प्रत्याख्यान उपधि और आहारका होता है ।

---

१ विजयोदया पृ १५४ ।
२ मूलाचार ७/१ ४ ।
३ विजयोदया पृ १५५ ६ ।
४ विजयोदया पृ १५९ ।

कायोत्सर्ग—कायका त्याग अर्थात कायमे ममत्व न रहना कायोत्सर्ग है। यति शरीरसे निस्पृह होकर स्थाणकी तरह शरीरको सीधा करके दोनो हाथोंको लटकाकर प्रशस्त ध्यानमें लीन हो शरीरको ऊँचा नीचा न करके परीषहो और उपसर्गोंको सहन करता हुआ कर्मोंको नष्ट करनेकी अभिलाषासे जतुरहित एकान्त देशमें ठहरता है यह कायोत्सग है।

कायोत्सगका जघन्यकाल अन्तम हूर्त और उत्कृष्ट काल एक वर्ष है। अतिचारोको दूर क नके लिए यह किया जाना है। इसके रात दिन पक्ष मास चारमास वर्ष आदि कालम होने वाले अनक भद हैं। सायकालम सौ उच्छवास प्रमाण प्रात काल म पचास उच्छवास प्रमाण पाक्षिक अतिचारम तीनसौ उच्छ्वास प्रमाण चार मासो म चारसो उच्छ्वास प्रमाण और वार्षिकम पाँचसो उच्छवास प्रमाण काल कायोत्सर्ग-का है। हिंसादि पाँच पापोके त्यागम होने वाले अतिचारोमें एकसौ आठ उच्छ्वास प्रमाण अधिक काल तक कायोत्सग करना चाहिए। दैवसिक अतिचारमें एकसौ आठ उच्छवास रात्रिक आतचा में चौवन उच्छवास भक्त-पान ग्रामान्तर जाने उच्चार प्रस्रवण आदि अतिचारम पच्चोस उच्छवास निदश आदि अतिचारमे सत्ताईस उच्छवासप्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए।

मूलाचारम कायोत्सर्गके चार भद बताये गये हं उत्थितोत्थित उत्थितनिविष्ट उपविष्टोत्थित तथा उपविष्टनिविष्ट। जो धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान सहित खड होकर कायोत्सग करता ह वह उत्थितोत्थित नामक कायोत्सग है। जो आतरौद्र ध्यानके साथ खड होकर कायोत्सग करना है उसके उत्थितनिविष्ट नामक कायोत्सर्ग होता है। जो बैठकर धर्म और शुक्लध्यान करता है उसके उपविष्ट उत्थित कायोत्सर्ग होता है। जो बठे हुए अशभध्यानमे लीन होता है उसके उपविष्ट निविष्ट कायोत्सर्ग होता है।

उपसर्गको सहन करनेके लिए कायोत्स। करना चाहिए। बाहुयुगलको लटकाकर पैरोमें चार अंगुल का अतर रखकर सर्वाङ्गचलनरहित कायोत्सर्ग शुद्ध है।

कायोत्सर्गमें अनेक दोषोकी सभावना है। घोडकी तरह पैर मोडकर खडा होना लताकी तरह हिलते हुए खड होना खम्भेकी तरह शरीरको स्तब्ध करके खडा होना दीवार आदिके आश्रयसे अथवा सिर लगाकर खडे होना कौओके समान आँखोंको हिलाना लगामसे पीडित घोडेको तरह मुख चलाना कन्धे पर जुआ रख बैलकी

---

१ मूलाचार ७/१५९ ६४ व विजयोदया पृ १६२।

२ मूलाचार ७/१७६ ८ व विजयोदया पृ १६२।

तरह सिर लटकाकर खड़े रहना कैथका फल ग्रहण करते समय जैसे हथेली फैलाते हैं उस प्रकार हथेली फलाकर खड होना सिर घुमाते हुए खड होना गू गेकी तरह हुकार करते हुए खडे होना अगुली चटकाते हुए खड होना भौंको नचाना भीलनीकी तरह अपने अग्रभागको ढाकते हुए खड होना ऐसे खड होना मानो पैरोमें सांकल बधी है और मदिरा पिये हुए की तरह खड होना ये अठारह दोष ह। इन दोषोंका परिहार करना चाहिए।

लोच—केशलोच मनिके लिए आवश्यक है। केशलोच न करने पर यदि बालोंकी सफाई न की जाए तो बालोम सम्मूछन जीवोंकी उत्पत्ति सभव है। साधके सोन पर किसीसे सर टकराने पर उन जीवोको बाधा पहुचती ह। भि न देश भिन्न काल और भिन्न स्वभाव होनसे जावोसे जीवोको बाधा पहुचती है। उम बाधाको दूर करना अशक्य जैसा ह। इसलिए केशलोच न करनसे हिंसादि दोष होत हं। साथ ही जं और लीखसे मा ाके सक्लेश परिणाम होते हैं। सक्लेश परिणाम अशभरूप होनसे पापास्रव का कारण हैं।

लोच करनसे निर्विकारता आत्मवशता अनासक्ति स्वाधीनता निर्दोषता और निममत्व होता है।

प्रतिक्रमण और उपवासके साथ दो मासम लोच उत्तम तीनमे मध्यम तथा चारम जघन्य कहा जाता ह।

आचेलक्य—चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण ह। समस्त परिग्रहके त्यागको आचेलक्य कहते ह। दश धर्मोका पालन आचेलक्यसे ही सभव है। समस्त परिग्रह से विरतिको त्याग कहत हैं वही अचेलता है। अत अचल मुनि ही यागधर्मका पालन करता है। जो निष्परिग्रह ह वही अकिचन है। निष्परिग्रही ही आरभ याग के कारण संयमी होता ह। परिग्रहके निमित्त ही असत्यमे प्रवृत्ति होती ह। अचेलके ही लाघव तथा अदत्तादान याग होता है। रागादिका त्याग होन पर ब्रह्मचर्य भी विशुद्ध होता है। परिग्रहके अभावम उत्तम क्षमा होती है सौ र्यका मद न होनसे मार्दव होता है। मायाके मूल परिग्रहका त्याग करनसे आजव धर्म होता ह। परीषहो पर विजय और तप होता है। इस प्रकार अचल मनि ही दश धर्मोका पालन करता है।

अचेलतासे सयमकी शुद्धि होती है। स्वेद धूलि और मलसे लिप्त वस्त्रमें उसी योनिवाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रसजीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव

---

१ मूलाचार ७/१७१ २ तथा विजयोदया पृ १६३।

२ मूलाचार १/२९।

उत्पन्न होते हैं। वस्त्र धारण करनसे उनको बाधा पहुँचती है। जीवोसे ससक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने-बठने सोने वस्त्र फाडने काटन बाँधने वष्टित करने धोने कूटने और धूपमें डालनेपर जावोको बाधा होनेसे महान असयम होता है। अचेलके सयम विशुद्धि होती है। अचेल इन्द्रिय विजयम उद्यत रहता है। ऐसा न करनेपर शरीरम विकार होनेपर लज्जित होना पडता है।

अचेलताका तीसरा गुण कषायका अभाव ह। वस्त्रसे उसकी रक्षाके लिए माया चार करना पडता ह। कलह होती है। वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है अहकार होता है। वस्त्रके धोन-सीने आदम लगनसे स्वाध्याय तथा ध्यानमें विघ्न होता है।

बाह्य परिग्रहका याग आभ्यन्तर परिग्रहका मल ह। बिना छिलकेका धान नियमसे शुद्ध होता ह उसी प्रकार अचेल नियमसे शुद्ध होता है सचलकी शुद्धि भाज्य ह।

अचेलतामें राग-द्वषका अभाव एक गुण है। राग और द्वेष बाह्य द्र यके अवलम्बन से होते हैं। परिग्रहके अभावम राग द्वेष नही होते। शरीरम अनादर भी अचलताका गुण है। अचेलतामे स्वाधीनता चित्तका विशद्धि निर्भयता तथा सर्वत्र विश्वास आदि गुण ह। प्रतिलेखना तथा परिकर्मका न होना अचेलताका गण है। सवस्त्रको अनक परिकर्म तथा प्रतिलेखना करनो होनी है। अचेलके लाघव गुण होता है। अचेल ही निग्र न्थ होता ह अ यथा अ य मतानुयायी भी निर्ग्र न्य कहे जायेंग। तीर्थङ्करो के मार्गका आचरण करना भी अचेलताका गुण है। सहनन और बलसे पूण तथा मक्ति-मार्गके उपदेशक सभा तार्थङ्कर अचेल थ तथा भविष्यम भी अचेल होग। मेरु आदि पर्वतोपर विराजमान जिनप्रतिमा और तीथङ्करोके मागके अनुयायी गणधर भी अचल होते हैं। उनके शिष्य भी उन्हीको तरह अचेल होते हैं। अपने बल वीर्यको न छिपाना भी अचेलताका गुण है। वस्त्रमें दोष तथा अचलताम अपरिमित गुण होनेसे अचलताको स्थितिकल्प कहा गया है।[1]

अपराजितसूरि एक ओर सभी तीथङ्कर जिनप्रतिमा गणधर और उनके शिष्यो को अचल कहते हैं दूसरो ओर आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाण यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इति हाक्खदित्ति आदि उद्धरण उद्धत करते हं।[2]

अस्नान—स्नानादिसे रहित पसीने आदिसे लिप्त शरीरका होना अस्नान व्रत है।

---

१ विजयोदया पृ ३२ –३२७

२ वही पृ ३२६।

क्षितिशयन—प्रासुकभूमिप्रदेशमें बिना किसी फलकके अथवा तृणमय या काष्ठ-मय फलकपर दण्ड अथवा धनुषके आकारमें एकपार्श्वसे शयन करना क्षितिशयन है।

अदंतधावन—अगुली नख या तिनके आदिसे दातोंको नही धोना अदंतधावन है।

स्थितिभोजन—परोमे चार अगुलका अ तर रखकर भित्ति आदिके सहारेके बिना खड होकर अपन खडे होन तथा जठा गिरने और परोसनेवालेके खड होनेकी भमि प्रासक हो यह देखकर अजलिपुटमे भोजन ग्रहण करना स्थितिभोजन है।

एकभक्त—सूर्यके उदय और अस्त होनेके दो कालोंके बीच उदयके बाद तीन नाडी काल और अस्तके पूर्व तीन नाडी कालको छोडकर शष समयम एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त है।

दशस्थितिकल्प—मूलाचार तथा भगवती आराधनामें मूलगुणोंके अतिरिक्त दश स्थितिकल्पोका भी वर्णन किया गया है। आचेलक्य उद्दिष्टत्याग शय्याधरपिड याग राजपिण्डत्याग कृतिकर्म व्रत (दान) पुरुष येष्ठता प्रतिक्रमण मास और पयषण ये दशस्थितिक प हैं। इनम शय्याधरपिड याग तथा राजपिड यागको छोडकर शेष सभी आचार दिगम्बर परम्परामे भी मा य हैं। ये सभी प्रथम व अन्तिम तीर्थङ्कर के कालम अनिवार्य माने गये हैं इसलिए इन्ह स्थितिक प कहा जाता है। रुग्ण तथा वृद्ध साधके लिए यदि मरणका भय उपस्थित हो तो राजपिडका ग्रहण अपवाद रूप म मा य है।

लिंग—अचलता मनिके लिए उ सर्गलिंग है। कारणकी अपेक्षासे आर्यिकाओंको आगमम वस्त्रकी अनुज्ञा है। आर्यिकाओका यह लिंग उ सर्ग लिंग ही है दिगम्बरोकी भाँति औपचारिक नही।

भिक्ष अपवाद रूपसे वस्त्र-पात्र ग्रहण कर सकता है। यह वस्त्रधारण तीन कारणों से होता है। यदि उसके शरीरमें कोई दोष हो लिंग चर्मरहित हो या अण्डकोश लम्बे हो अथवा वह ल जाल हो अथवा परीषह सहनेम असमथ हो तो वह वस्त्र ग्रहण करता है। यह वस्त्रधारण कारणविशेषकी अपेक्षास ग्रहण किया जाता है अत अपवाद माग है। जो उपकरण कारण विशेषकी अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण ग्रहणकी विधि तथा गृहीत उपकरणका त्याग आचाराग कल्पसूत्र आदि सूत्रोमे निर्दिष्ट किया गया ह यह कहकर विजयोदयाकार[३] अपवादलिंगको त्याज्य ही मानते हं।

---

१ विशेष विवरणके लिए चतुथ परिच्छेद देखिए।

२ भगवती आराधना गाथा ८ व विजयोदया प ११५।

३ विजयोदया पृ ३२१।

सामाचारी—श्रमण जीवनकी उन सब प्रवृत्तियोंका समाचारीम प्रवेश होता है जो वह अहर्निश करता ह। समाचार शब्दके मूलाचारम चार अर्थ बताय गये हैं—समताका आचार सम्यक आचार सम (तुल्य) आचार और सबक प्रति सम्मान का आचरण।

समदा सामाचारो सम्माचारो समो वा आचारो।
सव्वेसिं सम्माण समाचारो दु आचारो॥ ४/१२३॥

समाचारी दो प्रकारकी ह—औघिक तथा पदविभागी। औघिक दश प्रकारकी है तथा पदविभागोके अनेक प्रकार हैं। औघिकके दश भेद इस प्रकार हैं—

इच्छाकार—(इटठ इच्छाकारो) सम्यग्दर्शन तथा शुभपरिणाम आदि इष्टमें इच्छापूवक प्रवर्तित होना इच्छाकार है। सयम ज्ञान व अन्य उपकरणोंको याचना करनेमें तथा योग ग्रहण करनेमें इच्छाकार करना चाहिए।

मिथ्याकार—(मिच्छाकारो तहेव अवराहे) दुष्कृतका भावसहित प्रत्याख्यान करके पुन उसे न करना चाहिए।

तथाकार—(पडिसुणणम्हि तहत्ति य)[२] वाचना उपदेश तथा सूत्राथ ग्रहण करते समय जैसा गुरु आदिने प्रतिपादित किया है वसा ही है अन्यथा नहीं यह भावना तथाकार है।

आसिका—(णिग्गमण आसिया भणिया) वसतिकासे जाते समय गरु देव आदिसे कहकर जाना।

निषीधिका—(पविसते य णिसीही) प्रवश करते समय इस शब्दका प्रयोग करना चाहिए।

आपृच्छा—(सकज्ज आरभ आपुच्छणिया) आहारादि अपने कार्यके लिए गुरु की आज्ञा लेना आपृच्छा है।

प्रतिपृच्छा—(साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिटठम्हि पडिपुच्छा) पहले निषध कर दी गई वस्तुके विषयम प्रश्न करना प्रतिपृच्छा है।

छंदन—(छदण गहिदे दव्वे) गृहीत द्रव्यका उसी अभिप्रायसे सेवन छदन है।

---

१ मलाचार ४/९।
२ वही ४/१।
३ वही ४/१२।
४ वही ४/१३।

निमन्त्रणा—(अगहिदव्वे णिमतणा भणिदा) गुरु या साधर्मिकका द्रव्य यदि ग्रहण करना हो तो विनयसे याचना करना निमन्त्रणा है।

उपसंपा—संघमें गुरुके समक्ष आत्मोत्सर्ग करना उपसपा सामाचार है।

इसके विषयमे भगवती आराधना तथा विजयोदयामे कहा गया है कि मुनि आचारवत्व आदि गुणोंसे युक्त आचार्यके पास जाकर मन-वचन-कायसे षट् आवश्यकों को पूर्ण करके आचायका वदना कर यह कहता है कि आप द्वादशाग श्रतके पारगामी हैं, मैं आपके चरणोमें बठकर श्रामण्यको उद्योतित करूँगा। दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर अब तक जो अपराध किये हैं उनकी दोषरहित आलोचना करके दर्शन ज्ञान तथा चारित्रको श यरहित पालन करना चाहता हूँ। यह उपसपा है।

मलाचारके अनुसार विनय क्षेत्र माग सुख दु ख तथा सूत्रम पाँच प्रकारकी उपसपा कही गई है।[३]

पदविभागी—विद्या बल वीर्य और उ साहसे सम्पन्न शिष्य अपने गुरुसे अध्ययन करके अ य गरुके पास शास्त्राध्ययनकी इच्छासे गरुके समीप जाकर विनय पूवक पूछता ह कि आपकी कृपासे अन्यत्र जाना चाहता हूँ। यह तीन पाँच तथा छ९ बार पूछता । यह पूछकर अपने गरु द्वारा विसर्जित होकर अपन अतिरिक्त तीन दो अथवा एक मनिको लेकर जाता ह।

एकाविहारा वही हो सकता है जो द्वादशविध तप करता है। द्वादशाग तथा चतुदश पूवरूप आगम ग्रथको जानता है। सहनन तथा धय सम्पन्न है तत्त्वज्ञ है। वद्ध तपस्वी व आचारसिद्धान्तका ज्ञाता ह। जो ऐसा न होकर भी गणत्याग कर एकाकी विहार करता ह उससे गुरुपरिवाद श्रतव्यवछेद तीर्थकी मलिनता जडता विह्वलता कुशील पार्श्वस्थता आदि दोष उत्पन्न होते हैं। सामर्थ्यके बिना एकाकी विहार करने पर आज्ञाकोप अनवस्था मिथ्याराधना आत्मनाश सयमविराधना ये पाँच दोष होते हैं। इसलिए वहाँ निवास करना योग्य नही है जहाँ आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक स्थविर और गणधर ये पाँच आधार न हो।

---

१ मूलाचार ४/९–१७।
२ भगवती आराधना गाथा ५१ –६।
३ मूलाचार ४/१८ २२।
४ मूलाचार ४/२४ २५।
५ मूलाचार ४/२७ ३१।

जब कोई मनि नवीन गच्छमे आता है तब मुनि वात्सल्यके लिए सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन करनेके लिए उन्हे अपने गच्छमें सम्मिलित करनेके लिए तथा प्रणाम करनके लिए खड हो जाते ह। नवीन मुनि गच्छमे आता है तब सात कदम चलकर एक दूसरको प्रणाम करके रत्नत्रयके विषयम प्रश्न करना चाहिए। आगन्तुक को तीन रात्रि निवास देना चाहिए। उसका स्वाध्याय आदि क्रियाओमे तथा शयनीय आदिके विषयम परीक्षा करनी चाहिए। षडावश्यक प्रतिलेखन वचनग्रहण निक्षेप स्वाध्याय एकविहार भिक्षाग्रहण आदिम परीक्षा करना चाहिए। आगन्तुक और गच्छके साधुओको एक दूसरकी परीक्षा करनी चाहिए। आगतुकको एक दिन विश्राम करके दूसरे या तीसर दिन आचार्यसे अपन कार्यका निवदन करना चाहिए। यदि आगन्तुकका ज्ञान और चारित्र शुद्ध ह वह नित्य उद्यमशील विनीत और मेधावी ह तो आचाय उसे गच्छम रखे। यदि वह अयोग्य है तो छेदोपस्थापना करना चाहिए अर्थात प्रायश्चित्त देकर पुन दीक्षित करना चाहिए। यदि वह छदोप स्थापना नही चाह तो उसे सघम सम्मिलित नही करना चाहिए। इस प्रकार आगतुक व आचाय दोनोका आदरपूर्वक शिक्षा ग्रहण करनो व देनी चाहिए। स यक द्रव्य क्षत्र काल और भावकी प्रतिलेखना करके विनयोपचारसे युक्त होकर प्रयत्न पूवक अध्ययन करना चाहिए। यदि सूत्रार्थके लोभम द्र य क्षेत्र काल और भावका अतिक्रमण करता है तो असमाधि अस्वाध्याय कलह व्याधि और वियोग होता है। दोनो समय पर्याप्त प्रकाशम (हाथकी रखाए प्रकाशम स्पष्ट दिख) तब प्रय नपूवक प्रतिलेखना करनो चाहिए। गच्छमे ग्लान गुरु बाल वद्ध और शक्ष्यकी यथायोग्य वैयावत्य करनी चाहिए। दैवसिकी रात्रिकी पाक्षिकी चातुर्मासिकी व वार्षिकी क्रियाओम तथा वदना आदि कार्योंम सहयोग करना चाहिए। आर्यके आगमनकालमें एकाकी नही रहना चाहिए। गणिनीको आगे करके प्रश्न करना चाहिए। मनियोको आर्यिकाओके उपाश्रयमें बठना लेटना स्वाध्याय आहार भिक्षा और व्युत्सग आदि नही करना चाहिए। गणधरकी इच्छानुसार प्रवर्तित होना ही मनियोका समाचार ह। यही पदविभागी सामाचारी है।

सर्योदयसे लेकर दिन रातका मुनियोंका जो कार्यकलाप है वह पदविभागी सामाचारी है।

सामाचारीका वर्णन श्वेताम्बर ग्र थोंम भी मिलता ह। आवश्यकनियुक्ति तथा विशेषावश्यकभाष्यम सामाचारीके तीन प्रकार बताये गये हैं। ओघ दशविध तथा

---

१ मलाचार ४/१४५ ९७।

२ मलाचार ४/१३ ।

पदविभागी। मूलाचारम निर्दिष्ट दशविध औधिक सामाचारी आव यकनियु क्ति तथा विशेषावश्यकभाष्यम दशविध सामाचारी है।[1]

ओघसामाचारीका निरूपण ओघनियु क्तिमें किया गया है। उसके प्रतिलेखन पिण्ड उपधिप्रमाण अनायतनवर्जन प्रतिसेवना (दोषाचरण) आलोचना और विशोधि ये सात द्वार हैं।

पडिलहूण च पिण्डं उवहिपमाणं अणाययणवज्ज।
पडिसवणमालोऊण जह य विसोहो सुविहियाण॥

दशविध समाचारीका वणन भगवती स्थानाग उत्तराध्ययन तथा आवश्यक नियु क्ति आदिम मिलता है।[3] पदविभाग-सामाचारीका वर्णन छदमत्रोम है। कल्प सूत्रम वर्णित मामाचारी पदविभाग-सामाचारी है।

तप—कर्मोकी निर्जराके लिए तपश्चरण आवश्यक है। तप दो प्रकारका ह—बाह्य व आभ्य न्त । दोनोके छह छह भेद हैं। अनशन अवमौ य रसपरित्याग व ि परिसंख्यान कायक्लेश विविक्तशयनाशन य छह बाह्य तप हैं।

अनशन—अनशन साकाक्ष और निराकाक्ष दो प्रकारका ह। कालसापेक्ष साकाक्ष तथा याव जीवन निराकाक्ष है। इसे ही अद्धानशन तथा सर्वाशन कहा गया ह। सर्वा नशन अन्तिम समयम किया जाता है। तीन चार पाच छह प द्रह दिन तथा मामभरमे लेकर कनकावली एकावली आ ि तक अशन याग अद्धानशन ह

अवमौदार्य—बत्तीस ग्रास प्रमाण आहार पुरुषका होता ह। अटठाइस ग्रास प्रमाण आहार स्त्रीका होता है। इस आहारसे कम आहार करना अवमौदायवृत्ति है।

रसपरित्याग—दूध दही घी तल गड तथा नमकका त्याग करना रसपरित्याग ह। अथवा तिक्त कटक कषाय लवण अम्ल तथा मधुर रसोका त्याग करना रसपरित्याग है। मद्य मास मध और नवनीत महाविकृतिया है इनका परित्याग भी आवश्यक है।[5]

वृत्तिपरिसख्यान—आहार ग्रहण करनके लिए विविध प्रकारके नियम लेना वृत्ति परिसख्यान ह। गृहोके प्रमाण दाताओंके प्रमाण आदिका नियम लेना अथवा जिस

---

१ विशषावश्यकभाष्य भाग २ गाथा २५ ६।
२ ओघनिय क्ति २।
३ भगवती २५/७ स्थानाग १ /७४९ आदि।
४ भगवती अराधना २१ २ मूलाचार ५/१४८ ५१।
५ भगवती आराधना गा २१३ १४।
६ भगवती आराधना गाथा २१५ १९।

मार्गसे पहले गया उसीसे लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं सीधे मागसे जाने पर यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा अन्यथा नही आदि मार्ग नियम लेना वृत्तिपरिसख्यान है। मार्ग नियम गतप्रत्यागत ऋजुवीथि गोमूत्रिक शम्बकावत पतगवीथि आदि अनेक प्रकार हं।

इसके अतिरिक्त इस प्रकारके नियम करना कि फाटकम प्रविष्ट होकर भिक्षा ग्रहण करूँगा अन्यथा नही अथवा एक या दो फाटकम प्रवश करके भिक्षा ग्रहण करूगा अथवा घ मे लगी हुई भमिम प्रवश करूगा घरम नहीं एक ही भिक्षा या ो ही भिक्षा ग्रहण करूगा अधिक नही आाद नियम वृत्तिपरिसख्यान है। ग्रामका परिमाण पिडरूप भोजन पानरूप भोजन चना मसूर आदि विशिष्ट धान्य ग्रहण करनका नियम गाकसे मिला भोजन जिसम चारो ओर शाक और बोचम भात हो आदि अनेक नियम लिय जाते हं।

कायक्लेश—शरीरको कष्ट-सहिष्ण बनाकर किया जान वाला तप कायक्लेश है इसके अनुसूरी प्रतिमरी अर्ध्वसरि तियकसरी ग्रामान्तरमे भिक्षाके लिए जाना आदि अनेक भेद हैं। चिकन स्त म पर खड होना दोनो परोको बराबर करके खड होना सम्यक् पयकाशनसे बठना जाँघ और कटि भागको सम करके बैठना गोदोहन करते समय जसे बठते ह वसे आसनसे बठना एक पैर फैलाकर बठना दोनो जघाओको सामने कर गायकी तरह बठना अर्द्धपर्यङ्कासन ये सब कायक्लेशके आसन हैं।

विविक्तशयनासन—जिस वसतिम स्वाध्याय और ध्यानमें व्याघात नही होता वह विविक्त वसति ह। विविक्त वसतिम मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द स्पर्श रस रूप गन्ध व स्पर्श द्वारा अशभ परिणाम नही होत। शून्यघर पहाडकी गुफा वृक्ष का मल आन वालोके लिए बनाया घ देवकुल आदि विविक्त वसतियाँ हैं। यहाँ कलह संक्लेश व्यामोह और ममत्व नही होता। इनमे निवास करना विविक्तशयनासनतप ह।

इन बाह्य तपोसे आभ्यन्तर तपम श्रद्धा होती ह। वीर्याचारमे प्रवृत्ति होती है। ध्यान दढ होता है। आत्मा कुल गण तथा अपनी शिष्यपरम्परा शोभित होती है।

विजयोदयाम इन तपोके अतिचारोका भी वर्णन है। वे इस प्रकार हैं—

---

१ भगवती आराधना गा २२ २२३।
२ भगवती आराधना गा २२४ २९।
३ भगवती आराधना गा २३ ४।
४ भगवती आराधना गा २३८ ४६।

अनशनतपके अतिचार

स्वयं भोजन न करते हुए दूसरोंको भोजन कराना मन-वचन-कायसे दूसरको भोजनकी अनुमति देना स्वयं भूखसे पीडित होने पर मनसे आहारकी अभिलाषा करना मुझे पारणा कौन देगा अथवा पारणा कहाँ होगी इत्यादि चिन्ता अनशनतप-के अतिचार हैं। अथवा रसीले आहारके बिना मेरी थकान दूर नही होगी यह विचार करना प्रचुर निद्रामें पड़कर षट्कायके जीवोंकी बाधामें मन-वचन-कायसे प्रवृत्त होना मैंने संक्लेशकारी उपवास किया व्यर्थ किया यह सतापकारी है इसे नही करूँगा। इस प्रकारके विकल्प भी अनशनतपके अतिचार हैं[1]

अवमौदार्यतपके अतिचार—मनसे बहुत भोजन करनेमें आदर दूसरको बहुत भोजन करानेकी चिंता तृप्तिपूर्वक भोजन करो ऐसा कहना मन बहुत भोजन किया ऐसा कहनेपर आपने अच्छा किया हाथके सकेतसे कठदेशका स्पर्श कर कहना मैंने आकण्ठ भाजन किया।

वृत्तिपरिसख्यानतपके अतिचार

सात घरमे प्रवश करूगा इत्यादि सकल्प करके दूसरेको भोजन कराना है इस भावसे सात घरसे अधिक घरोंम प्रवेश करना तथा एक महल्लेसे दूसरे महल्लेमें जाना। विजयोदयाके इस उल्लेखसे भोजन एकत्रित करके वसतिकामें स्वय ग्रहण करन तथा अन्य रुग्ण आदि मुनिको ग्रहण करानेका अभिप्राय सचित होता है।

रसपरित्यागतपके अतिचार

रसोंम आसक्ति दूसरोको रसयुक्त आहारका भोजन कराना अथवा आहारके भोजनकी अनुमति ये रसपरित्यागतपके अतिचार हैं।

कायक्लेशतपके अतिचार—गर्मीसे पीडित होने पर शीतलद्रव्य प्राप्तिकी इच्छा होना सताप दूर होनेकी चिंता होना पूर्वभुक्त शीतलद्रव्यों तथा प्रदेशोंकी स्मृति कठोर धपसे द्वेष करना शीतलप्रदेशसे अपने शरीरको पीछीसे शोधे बिना धूप या गर्मस्थानम प्रवेश करना अथवा धूपसे सतप्त शरीरको जलसे धोकर हाथ पैर अथवा शरीरसे जलकायिक जीवोको पीडा देना शरीरमें लग जलके कणोंको हाथ बगरहसे पोंछना हाथ या पैरसे शिलातलपर पडे जलको दूर करना कोमल गोली भूमिपर सोना जलके बहनेके निचले प्रदेशम ठहरना कब वर्षा होगी कब रुकेगी आदि चिन्ता करना वर्षासे बचनेके लिए छाता धारण करना आदि कायक्लेशतपके अतिचार हैं।

अभ्रावकाशतपके अतिचार—यहाँ विविक्तशयनासनके स्थानपर अभ्रावकाश शब्दका प्रयोग किया गया है। सचित्त भूमि पर जिसमें त्रसरहित हरितकाय हो तथा

---

१ विजयोदया पृ ३७१ २।

छिद्रवाली भूमि पर सोना भमि और शरीरको पीछीसे शुद्ध किये बिना हाथ पैर सिकोडना-फैलाना करवट लेना शरीर सुखाना हिम और वायुसे पीडित होने पर उनके रुकनकी चिंता करना शरीरपर गिरी बर्फको हटाना अथवा वर्षासे संघटन करना यहाँ अधिक वायु है ऐसा संक्लेश करना शीत दूर करनेके साधन आग और ओढ़नेके वस्त्र आदिका स्मरण करना अभ्रावकाशतपके अतिचार हैं।

आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त विनय वैयावत्य स्वाध्याय ध्यान और व्युत्सर्ग ये छह आभ्यन्तर तप है।

प्रायश्चित्त—प्रायश्चित्त वह तप है जिससे पूवकृत पापोकी शुद्धि होती ह। प्रायश्चित्त जानने वाले मनिको भा उत्कृष्ट विशुद्धिके लिए परकी साक्षीपूवक शुद्धि करनी चाहिए। प्रायश्चित्तके दश प्रकार ह —आलोचना प्रतिक्रमण आलोचना प्रतिक्रमण विवक व्युसर्ग तप छेद मल परिहार तथा श्रद्धान। यथा —

आलोयण पडिकमण उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छदा मल विय परिहारो चेव सद्दहणा॥

मन वचन कायकी प्रवत्ति करत हुए यदि उनके दुष्प्रयोगसे अतिचार लगा हो तो उसकी पूरी तरह आलोचना करनी चाहिए। देशभेद कालभद परिणामभद और सहायकके भदमे दोषोम गुरुपना और लाघवपना होता है। दोषोंकी लघुता और गरुताके अनसार गुरु प्रायश्चित्त दता है।

आलोचना दो प्रकारकी होती ह—एक सामान्य या औघिक और दूसरी विशेष या पदविभागी। मल नामक प्रायश्चित्त जिसे दिया जाता है वह सामान्य आलोचना करता ह उसकी दीक्षा मलसे ही समाप्त कर फिरसे आरम्भ की जाती है वह सामान्य मुनि धर्ममात्रम लगे दाषकी आलोचना करता ह। गुणविशेषमे लगे दोषकी आलोचना करना पदविभागी है।

नि शल्य होकर ही आलोचना करनी चाहिए। नि शल्यता ही यतियोकी आराधना है। आलोचनाके पूर्व एकान्तम कार्योत्सर्ग करना चाहिए। एकान्तम ही गुरु एकाकी आलोचना सुनते हैं।

आलोचनाके दोष[३]—आलोचनाम अनेक दोष हो सकते हैं उन्हें त्यागकर निर्दोष आलोचना करनी चाहिए।

---

१ मलाचार ५/१६५।

२ मलाचार ५/१६७।

३ विजयोदया पृ ४ ३ १७।

१ **आकम्पित**—स्वय भिक्षालब्धिसे युक्त होनेके कारण आचार्यको उद्गमशुद्धि दोषोंसे रहित प्रासुक भक्तपानसे अथवा पिच्छि कमण्डल आदि उपकरणसे अथवा कृति-कर्म वंदनासे वैयावृत्य करके अपने पर आचार्यको कृपा उत्पन्न करके यदि कोई साध अपना अपराध कहता है और उस समय विचार करता है कि भोजन आदिके दान द्वारा उपकार करनेसे प्रसन्न होकर गुरु महान् प्रायश्चित्त नही देंगे। अत मैं स्थल और सक्ष्म सब अतिचार कहूँगा। इस प्रकार विचार करनेमें आलोचकके मनमें अविनय आती है यह आकम्पित नामक प्रथम आलोचना दोष होता है। यह आलोचना किंपाकफलके सदृश है।

२ **अनुमानित**—आलोचना करन वाला मुनि अपनी शक्तिको छिपाते हुए शरीरके प्रति सुखशील होनेके कारण यह विचार करे कि धीर पुरुषोके द्वारा आचरित उत्कृष्ट तपको जो करते है वे धन्य हैं माहात्म्यशाली ह म तो जघन्य प्राणी हूं उपवास करनम असमर्थ हूं इस प्रकार प्राथना करनपर गुरु लघु प्रायश्चित्त देकर मझ पर अनग्रह करगे ऐसा अनमानसे जानकर जो शल्यसहित आलोचना करता ह वह दूसरा आलोचना दोष है।

३ **दृष्ट**—जो दूसरोके द्वारा देख गय अपराधकी हो आलोचना करता है वह मायावी है।

४ **बादर**—जिन जिन व्रतोमे दोष लगे हो उनमेसे जो साधु स्थल दोषोकी तो आलोचना करता है सक्ष्म दोषोको छिपाता ह उसकी आलोचना बादर दोषसे युक्त ह।

५ **सूक्ष्म**—इसके विपरीत जो साध सूक्ष्म दोष कहता है भय मद तथा माया-सहित चित्त होनेसे स्थूल दोषको छिपाता है वह सूक्ष्म दोष है।

६ **प्रच्छन्न**—आचार्यसे पूछना यदि किसीके मूलगुण तथा उत्तरगणमें अतिचार लग जाए तो किस उपायसे शुद्ध होता है। इस प्रकार प्रच्छन्न रूपसे पूछकर जो साधु शद्धि करता है वह प्रच्छन्न आलोचना दोष है।

७ **शब्दाकुलित दोष**—पाक्षिक चातुर्मासिक और वार्षिक प्रायश्चित्तके समय जब सब मुनिगण अपने दोष निवेदन करते हैं तब कोलाहलमे जो मुनि इच्छानुसार दोष कहता है वह गुरुओको स्पष्टरूपसे सुनाई न दे तो वह शब्दाकुलित दोष है।

८ **बहुजन**—नवम पूर्वमें कल्प तथा व्यवहारम शेष अगो और प्रकीर्णोमें जो प्रायश्चित्त कहा गया है तदनुसार ही आचार्य प्रायश्चित्त दे तथापि उस आचार्यके वचनोपर श्रद्धा न करके अन्य आचार्योंसे पूछना बहुजन दोष है।

९ **अव्यक्त दोष**—ज्ञानबालक तथा चारित्रबालक आचार्यके दोषोंका निवेदन करना अव्यक्त दोष है।

१ **तत्सेवी**—पार्श्वस्थ मुनि पार्श्वस्थ मुनिके समक्ष आलोचना करे कि यह मेरे समान है यह तत्सेवी दोष है।

सदोष आलोचनासे शुद्धि नहीं होती इसलिए निर्यापकाचार्यके पादमूलमें उपस्थित होकर दशों दोष तथा भय माया असत्यवचन मान और लज्जाका त्याग कर सम्यक् प्रकारसे शुद्ध होकर विधिपूर्वक आलोचना करनी चाहिए।

विनय—विनय दूसरा अभ्यन्तर तप है। मूलाचार तथा भगवती आराधनामें इसकी विस्तृत चर्चा है। इनमें विनयके पाँच भेद बताये गये हैं—वे हैं दर्शन ज्ञान चारित्र तप और औपचारिक विनय।

दर्शनविनय—सम्यक्त्व ही मोक्षमार्गका प्रथम सोपान है। मूलाचारके अनुसार जिनवरों द्वारा उपदिष्ट श्रुतज्ञानपर श्रद्धा रखना दर्शन विनय है। जैन दर्शनमें जीव अजीव पुण्य पाप आस्रव संवर निर्जरा बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ बताए गए हैं। इन पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

इसके आठ अंग हैं। जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट पदार्थोंमें शंका न करना निःशंकित अंग है। इहलोक तथा परलोकके भोगोंकी अभिलाषा न करना निःकांक्षित अंग है। यतिसे मन्त्रादिमें घृणा द्रव्यविचिकित्सा तथा भूख सहन करना आदि दुःख रूप हैं आदि विचार भावविचिकित्सा है। ऐसी विचिकित्सा न करना निर्विचिकित्सा है। सच्चे देव गुरु और धर्ममें विवेक रख उन्हें मानना अमूढदृष्टि है। दर्शन ज्ञान चारित्र से हीन जीवोंको देखकर धर्मबुद्धिसे उनके दोषोंको ढाकना उपगूहन है। दर्शन और चारित्रसे भ्रष्ट जीवोंको देखकर उन्हें उनमें स्थित करना स्थितीकरण है। चतुर्विधसंघके प्रति वात्सल्य रखना वात्सल्य है। तथा धर्मोपदेश तपश्चरण अहिंसा आदिके द्वारा धर्मकी प्रभावना करना प्रभावना है। ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं।

इसमें उपबृंहण स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण हैं।

अतिचार—शंका कांक्षा विचिकित्सा परदृष्टि प्रशंसा व अनायतनसेवन सम्यक्त्वके अतिचार हैं। श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष न होनेसे उपदेष्टाके अभावमें अथवा उसमें वचनोंकी निपुणता न होनेसे व निर्णयकारी शास्त्रवचन उपलब्ध न होनेसे अथवा काललब्धिके अभावमें शंका नामक अतिचार है।

---

१ मूलाचार ७/८ ९५ भगवती आराधना गा १११ ३४।

२ मूलाचार ७/८८।

सम्यग्दर्शनसे व्रतधारणसे देवपूजा और तपसे उत्पन्न हुए पुण्यसे किसी फलकी आकांक्षा करना कांक्षा है। रत्नत्रय और रत्नत्रयधारीमें जुगुप्सा विचिकित्सा अतिचार है। अतत्त्वदृष्टिकी प्रशसा परदृष्टिप्रशसा है। अनायतनके छह भेद हैं—मिथ्यात्व मिथ्यात्वी मिथ्याज्ञान मिथ्याज्ञानी मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रके धारक।

ज्ञान विनय—ज्ञान मोक्षका कारण व पाप तथा कर्मबन्धनका नाशक है। ज्ञानके द्वारा चारित्र धारण किया जाता है अत ज्ञानमे विनय करना चाहिए। ज्ञानविनयके आठ भेद हैं—काल विनय उपधान बहुमान अनिह्नव व्यजनशुद्धि अर्थशुद्धि और उभयशुद्धि। स्वाध्यायकाल और वाचनाकाल इन योग्य कालोंमे अध्ययन कालविनय है। श्रुत तथा श्रुतधारकोंकी विनय यह विनय नामक ज्ञानविनय है। स्वाध्याय पूरा करते समय तक अवग्रह धारण करना उपधान विनय है। मनको निश्चल कर हाथ जोडकर सादर अध्ययन करना बहुमान है गुरुका अपलाप करना निह्नव है और गुरुको न छिपाना अनिह्नव विनय है। व्यजनशुद्धि (शब्दशुद्धि) अर्थशुद्धि तथा उभयशुद्धि सूत्रका ठीक पाठ तथा ठीक अर्थ निरूपण करना है।

चारित्र विनय—मूलाचारके अनुसार संचित कर्मावरणका नाश करना तथा नवीन कर्मका बध न करना चारित्र विनय है। भगवती आराधनाके अनुसार इन्द्रिय और कषायरूपसे आत्माका परिणत न होना तथा गुप्तियो और समितिओंका पालन सक्षेपम चारित्रविनय है। इसके दो भेद है—इन्द्रिय अप्रणिधान और नोइन्द्रिय अप्रणिधान। पुद्गलोंके शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्शमें रागद्वेषका न होना इन्द्रिय अप्रणिधान है क्रोध मान माया लोभका त्याग नोइन्द्रिय अप्रणिधान है।

तपोविनय—मूलाचारमे तपस्याके द्वारा मुनिका अपनेको मोक्षमार्गमें प्रवृत्त करना तपोविनय कही गई है। दीक्षाम लघु तथा अल्पज्ञानी भी विनय द्वारा मोक्ष मार्ग प्राप्त करता है। भगवती आराधनामें तपोविनय इस प्रकार कही गई है—उत्तरगुणोंमे उद्यम करना तप है। सम्यक रीतिसे भूख-प्यासको सहन करना तपम अनुराग रखना षट आवश्यकोंमे न्यूनता या अधिकताका न होना तपोविनय है। जो तपमें अधिक हैं उनमें और स्वय तपम भक्ति करना और जो अपनेसे तपम हीन है उनका तिरस्कार न करना यह श्रुतानुसारी आचरण करने वाले साधु की तपोविनय है।

उपचारविनय—उपचार विनय तीन प्रकारकी है—कायिक वाचिक मानसिक। तीनोंके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं। गुरु आदिके आने या जाने पर खडे होना कृतिकर्म शरीरावनति हाथ जोडना शिरोनति गुरुके उठने या बैठने पर उनके सामने जाना गुरुके साथ जाने पर उनके पीछे शरीर प्रमाण भूमिका अन्तराल

देखकर गमन नीचा-आसन नीचा गमन नीचास्थान नीचे सोना आसनदान आदि कायिक विनय हैं।

सम्मानपूर्ण हितकर मित मधुर कोमल व नम्रतापूर्ण सूत्रानुसारी वचन बोलना वचन विनय है। कृषि आदि आरंभ वाले गृहस्थोके वचन न बोलकर रागद्वेषरहित वचन बोलना चाहिए। यह वाचिक विनय है।

पापका लाने वाले परिणामोको न करना गुरुको प्रिय तथा अपनेको हितकरमे परिणाम लगाना मानसिक विनय है। यह सब प्रत्यक्ष विनय है।

परोक्ष विनय वह है जो गुरु की अनुपस्थितिमे उनकी आज्ञा-पालनमे की जाती है।

इस विनयकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा गया है कि विनय मोक्षका द्वार है। इससे संयम तप और ज्ञानकी प्राप्ति होती है। विनयसे आचार्य और सब संघ अपने वशमे किया जाता है। कायिक और वाचिक विनय करनेसे आचारशास्त्रमे कहे गये क्रमका प्रकाशन होता है। कीर्ति मित्रता मानका विनाश गुरुजनोंका बहुमान और तीर्थकरोकी आज्ञाका पालन व गुणोकी अनुमोदना ये विनयमें गुण है[1]। विनयमे मानकषायका नाश तथा ज्ञान व मोक्षकी प्राप्ति होती है।

वैयावृत्य—आचार्य उपाध्याय स्थविर प्रवर्तक तथा गणधर इन पाँच और गच्छमे स्थित बाल एवं वृद्ध मुनियोकी अपनी शक्तिके अनुसार वैयावृत्य करनी चाहिए। गणमें अधिक उपाध्याय तपश्चरण कर रहे मुनि शिक्षा प्राप्त कर रहे मुनि तथा साधुओंकी उपद्रव हो जाने पर तथा निरुपद्रव रहने पर भी वैयावृत्य करनी चाहिए। वैयावृत्य तप है और तप से निर्जरा होती है।

सोनेके स्थानकी बैठनेके स्थानकी और उपकरणोकी प्रतिलेखना करना योग्य आहार योग्य औषधि देना स्वाध्याय कराना अशक्त मुनिके शरीरका मल शोधन करना एक करवटसे दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य है। जंगली जानवरो से दुष्ट राजा से नदीको रोकनेसे और भारी रोगसे जो पीडित है विद्या आदिसे उनका उपसर्ग दूर करना चाहिए। जो दुर्भिक्षमे फसे हैं उन्हे सुभिक्ष देशमे लाना धैर्य प्रदान करना संरक्षण करना इत्यादि वैयावृत्य हैं।

वैयावृत्य न करनेसे तीर्थङ्करोंकी आज्ञाका भंग धर्मका नाश तथा आचारका लोप होता है। वैयावृत्य करनेसे श्रद्धा वात्सल्य भक्ति पात्रलाभ तप धर्म तीर्थपरम्परा

---

१ भगवती आराधना गाथा १३ ४।

का अविच्छेद तथा समाधि आदि गुण प्राप्त होते हैं।[1] तीर्थकर नामक पुण्यकर्मका बंध होता है।[2]

अपराजितसूरि वैयावृत्यके आचार्य उपाध्याय तपस्वी शिक्षक ग्लान गण कुल संघ साधु और मनोज्ञके भेदसे दस भेद बताते हैं[3]।

स्वाध्याय—स्वाध्यायसे आत्महितका ज्ञान होता है। रत्नत्रयमें निश्चलता आती है। दूसरोंको उपदेश देनेकी सामर्थ्य आती है। वाचना पृच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय (परिवर्तन) तथा धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पाँच भेद हैं। सूत्रके अर्थपूर्वक निर्दोष ग्रन्थके पढ़नेको वाचना कहते हैं। सन्देहको दूर करनेके लिए अथवा निश्चित अर्थको दृढ करनेके लिए सूत्र और अर्थके विषयमें पूछना प्रश्न या पृच्छना है। जाने हुए अर्थ का चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। कण्ठस्थ करना आम्नाय है। कथा चार प्रकारकी है—आक्षेपणी विक्षेपणी संवेगनी और निर्वेदनी। उनके उपदेशको धर्मोपदेश कहते हैं।

ध्यान— उत्तम संहनन वालेके एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान कहते हैं। चिन्ता का अर्थ चैतन्य है। वह चैतन्य अन्य अन्य पदार्थोंको ज्ञानपर्यायरूपसे प्रवर्तन करता है अतः यह परिस्पन्द वाला है उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमें प्रवृत्ति निरोध है। तत्त्वार्थसूत्रगत यह सूत्र जो ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको (धर्म एवं शुक्लध्यानको) लक्ष्य करके कहा गया है। यद्यपि आर्त एवं रौद्र ध्यानमें भी ध्यानसामान्यका लक्षण (एकाग्रचिन्तानिरोध) घटित होता है। किन्तु वह अशुभरूप तथा संसारका कारण है। इस तरह ध्यान चार प्रकारका कहा गया है।

संसारसे भीत क्षपक परीषहोंसे पीडित होने पर भी आर्त और रौद्र ध्यान नहीं करता क्योंकि ये समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं।

आर्तध्यानके भेद—अनिष्टसंयोग इष्टवियोग परीषह तथा निदानसे उत्पन्न कषायसहित ध्यानको आर्तध्यान कहते हैं।[5]

रौद्रध्यानके भेद—चोरी झूठ हिंसा तथा छहप्रकारके आरम्भको लेकर जो कषायसहित ध्यान है वह चार प्रकारका रौद्रध्यान है।[6]

---

१ भगवती आराधना गाथा ३ ६ १२।
२ भगवती आराधना गाथा ३३ ।
३ भगवती आराधना विजयोदया पृ २८८।
४ मूलाचार ५/१९६।
५ भगवती आराधना गाथा १६९७
६ भगवती आराधना गाथा १६९८।

धर्मध्यानके भेद—धर्मध्यानके लिए पर्वतकी गुफा वृक्षका कोटर नदीका किनारा श्मशान उजड़ा हुआ उद्यान शून्य मकान जैसे एकान्त स्थानका चुनाव करना चाहिए जहाँ ध्यानमे विघ्न करने वाले पशु पक्षी या मनुष्य न हों इन्द्रिय और मनको चचल करने वाले साधन न हो स्पर्श अनुकूल हो अर्थात् शीत उष्ण धूप और वायु आदिसे रहित हो जमीन साफ सुथरी हो। ऐसे स्थानमे स्थित होकर धीर-धीर श्वासोच्छ्वास रोकते हुए नाभि ऊपर हृदयमे या मस्तकपर अपने मनोव्यापारको रोकना चाहिए। यह ध्यानका बाह्यसामग्री है। कषायजन्य समस्त विकल्पोको रोकना आभ्यन्तर सामग्री है। धर्मध्यानके भी चार भेद हैं आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय।

आज्ञाविचय—सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोका ध्यान करना कि वीतराग सर्वज्ञने इसका स्वरूप इस प्रकार कहा है—वे इसी प्रकार हैं आज्ञाविचय है।

अपायविचय—कल्याणप्राप्तिके उपायोका ध्यान करना अर्थात् दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओका विचार करना तथा जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका विचार करना अपायविचय है।

विपाकविचय—जीवोके एक भव या अनेक भवके पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा उदय उदीरणा संक्रम बन्ध और मोक्षका विचार करना विपाकविचय है।[१]

संस्थानविचय—तीनो लोकोके संस्थानका विचार करना संस्थानविचय है। इसी सन्दर्भमें बारह अनुप्रेक्षाओका चिंतन भी संस्थानविचय है।

आर्जव लघुता मार्दव उपदेश और जिनागममें स्वाभाविक रुचि ये धर्मध्यानके लक्षण हैं। आर्जव आदि धर्म ध्यानके कारण भी हैं क्योंकि उनके अभावमे धर्मध्यान नही होता। वाचना पृच्छना परिवर्तन तथा अनुप्रेक्षा भी धर्मध्यानके अवलम्बन हैं क्योंकि स्वाध्यायके अभावमे धर्मध्यान संभव नही है। इसी प्रकार अनुप्रेक्षायें भी ध्यानको अवलम्बन हैं।

शुक्लध्यान—क्षपक जब धर्मध्यानको पूर्ण कर लेता है तब वह अतिविशुद्ध लेश्याके साथ शुक्लध्यानको ध्याता है क्योंकि परिणामोकी संतति उत्तरोत्तर निर्मलताको

---

१ भगवती आराधना गाथा १७ ६।

२ भगवती आराधना १७ ७

३ भगवती आराधना १७ ८९

४ भगवती आराधना गाथा १७ ९।

अह तिरियउड्ढलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थे व अणुदाआ अणपेगाओ वि विचिणादि ॥

५ भगवती आराधना गाथा १७ ४५

लिए हुए होती है अर्थात् धर्मध्यानमें परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करनेमे समर्थ होता है।

शुक्लध्यानके भी चार भेद हैं—पृथक्त्वसवितर्कसवीचार सवितर्कएकत्व अवीचार सूक्ष्मक्रिय तथा समुच्छिन्नक्रिय।

पृथक्त्व-सवितर्क-सवीचार—उपशान्तमोह गुणस्थान वाले मुनि तीन योगोंके द्वारा द्रव्योंको बदल बदल कर ध्यान करते हैं इससे इसे पृथक्त्वसवीचार कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यानके स्वामियोको लेकर मतभेद पाया जाता है।[2]

श्रुतज्ञानको वितर्क कहते है। चौदहपूर्वोंके अर्थमे कुशल साधु ही इस शुक्लध्यान को ध्याता है। अत यह सवितर्क है। ध्येय द्रव्योंके बदलनेसे इसे पृथक्त्व तथा तीनो योगोकी सहायतासे होनेसे इसे सवीचार कहते हैं।[3]

एकत्व-सवितर्क अवीचार—दूसरे शुक्लध्यानका नाम एक सवितर्क अवीचार है। इसमे एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है। एक ही द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इसे एकत्व कहते हैं। यह ध्यान किसी एक ही योगमें स्थित आत्माके होता है अत अवीचार है। इसका स्वामी क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती मुनि होता है। यह ध्यान भी सवितर्क है क्योंकि श्रुतका धारी चौदह पूर्वोंका ज्ञाता ही इस दूसरे ध्यानको ध्याता है।

सूक्ष्मक्रिय—इसका नाम अवितर्क अवीचार भी है। इसका अवलम्बन श्रुत नहीं है इसीलिए वितर्कसे रहित है। पूर्वमे अवलम्बन किये हुए अर्थको छोड़कर अर्थान्तर के अवलम्बनको वीचार कहते हैं। वह भी इसमे नही होता अत यह अवीचार है। इसमें श्वासोच्छ्वासकी क्रिया सूक्ष्म हो जाती है। यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है अत इसे सूक्ष्मक्रिय कहते हैं। इस तृतीय ध्यानको सर्वभावगत कहा गया है। इस शब्दकी व्याख्यामे अपराजितसूरि स्पष्ट करते हैं कि तृतीय शुक्लध्यानं त्रिकालगोचरानन्तसामान्यविशेषात्मकद्रव्यषट्कयुगपत्प्रकाशनरूपम अर्थात त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्यविशेषात्मक धर्मोंसे युक्त छह द्रव्योको एक साथ प्रकाशित करता है अत सर्वगत है।[5]

---

१ भगवती आराधना गाथा १८७१ व उसकी टीका।

२ देखिए चतुर्थ परिच्छेद।

३ भगवती आराधना गाथा १८७४ ७६।

४ भगवती आराधना गाथा १८७७-७९।

५ भगवती आराधना गाथा १८८ ८१।

समुच्छिन्नक्रिय[1]—इस चतुर्थ शुक्लध्यानको अवितर्क अवीचार अनिवर्ति अक्रिय शलेशी निरुद्धयोग अपश्चिम और उत्तम शक्ल ध्यान कहा गया है। इसका ध्यान निरुद्धयोगी शरीरत्रिकका नाश करते हुए सर्वज्ञ केवली करता है।

तीसरे और चौथ शक्ल यानमें अतर बताते हुए शिवार्य और अपराजितसरि कहते हैं कि सक्ष्म काययोगमें स्थित केवली तोसरे शुक्ल ध्यानको तथा अयोग केवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको करता है।

प कैलाशच द्रजी शास्त्रीने प्रस्तुत अठारहसौ बयासी सख्यावाली गाथाको तृतीय शुक्लध्यान विषयक माना ह—

अवियक्कमवीचार अणियट्टिमकिरिय च सीलसिं।
ज्झाण णिरुद्धयोग अपिच्छिम उत्तम सुक्क॥

इसीलिए व कहते हैं कि तीसरके पश्चात भी चतुर्थ शुक्लध्यान होता है फिर भी तीसरको विवक्षाभेदसे अपश्चिम कहा है। वस्तुत उक्त गाथामे चतुथ भदका वर्णन है। इसीलिए अपराजितसूरि इस गथाके अकिरिय आदि शब्दोकी व्याख्याम समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसवकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारत्वात् अक्रियम अपश्चिम—न विद्यते पश्चाद्भाविध्यानमस्मादित्यपश्चिमम तथा उत्तम सुक्क परम शक्लम लिखते हैं। इसलिए हम यह माननम सदेह नही ह कि यह शक्लध्यानके चतुर्थ भेदका वर्णन है।

व्युत्सर्ग—उपधिके यागको यत्सग कहत हं। इसके दो भद हैं आभ्यन्तर और बाह्य। मिथ्यात्व तीन वद हास्यादि षट दोष चार कषाय चौदह आभ्यन्तर ग्र थ या परिग्रह ह। इनका याग आभ्यन्तर व्यु सग ह तथा क्षेत्र वास्तु धन धान्य द्विपद चतुष्पद शयन आसन कु य भाड आदि दस बाह्य परिग्रह है। इनका याग बाह्य व्यु सग ह।[3]

पचाचार—दर्शन ज्ञान चारित्र वीर्य और तप इन पाँचमें अतिचाररहित प्रवृत्ति करना पचाचार ह। मूलाचारका पाँचवा अधिकार पचाचाराधिकार ही है जिमम इनका विस्तारसे दोसौसे भा अधिक गाथाओम वर्णन है। यहाँ विनय नामक तपके अ तगत दशन ज्ञान चारित्र और तपका वर्णन हो चुका है। सम्यक

१ भगवती आराधना गाथा १८८२ ८३।
२ भगवती आराधना भाग २ पृ ८३९।
३ मूलाचार ५/२ ९–११
४ मूलाचार ५/२।

दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका निरतिचार होना क्रमशः दर्शनाचार ज्ञानाचार और चारित्राचार है। आभ्यन्तर और बाह्य तपोंका यथाशक्ति निर्दोष आचरण करना तपाचार है। अपने बल-वीर्यको न छिपाते हुए आत्माको धर्ममें लगाना वीर्याचार है।

परीषह जय—साधुको क्षुधा तृष्णा शीत उष्ण दंशमशक अचेलभाव अरति रति स्त्री चर्या निषद्या आक्रोश वध याचना अलाभ तृणस्पर्श मल सत्कार प्रज्ञा अज्ञान अदर्शन इन बाईस परीषहोंको सहन करना चाहिए।

द्वादशानुप्रेक्षा—मूलाचार और भगवती आराधना दोनोंमे ही द्वादश अनुप्रेक्षाओंका विस्तारसे वर्णन है। मूलाचारका आठवां अध्याय अनुप्रेक्षा अधिकार है। भगवती आराधनामें धर्मध्यानके भेद संस्थानविचयके वर्णनके अवसरपर अनुप्रेक्षाओंका वर्णन किया गया है।

अध्रुव—देव मनुष्य और तिर्यंचों सहित यह समस्त लोक विनाशशील है। ऋद्धियाँ स्वप्नके समान है। सासारिक सुख जलके बुलबुलेकी तरह अध्रुव है। पक्षियोंकी भाँति कुछ कालके लिए एक परिवाररूपी वृक्षपर आ मिलते हैं।

अशरण—अशुभ कर्मके उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है। कोई उपाय नहीं सूझता। अमृत भी विष हो जाता है तृण शस्त्र और अपने ही शत्रु हो जाते हैं। कर्मके उपशम होनेपर मूर्ख भी बुद्धिमान हो जाता है उसे भी उपाय सूझने लगता है। इसप्रकार जीवके सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ही रक्षक हैं।

एकत्व—जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है। पर बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिए जो पापकर्म करता है उसका फल अकेला ही भोगता है। बन्धुगण देखते हुए भी उसका प्रतिकार नहीं करते। इस लोक और परलोकमें जीव अकेला ही कर्मफल भोगता है क्योंकि उसके कर्मफलका बटवारा करनेमे कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्यत्व—समस्त जीवराशि अपनसे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। सासारिक सम्बन्ध क्षणिक है। शत्रु भी उपकार करनसे मित्र मित्र अपकार करनेसे शत्रु हो जाता है।

संसारानुप्रेक्षा—मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग ये चारों संसारके हेतु हैं। संसाररूपी महासमुद्रमें तीव्र दुःखरूपी जल भरा है। कर्मरूपी मलसे भरा हुआ जीवनरूपी जहाज शुभ अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त अतिभयंकर संसार-महासागरमें प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता है।

---

१ मूलाचार ५/५७ ५८।

भारवाही मनुष्य तो किसी देश और कालमें अपना भार उतार कर विश्राम कर लेता है किन्तु शरीरवाही जीवको एक क्षणके लिए भी विश्राम नहीं मिलता है। औदारिक और वक्रियिक शरीरोके छट जानेपर भी कार्माण और तजस शरीर बराबर बने रहत हैं।

लोकानुप्रेक्षा—ससारम सब सम्बन्ध परिवर्तनशील है। वे पुण्यवान गतिजन धन्य हैं जो उक्त ससारदशासे मक्त हो गये हैं। यह लोकानुप्रक्षा है। लोकदशाका चिन्तन करनेसे वराग्य उत्पन्न होता है।

अशुभत्वानुप्रेक्षा—भगवती आराधना तथा मलाचार दोनोम ही अशुचित्वके स्थानपर अशभत्व अनुप्रक्षा कही गई है। मलाचारमें यद्यपि सग्रह गाथामे अशुचित्व का नामोल्लेख ह पर इसको सस्कृत छाया अशुभत्व ही है। टीकाकार वसुनन्दि के समय तक यहाँ मल शब्द असुहत्त ही रहा होगा क्योकि उन्होने मलशब्द अशभत्व ही मानकर उसका अर्थ अशचित्व किया ह। अन्यत्र सर्वत्र पाँच गाथाओ म अशभत्व अनुप्रेक्षाके वर्णनमें अशभ शब्दका ही प्रयोग है।

देह अर्थ और काम अशभ हैं। देह अपवित्र ह यह चिन्तन अशभत्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षा—आस्रवके कारण संसारम परिभ्रमण करना पडता है। मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग आस्रव हैं।

संवरानुप्रेक्षा—आत्माके जिन परिणामोसे नवीन कमरूप पुद्गलोका आस्रव रुकता है उन परिणामोको सवर कहते हैं। मिथ्यात्व सम्यक्त्वद्वारा व हिंसा आदि व्रतो द्वारा रोके जाते हं। सवरके स्वरूपका चिंतन सवर अनुप्रक्षा है।

निजरानुप्रक्षा—बद्ध कर्मोकि क्षयको निर्जरा कहते है। तपस निर्जरा होती है। जो कर्म अपना फल दे चुके है वह सविपाक निजरा ह। जिन कर्मोका विपाककाल नही आया है उन्हे तप आदिके द्वारा बलात उदयम लाकर क्षय करना अविपाक-निर्जरा है। सविपाक निर्जरा तो सभीके हुआ करती ह। तप करनसे सभी कर्मोको निर्जरा होती ह।

धर्मानुप्रक्षा—भावपूवक धमका पालन करनेसे सासारिक सुखके साथ मोक्ष-सुख प्राप्त होता है। जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगतमें जयशील है। सम्यग्दशन उसको नाभि है। द्वादशाग श्रुत उसके अर हैं और व्रत तथा तप उसके दो नमि ह। यह धर्म उत्तम क्षमादि दश प्रकारका कहा गया है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—ससारम भटकते हुए कमलिप्त जावके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक तपश्चरणमय धममे बोधि अर्थात रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है। अनन्त

संसारमें मनुष्य भव पाना दुर्लभ है। मनुष्य-पर्याय प्राप्त करने पर भी देश कुल रूप आरोग्य आयु बुद्धि श्रवण ग्रहण आदि सुलभ नहीं है। एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमख बुद्धिरूप बोधि संसारमे भ्रमण करने वाले जीवको पुन प्राप्त होना दुर्लभ है। जो जिन भगवानके द्वारा उपदिष्ट धर्मम प्रबुद्ध होते हैं तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते है व महाधन्य हैं।

दशधर्म—मुनियोको क्षमा आदि दश धर्मोका पालन करना चाहिए ये दश धम हैं—

खती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो अकिंचणदा।
तह हादि बभच्चरं सच्च चागो य दस धम्मा॥

क्षमा मार्जव आजव लाघव (शौच) तप सयम अकिंचनता ब्रह्मचय सत्य और त्याग।

दश अनगार भावनाए—मूलाचारके अनगार भावनाधिकारमे दश अनगारभावनाओका भी उल्लेख ह जो इस प्रकार ह—

लिंग वद च सुद्दी वसदिविहार च भिक्ख ठाण च।
उज्झणसुद्दी य पुणो वक्क च तव तथा झाण॥

अर्थात लिंग व्रत वसति विहार भिक्षा ज्ञान उज्झन वाक्य तप और ध्यान इनकी शुद्धियोपर ध्यान देना चाहिए। उज्झन शुद्धिका अथ शरीरसे ममत्व त्याग है।

लिंगशुद्धि—जीवनको चल चपल जानकर मनि कामभोगोसे उदासीन होकर मनुष्यत्वको असार जानकर मुनिव्रत धारण करते हैं। गृहवाससे विरक्त होकर बन्धु बान्धव धनादिको निर्माल्य पुष्पोंकी तरह त्याग देते हैं। वे जन्म-मरणसे उद्विग्न होते ह। वर्धमानका प्रवचन उन्हें अच्छा लगता है। यह उनकी लिंगशुद्धि है।

व्रतशुद्धि—वे समस्त ग्रथोसे मक्त निर्मम अपरिग्रही यथाजात शरीरसे ममत्व त्यागकर जिनवरके धर्ममे मन लगाते हैं। पच महाव्रत धारण करते हैं।

वसति—जहा सूर्यास्त हो जाता है वही अनिकेत वास करने लगते ह। ग्राममे एक रात निवास करते हैं। नगरमे पाच दिन निवास करते है। एकाकी ही गिरिकन्दराओंमे निवास करते हैं। वसतिकामें अप्रतिबद्ध रहकर ममत्व नहीं करते। शून्यागार श्मशान आदि वीरवसतिकाओंमें निवास करते हैं। जहा वनोंमें वन्य प्राणी भयानक आवाज करते हैं वहा श्रमणसिंह निवास करते हैं।

विहार—मुक्त निरपेक्ष निरुद्विग्न होकर वायुकी तरह स्वच्छन्द विहार करते

---

१ मूलाचार ९/६२
२ मूलाचार ९/३

हैं। पृथ्वीपर विहार करते हुए प्राणियोको पीडा नही देते। वनस्पति आदिको पीडा नही पहुँचाते।

भिक्षा—नव कोटि-परिशुद्ध दोषरहित भोजन परगृहस्थ परके द्वारा प्रदत्त पाणि पात्रमें करते है। पिण्डशुद्धिके लिए पिण्डशुद्धि नामक स्वतत्र अधिकार ही है। जैसा भी रूखा-सूखा भोजन मिलता है उसे प्राणधारणके निमित्त ग्रहण कर लेते हैं। भोजन प्राप्त होनेपर प्रसन्न न मिलने पर अप्रसन्न नही होते। न किसीसे याचना ही करते हैं। मौनव्रतसे मुनि भिक्षाके लिए निकलते है। पकाना या पकवाना आदि आरभ नही करते भिक्षामात्रसे सतुष्ट रहते हैं। फल कद मूल बीज और जो अनग्निपक्व अर्थात् कच्चा हो उसे अनशनीय समझकर त्याग देते है।

ज्ञान—स्वाध्यायमे रत रहते है। सूत्रार्थका चिंतन करते हुए रात्रिमे भी सोते नही हैं। मनरूपी प्रचड हाथी जो कि विषय राजमार्गमे बिगड गया है ज्ञानाकुशसे वशमे करते है।

उज्झनशुद्धि—उज्झनका अर्थ शरीरसे ममत्व त्याग है। शरीरसे ममत्व त्यागने पर ही वीरवसतियोमे निवास तथा विहार सभव है।

वाक्यशुद्धि—भाषासमिति तथा सत्यवचन द्वारा वे वाक्यशुद्धिका पालन करते हैं।

तपशुद्धि—चारित्र तप तथा सयमकी रक्षा करते है।

ध्यानशुद्धि—मेरुकी तरह अकम्पित रहकर ध्यान करते है। श्रमण सयत ऋषि मुनि साधु वीतराग अनगार दान्त भदन्त आदि श्रमणके पर्याय हैं।

पिण्डशुद्धि—मुनियोको उद्गम उत्पादन एषणा सयोजन प्रमाण अगार धूम कारण इन आठ दोषोसे रहित आहारका ग्रहण करना चाहिए।

उद्गम दोष—आधाकर्म औद्देशिक अध्यधि पूति मिश्र स्थापित बलिप्रावर्तित प्राविष्करण क्रीत प्रामृष्य परिवर्तक अभिघट उदभिन्न मालारोह अच्छेद्य अनिसृष्ट ये १६ उद्गम दोष हैं।

उत्पादन दोष—धात्रीकर्म दूत निमित्त आजीव वनीपक चिकित्सा क्रोधी मानी मायावी लोभी पूर्वस्तुति पश्चात्स्तुति विद्या मत्र चूर्णयोग तथा मूल ये सोलह उत्पादन दोष है।

एषणा दोष—शकित म्रक्षित निक्षिप्त पिहित सव्यवहरण दायक उन्मिश्र अपरिणत लिप्त व त्यक्त ये एषणा दोष हैं।

संयोजन दोष—जो खाने और पीनेकी चीजोको मिलाकर दे वह सयोजन दोष है।

---

१ मूलाचार पिण्डशुद्धि-अधिकार।

प्रमाण दोष—जो प्रमाणसे अधिक आहार दे वह प्रमाण दोष है।

इंगाल दोष—गृद्धिपूर्वक अगार सहित भोजनको लाना और खाना इंगाल नामक दोष है।

धूम दोष—लेकर फिर निंदापूर्वक खाना धूम दोष है।

इनके अतिरिक्त बल आयु स्वाद शरीरकी पुष्टि तथा तेजके लिए भी आहार ग्रहण नही करना चाहिए। वह भी दोष है। उसे ज्ञान संयम तथा ध्यानके लिए आहार ग्रहण करना चाहिए।

छह कारणोसे भोजन करते हुए भी मुनि धर्मका आचरण करता है। छह कारणों से त्याग करते हुए भी धर्मका आचरण करता है। वेदनाके उपशमन अपनी या दूसरोकी वयावृत्ति षडावश्यक क्रिया त्रयोदशविध सयमके पालन प्राण रक्षा तथा दश धर्मोके पालनके लिए आहार ग्रहण करना धर्मपालन है। आतक उपसग ब्रह्मचर्य प्राणिदया तपस्या तथा शरीरत्याग (समाधिमरण) के लिए भोजनका त्याग भी धर्म पालनके लिए है। यह आहार मन वचन कायसे व कृत कारित और अनुमोदनरूप नवकोटिपरिशुद्ध होना चाहिए।

चौदह मल—यह आहार नख बाल जन्तु अस्थि ककड कुड पूति चर्म रुधिर मास बीज फल कंद मूल इन चौदह मलोसे रहित होना चाहिए।

भिक्षाग्रहणका काल—सूर्योदय व सूर्यास्तके बाद तीन नाडी समय छोडकर शेष बीचका काल भिक्षाका काल है। इस कालमे क्रमश तीन दो और एक महूर्त तक भोजन करना जघन्य मध्यम औ उत्कृष्ट है।

भोजन करते समय दो भाग भोजनसे तथा तृतीय भाग पानीसे भरना चाहिए। शेष चतुर्थ भाग वायुके सचरणार्थ रिक्त छोड देना चाहिए।

अन्तराय—काक अमेध्य छर्दिरोधन रुधिर अश्रुपात जान्वध आमर्श जानूपरि व्यतिक्रम नाभिके नीचेसे निर्गमन त्यागी वस्तुका भक्षण जन्तुवध काकादिके द्वारा पिण्डका अपहरण पाणिपात्रसे भोजनका गिरना हाथोंसे जतुवध मासादिका दर्शन उपसर्ग पैरोंके बीचसे जीवका निर्गमन अथवा परिवषकके हाथसे बरतनका गिर जाना मल-व्युत्सर्ग प्रस्रवण अभोज्यगृहप्रवेश मूर्छादिके कारण गिरना अथवा बैठना सर्पादिके द्वारा काटा जाना भूमिस्पर्श पेटसे कीड गिरना अदत्तग्रहण प्रहार ग्रामदाह पर तथा हाथसे भूमि सुरचना आदि अन्तरायके कारण हैं।

वसतिकाके दोष—पिण्डशुद्धिके उद्गम उत्पादन और एषणा दोष वसतिकाके भी होते हैं।

---

१ भगवती आराधना गाथा २ २ व उसकी टीका।

समाधिमरण—भगवती आराधनामें समाधिमरणका विस्तृत वर्णन है। समाधि मरण अथवा सल्लेखनाके तीन भेद हैं—भक्तप्रत्याख्यान इंगिनी तथा प्रायोपगमन।

भक्तप्रत्याख्यान मरण साधु व गृहस्थ दोनो ही कर सकते हैं। इसके दो भेद हैं—अविचार और सविचार। अविचारके तीन भेद हैं—निरुद्ध निरुद्धतर और परम निरुद्ध। सहसा मरण उपस्थित होने पर किया जाने वाला मरण अविचार भक्तप्रत्याख्यान है। सोच विचार कर निर्यापकाचार्य खोज कर क्रमश भोजन-पानका त्याग सविचार भक्तप्रत्याख्यान है[1]। शेष दो मरण विशिष्ट संहननधारक मनियोके होते हैं। भक्तप्रत्याख्यान ही इस कालके योग्य है।

इंगिनीमरणका इच्छुक साधु संघसे अलग होकर एकाकी निवास करता है। स्वय अपनी परिचर्या करता है। इनके तीन शुभ संहननोमे एक होता है। निरन्तर अनुप्रेक्षा में लीन रहता है। पैरमे काँटा तथा आँखमें धूलि चुभने पर भी स्वय दूर नही करता। भूख प्यासका प्रतिकार नही करता।

प्रायोपगमनकी विधि भी इंगिनीके समान ही है। प्रायोपगमनमे तृणोके संस्तर का भी निषेध है। उनके लिए स्वय तथा दूसरोकी भी परिचर्याका निषेध है।

संसारमें जीवन मरण दोनो ही यथार्थ है। अत संसारी प्राणियोको श्रेष्ठ मरण के लिए जीवनभर प्रशिक्षण लेना तथा अन्तम तटस्थ वृत्तिसे मरणका वरण करना समाधिमरण है।

आर्यिकाओका सामाचार— आर्यिकाओका सामाचार भी मनियोके तुल्य ही है। आर्यिकाओका एक ही गणधर होता है जो गभीर दुर्धर्ष मितवादी प्रसन्नचित्त चिरप्रव्रजित और गृहीतार्थ होना चाहिए। इन गुणोसे रहित यदि आर्यिकाओका गणधरत्व करता है तो गच्छादिका उचित नियन्त्रण नही कर सकता। आर्यिकाओको गणधरके अनुकूल प्रवर्तन करना चाहिए।

आर्यिकाओको परस्परमें अनुकूल होकर एक-दूसरकी अभिरक्षा करते हुए रोष वैर माया आदिका त्याग कर मर्यादानुरूप आचरण करना चाहिए। अध्ययनमे पठितशास्त्रके परिवर्तनमे श्रवणमे कथनमें अनुप्रेक्षाओमे और तप विनय और संयममें मन वचन कायसे उपयोग युक्त होना चाहिए।

शरीरसे ममत्वरहित होना चाहिए। वस्त्र तथा वेश अविकार होना चाहिए। उन्हें ऐसी वसतिकामे रहना चाहिए जो गृहस्थोंके घरसे संयुक्त न हो यतियोके निवाससे दूर हो चोर आदिके उत्पातसे दूर हो। ऐसी वसतिकामे दो-तीन आर्यिकायें

---

१ भगवती-आराधना गाथा ७३।

२ मूलाचार सामाचाराधिकार ४/१८७-१९६।

साथ निवास कर। किसीके घर अकारण नही जाना चाहिए। अवश्य गमन करना हो तो गणिनीसे पूछकर और मिलकर आना चाहिए।

आर्यिकाओंको रोदन बच्चोंको नहलाना भोजन खिलाना पकाना तथा असि मसि कृषि आदि आरभ नही करना चाहिए।

विरतोंके पादप्रक्षालन तथा गीत आदि नही गाना चाहिए। तीन पाँच तथा सात आर्यिकाएँ स्थविराओंके साथ भिक्षाके लिए गमन करती ह। व पाँच छह अथवा सात हाथ दूरसे गवासन द्वारा आचाय उपाध्याय और साधओकी वदना करती हैं।

शेष सामाचार मुनियोके समान हैं। इस प्रकार आचरण करने वाली आर्यिकाय कीर्ति सुख प्रसिद्धि पाकर अन्तमें सिद्ध होती ह।

१ आर्यिकायें व्रतधारणके साथ ही उक्त कार्योंका त्याग कर चुकती हैं। फिर इन सबका उल्लेख कर निषधका क्या प्रयोजन हो सकता है?

उक्त आचार-सहितासे स्पष्ट है कि यापनीयोकी श्रावक तथा मुनिकी आचार संहिता प्राय दिगम्बरोंके सदृश है। यापनीय भी ज्ञान-चारित्रकी श्रेष्ठताके समर्थक थ। यापनीय मुनि अपवाद स्थितिम वस्त्र-पात्र ग्रहण करते थे रुग्णावस्थाम उपाश्रयमें अन्य मनि द्वारा लाया हुआ भोजन-पान ग्रहण करत थ। यह भी उक्त आचार सहितासे वि त होता है। एक क्षपकके समाधिमरणके लिए अधिक-से अधिक अडतालीस तथा कम-से-कम दो निर्यापकाचार्य कहे गय हैं। ये निर्यापकाचार्य क्षपकके समाधि मरणमें सहायताके लिए त पर रहते थे।

●

षष्ठ परिच्छेद

यापनीयोंका प्रद्य

यापनीयोंका प्रदेय

यापनीय सम्प्रदायने आरम्भिक शताब्दियोंमें ही जन्म लेकर लगभग १४वीं शताब्दी तक जन साहित्यको अभिवृद्ध व जैन सस्कृतिको विकसित किया है। इसके शिलालेखीय उल्लेख आरम्भिक शताब्दियोसे ही मिलते हैं। यह उदारचेता सघ अनेकान्तमयी जैन सस्कृतिका परिपालक रहा है। यह कैसे लुप्त हो गया यह चिन्तनीय है। इस विलुप्त सम्प्रदायका जैन साहित्य और सस्कृतिके विकासमें अविस्मरणीय योगदान है।

आचार और विचार दोनों ही दृष्टियोंसे दिगम्बरोंसे अधिक मेल खानेसे तथा दिगम्बर यतियोंके मध्य इनका निवास होनेके कारण इनका साहित्य प्राय दिगम्बर साहित्यमें अन्तर्भुक्त हो गया जान पडता है।

यापनीयोंके प्रदेयोंका हम सैद्धातिक साहित्यिक सामाजिक-सास्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टियोसे यहाँ सक्षेपमें विमर्श करने ह।

धार्मिक—जैन मनिकी साधना कठोर साधना है। जैन मुनि आत्माभिमुख होता है। इस आत्माभिमखताम देहका भान बिसर जाता ह। आत्माकी लगनमें बाह्य ममताएँ स्वत छूट जाती हैं। वह इतना आत्मबल सचित कर लेता है कि भीषण उपसर्गों और परीषहोको निर्विकार भावसे सहन करनेमें समर्थ हो जाता है।

उत्कट बलसे रहित मुनियोके लिए इस कठोर मार्गमें स्खलनाओकी भी संभावनाए रहती हैं। भीषण दुर्भिक्ष आदि कारणोंसे इस आदर्श कठोर साधनामें शिथिलाचारिताने प्रवेश किया। शिथिलाचारिताका प्रवश ही स प्रदायभेदकी जड है।

सम्प्रदायभेद जब पनप रहा था साधुओका एक समुदाय भगवान महावीरके आदर्श मार्गम किंचित भी सरलताका प्रवेश वर्ज्य मान रहा था तो दूसरा समुदाय भीषण परिस्थितियोम शारीरिक सहननकी मदतामें कुछ परिवर्तनको अनिवार्य मान रहा था। अपनी अपनी मान्यताके आग्रहन उनमें कट्टरताका समावेश कर दिया था।

इन दोनों मान्यताओंके बीचमें एक ऐसा भी साधु समुदाय था जिसने अहिंसक भगवान महावीरके तीर्थके साधओंकी इस वचारिक हिंसाको रोकना चाहा। दोनों मान्यताओंमें समन्वय करना चाहा। उ होने एक ओर महावीर द्वारा उपदिष्ट साधना मार्गको उत्सर्ग स्वीकार किया साथ हो परिवर्तित परिस्थितियोंमें समयको देखते हुए शारीरिक सहननका विचार कर अशक्त साधुओके लिए कुछ अपवाद मार्गको भी

स्वीकार कर लिया। कट्टरता और असहिष्णुताको त्याग कर एकीकरणका मार्ग प्रशस्त किया। समर्थ साधुके लिए चारित्रको दृढतापूर्वक पालनेका ही उपदेश दिया अपवाद अनिवार्य एवं विशिष्ट परिस्थितियोंमें मान्य किये गये। अपवाद मार्ग कहकर शिथिलाचारके अनावश्यक प्रवेशको भी रोक दिया साथ ही अशक्तोंके लिए मुनिद्वार को बिल्कुल बंद भी नहीं किया।

यह उदारचेता सम्प्रदाय यापनीय सम्प्रदाय था। पर साम्प्रदायिक विद्वेषोंमें संघर्षोंमें इसकी उदारताको कहीं भी प्रश्रय नहीं मिला। दिगम्बरोंने इसे जैनाभास कहा श्वेताम्बरोंने उपेक्षासे मुँह फेर लिया।

इस सम्प्रदायके जितने भी आचार्य ज्ञात हुए हैं उनके साहित्यसे स्पष्ट है कि इन साधुओंने कहीं भी अपने सम्प्रदाय आदिका उल्लेख नहीं किया है। साथ ही न तो इनके साहित्यमें कहीं भी अपनेसे विपरीत मान्यतावालोंके प्रति आक्रोश या आक्षेप ही प्राप्त होता है। वे अपनी मान्यताओंका भी उल्लेख करनेसे बचे हैं। उदाहरणार्थ भगवती आराधना व विजयोदयामें कहीं स्पष्टतः स्त्रीमुक्ति या केवलिभुक्तिका विधान नहीं है। यही बात स्वयंभूके विषयमें है। उन्होंने तो अपने हरिवंशपुराणको स्वसमय और परसमय दोनों विचारोंको सहन करने वाली कहा है।

पारंभिय पुण हरिवंसकहा ससमय-परसमयवियारसहा

आचार्य कुन्दकुन्दने नग्न मार्गके अतिरिक्त शेष मार्गोंको उन्मार्ग कहा है पर यापनीय उसे उन्मार्ग न कहकर अपवादमार्ग कहते हैं। यद्यपि भगवती आराधना और विजयोदयासे स्पष्ट है कि ये भी पूर्ण संयमके पालनके लिए अचेलताको आवश्यक मानते हैं। इसके उपरान्त भी विजयोदयामें आचार्य कुन्दकुन्द व उनकी गाथाओंका प्रमाणरूपमें उल्लेख है। सिद्धसेन दिवाकर भी आचार्य कुन्दकुन्दसे प्रभावित रहे हैं।

अतिवादी प्रवृत्तियोंसे बचनेके कारण ही न तो ये दिगम्बरोंकी भांति आगम साहित्यसे वंचित रहे हैं और न श्वेताम्बरोंकी भाँति इनका आगम-साहित्य शिथिलाचारकी पुष्टिका साधन बना है। जहाँ इन्होंने संकलित ११ अंगोंको प्रमाण माना है वहाँ दृष्टिवादके अंशभूत षट्खण्डागमको भी शिरोधार्य किया है। संचित ज्ञानराशिको एकाएक छोड नहीं दिया है।

उदारतावादी दृष्टिकोण होने पर भी इनका चारित्र दिगम्बर यतियोंसे कथमपि न्यून नहीं है। भगवती आराधना विजयोदया और मूलाचारके पारायणसे स्पष्ट है कि आचरणमें शिथिलता इन्हें इष्ट नहीं थी। ये आचार्य स्वयं चारित्रकी प्रतिमूर्ति रहे हैं। पाल्यकीर्तिके समाधिमरणका स्मारक शिलालेख प्राप्त होता है तथा सिद्धसेन आदि मुनियोंके प्राप्त विवरणोंसे उनके निर्मल चारित्रका परिचय मिलता है।

इन यतियोका चारित्र जितना निर्मल था ज्ञान भी उतना ही विशाल था। तत्त्वार्थसूत्रकार सिद्धसेन तथा शाकटायनको श्रुतकेवलिदेशीय जैसे विशेषणोंसे भूषित किया जाता है। शाकटायनको तो उनके टीकाकारोंके 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमासवान्' कहा है। अपराजितसूरि आरातीयचूडामणि थे। शिलालेखोंमें यापनीय यतियों के लिए प्रयुक्त सैद्धान्तिक त्रविद्य महाप्रकृत्याचार्य आदि उपाधियोंसे प्रतीत होता है कि य षट्खण्डागम आदि ग्रन्थोंके विशिष्ट अध्येता थे। इनके उत्कृष्ट ज्ञान और उत्तम चारित्रके कारण विभिन्न शिलालेखोंमें इनकी भूरि भूरि प्रशसा की गयी है तथा श्वताम्बर और दिगम्बर परम्परामें यापनीय दृष्टिकी उपेक्षाके उपरान्त भी इन्हें सहज सम्मान और आदर प्राप्त हुआ है। इनके द्वारा रचित साहित्य ही इनके ज्ञानका साक्षी है जिसमें इनका ज्ञान स्वत प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसके सिवाय इनके ग्रन्थोल्लेखोंको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओंने अपने ग्रन्थोंमें आदरके साथ उद्धृत किया है। तत्त्वार्थसूत्र भगवती आराधना (विजयोदया टीका सहित) मूलाचार सन्मतितर्क आदि यापनीयोके ग्रन्थोको यदि हम जैन साहित्यसे निकाल दें तो शायद यह कहनेमे कोई अतिशयोक्ति नही कि दिगम्बरोके पास षट्खण्डागम कषायपाहुड कुन्दकुन्दभारती व समन्तभद्रभारतीके अतिरिक्त इस कोटिका साहित्य प्राप्त नहीं होगा।

इस साहित्यने कितने ही नये विचार और नई दृष्टियाँ प्रदान की है। सिद्धसेन दिवाकरने क्रमवाद युगपद्वादके स्थानपर अभेदवादकी स्थापना की ह। यह सिद्धसेन की मौलिक विचारधारा ह। भगवती आराधनामे ही समाधिमरण कराने वाले अडतालीस निर्यापकाचार्योंका वर्णन हम प्रथमत पाते ह। आचाय कुन्दकुन्दके साहित्यमें छदोपस्थापना कराने वाले आचायको निर्यापकाचाय कहा ह। आचार्यके छत्तीस गुण भी यही प्राप्त होत हैं। आचारव व आदि आचार्यके आठ गणोकी चर्चा भी भगवती आराधनामें ही उपलब्ध होती है।

भगवती आराधनाके विजहना अधिकारम मुनियोके अन्तिम संस्कारका विवरण मिलता है जो कि दिगम्बर परम्पराके लिए अश्रुतपूर्व है।

तीर्थङ्करोके धर्ममें अन्तरकी चर्चा भी दिगम्बर परम्परामें अश्रुतपूर्व है। मूलाचार में प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके धर्मसे शेष मध्यवर्ती तीर्थङ्करोके धर्ममें अन्तरका उल्लेख है। श्वेताम्बर-परम्परा-मान्य दशस्थितिकल्पका वर्णन भगवती आराधना और मूलाचारमें मिलता है।

विजयोदयामें वर्णजनन यथालन्दविधि जिनकल्पविधि परिहारसंयमविधि आदि अनेक विषयोका वर्णन नवीनताको लिए हुए हैं।

साहित्यिक—यापनीयोंने विविध कोटिके विपुल साहित्यकी सर्जना की है। संस्कृत प्राकृत अपभ्रश तीनों ही भाषाओंमें इनका साहित्य प्राप्त होता है। कन्नड़ तेलगु तमिल भाषाओंमें भी इनका साहित्य होना चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्र जैन दर्शनकी महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें तत्त्व ज्ञान आचार कर्म भूगोल खगोल आदि समस्त महत्त्वपूर्ण विषयोका सक्षिप्त प्रतिपादन है। यह ग्रन्थरत्न दोनों ही सम्प्रदायोंका कण्ठहार बना हुआ है। दिगम्बर सम्प्रदायमे तो उसके पाठसे एक उपवासका फल माना गया है। इस अमर रचनाके लिए हम यापनीयोंके ऋणी हैं। मूलाचार मनि आचारका प्रतिपादक ग्रन्थ है जिसे वीरसेनाचार्यने आचाराग कहा है तथा वसुनन्दिने आचारागका सक्षिप्त रूप। भगवती आराधना समाधिमरण तथा मुनि आचारका एकसाथ प्रतिपादन करने वाली अनूठी कृति है। सिद्धसेन दिवाकरका सन्मतितक भी अपन क्षेत्रका अद्वितीय ग्रन्थ है। जो दोनो ही सम्प्रदायोमें दर्शनप्रभावक ग्रन्थके रूपम मान्य है। शाकटायनके दोनो प्रकरण तत्तत् विषयोका प्रतिपादन करन वाले आद्य और अपूव प्रकरण है।

रविषेणका पदमचरित जन समाजम उतना ही मान्य और प्रचलित है जितना कि हिन्दुओंम रामचरितमानस। यह जन कथा-साहित्यका प्राचीनतम ग्रंथ है। इसम पुराण और महाकाव्य दोनोके लक्षणोका समावेश है। भावात्मक व रसात्मक वर्णनोंके कारण यह एक उत्कृष्ट काव्य है। वाल्मीकि रामायणके अविश्वसनीय प्रसगोको विश्वसनीय बनानका प्रयत्न किया गया है।

समयकी दष्टिसे हरिवशपुराण दिगम्बर सम्प्रदायके सस्कृत-कथासाहित्यमे तीसरा ग्रथ ह। पद्मचरितके पश्चात दूसरा क्रमाक जटासिहनन्दिके वरागचरितका है। इस प्रकार दिगम्बरोका ललित साहित्य भी प्राय यापनीयों द्वारा अभिवृद्ध हुआ है। हरिवशपुराणकी विशषता य है कि इसमे आचाय जिनसेनन अपने समय-की गुर्वावलि दी ह। यह भी उत्तम कान्यिका साहित्यिक ग्रन्थ ह।

पुन्नाटसघीय हरिषेणका बहत्कथाकोष भी अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। यह सबसे प्राचीन और परिमाणमे बडा है। इसमे कुल एक सौ सत्तावन कथाए हैं। इनका उद्देश्य आराधनाका मह व बताना है। अन्य जन संस्कृत-ग्रन्थोकी भाति यहा भी देशी शब्दोका सस्कृतम प्रयोग हुआ है। जसे पपा विकुर्वणा आदि।

ललित वाङमयमे स्वयभकी अपभ्रशकी कृतिया हमें यापनीय कृतियोंके रूपम उपलब्ध है। इन्होंने अपभ्रशकी काव्यधाराको अपनी प्रतिभा द्वारा वगवती बनाया है। कवित्व और पाण्डित्य दोनों ही स्वयभमें है। भक्तिकी तन्मयताके कारण इनके प्रबन्धमें गीत-तत्त्व प्राप्त होते हैं। उच्चकोटिके भाषा कवियोमें उनका प्रमुख स्थान ह। छन्दचडामणि कविराजधवल आदि उनके विरुद थे। वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। व्याकरण काव्य शास्त्र छन्द और धर्म सभी शास्त्रोंका उन्होंने अध्ययन किया ह। परवर्ती कथा प्रबन्धोको इन्होने प्रभावित किया है।

स्वयंभ युगकी अपभ्रश-कविताके विवेचनकी दृष्टिसे स्वयम्भूच्छन्दका बहुत

महत्त्व है। इन्होंने अनेक पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियोंके पद्य इसमें उद्धृत किये हैं। उन कवियोंकी विविध काव्यवस्तुओंका तथा विविध रसोंका संग्रह है। प्राकृत तथा अपभ्रंश दोनों ही छन्दोंका इसमें संग्रह है। हेमचन्द्रने उन्हें छन्दशास्त्रके महान् आचार्योंमे रखा है। राजशेखर अपने छन्द शास्त्रकी रचनामें उनके ऋणी हैं।

पाल्यकीर्ति अपरनाम शाकटायनके व्याकरणको भी जैन समाजमें बहुत आदर प्राप्त रहा है। स्वोपज्ञ अमोघवृत्तिके उपरान्त भी इसपर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। प्राचीन शाकटायन एक महान वैयाकरण थे इनके व्याकरणको भी उसी भांति महत्त्व प्रदान करनेकी दृष्टि से इन्हे शाकटायनको उपाधिसे विभूषित किया गया है।

सामाजिक सांस्कृतिक—यापनीयोका उपलब्ध अधिकांश साहित्य दार्शनिक और आचारात्मक साहित्य है। इसमे जन-जीवनके प्रतिबिम्बनका अवसर नही है इस दृष्टिसे हरिवंशपुराण पद्मचरित तथा स्वयंभूके काव्योमे ही तत्कालीन समाज व संस्कृतिकी झलक देखनेको मिलती है।

ऐतिहासिक—यापनीय संघके साधओका वर्चस्व एवं प्रभुत्व धारवाड बेलगाव कोल्हापुर और गुलवर्गा आदि जिलोके क्षेत्रोमे अत्यधिक था। आन्ध्र तथा तमिलनाडुमें भी इनका कुछ प्रभाव था। श्रवणबेलगोलमे इनका पीठ कभी नही रहा। कर्नाटकके उत्तर भागमे ही इनका प्रभाव था। परवर्ती कालमे यापनीय साधु भी अन्य दिगम्बर सम्प्रदायो की भांति मंदिर तथा मंस्थाओसे सम्बद्ध होते गये थे।

यापनीयोका प्रभाव विशिष्ट राजवंशों तथा व्यक्तियोपर था इन वंशोंने इन्हें दानादि दिये हैं। कदम्ब राष्ट्रकूट शिलाहार चालुक्य गंग आदि राजवंशों द्वारा यह संघ मान्य रहा है। कागवाडमें (वि सं १४५१) के शिलालेखमें यापनीय संघके धर्मकीर्ति और नागचन्द्रके समाधिलेखोका उल्लेख हैं। इनके गुरु नेमिचन्द्रको तुलव राज्यस्थापनाचार्यकी उपाधि प्राप्त थी। यह इस बात का द्योतक है कि इन्होंने राज्यकी स्थापनामे योगदान दिया है। यापनीय साधु राजाओंके उत्साहको संवर्धित कर उन्हें राज्य स्थापनाके लिए नैतिक बल प्रदान करते रहे होंगे। कदम्बके दानपत्रके अनुसार आचार्य अर्ककीर्तिने कुन्निगलके शासक विक्रमादित्यका शनिग्रहके दुष्प्रभावसे उपचार किया था।

गणभेद नामक कन्नड पाण्डुलिपिके अनुसार आधुनिक कोप्बल (कोप्पण) इनका प्रमुख पीठ था। तथा ये कर्नाटक और उसके आस-पास बहुत प्रसिद्ध और प्रभावी थे।

ऐतिहासिक लेखो विवरणो एवं साहित्यिक उल्लेखोसे यह प्रमाणित हो जाता है कि यापनीय दिगम्बरोंके आस-पास रहा करते थे। यापनीयोंके कुछ मंदिर तथा मूर्तियां आज भी दक्षिण भारतमें दिगम्बरों द्वारा पूजी जाती हैं।

वर्तमानकालमे न तो मुक्ति ही है और न केवली ही हैं अतः केवलिभुक्ति तथा

स्त्रीमुक्ति केवल विद्वानोंकी चर्चाका विषय मात्र रह गये हैं। जनसाधारणपर इन सिद्धान्तोंकी मान्यता/अमान्यताका विशेष प्रभाव नहीं होता। यही कारण है कि यापनीय और दिगम्बर एक साथ रहते हुए एकाकार हो गये जान पड़ते हैं। इस एकीकरणके प्रमुख दो कारण हो सकते हैं एक यापनीयोंकी उदारदृष्टि तथा दूसरा उनकी संख्यामें अपेक्षाकृत अल्पता। यही कारण है कि भगवती आराधना विजयोदया तथा पद्मचरित्र आदि ग्रन्थोंमें कहीं भी हम इन सिद्धान्तोंकी स्पष्ट चर्चा नहीं पाते हैं। धीरे-धीरे कालान्तरमें यह चर्चा और भी कम होती गई होगी। साथ ही संख्यामें अल्प होनेके कारण दिगम्बर सम्प्रदायका वचस्व इन्होंने स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि यापनीय साधु श्रावक व साहित्य दिगम्बरोमें पूर्णत अन्तर्लीन हो गय हैं और अब उनका नाम शष ही रहा ह।

यापनीयोने दिगम्बर साहित्यको भी पर्याप्त मात्रामें प्रभावित किया है। पं आशाधरजी के ग्रन्थ इसके उदाहरण स्वरूप उल्लेखनीय हैं। कर्नाटकस्थ दिगम्बरोंको यापनीय विचारधाराने प्रभावित किया है यह कहनेके लिए हम चामुण्डरायकृत चारित्रसारसे ही कुछ उदाहरण ले सकत ह।

१ दिगम्बर साधु श्रावकको धमवृद्धि कहकर आशीर्वाद दिया करते हैं जबकि यापनीय साधु धर्मलाभ कहा करते थे। चारित्रसारम एक मुनिको धर्मलाभ देते हुए दिखाया गया है।[1]

२ सम्यक्त्वके आठ अंगोमें उपगहनके स्थानपर उपबृहण अगका उल्लेख है। विजयोदया टीकाकारने सर्वत्र उपगूहनके स्थानपर उपबृहण अग ही बतलाया है।[2]

३ सम्यक्त्वके अतिचारोम विचिकित्साका अथ दिगम्बर परम्परामें साधके शरीर में अथवा आत्मिक गुणोमे ग्लानि करना माना गया है। जबकि यापनीय व श्वताम्बर परम्परामें मतिविप्लुति को विचिकित्सा माना गया है।

चामुण्डरायने भी दोनोही अथ किये हैं— शरीराद्यशुचित्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासकल्पापनयोऽथवाहत्प्रवचन इदमयुक्त घोर कष्ट नचेदिद सर्वमुपपन्नमित्य शुभभावनानिरासो विचिकित्साविरह।[3]

निष्कर्ष यह है कि यापनीय सम्प्रदायन सद्धान्तिक साहित्यिक सास्कृतिक आदि विपुल साहित्यकी रचनाकर जैन साहित्यको गौरवान्वित किया है। साथ ही अपनी उदार विचारधारा उत्कृष्ट ज्ञान और उत्तम चारित्रके द्वारा जैन सस्कृतिको प्रसृत किया है। उनके इस प्रदेयके लिए जैन संस्कृति उनकी ऋणी है।

●

---

१ यथा च विन्ध्य-मलय कुटजवने किरातमुख्य खदिरसार समाधिगुप्तमुनि दृष्ट्वा प्रणता। तस्म धर्मलाभ इत्युक्ते श्रावकाचारसग्रह भाग १ में संग्रहीत प २५२। २ श्रावकाचार भाग १ पृ २३६।

३ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र ७/८१ पृ ३२९।